आयुर्वेद दर्शन

—आचार्य राजकुमार जैन

पुस्तक लौटाने की तिथि नीचे अङ्कित है। इस तिथि को पुस्तक न लौटने पर ५ पैसे प्रति दिवस अतिरिक्त दिनों का अर्थ-दण्ड लगाया जायगा।

२०००-१०-६४।

"PRESENTED BY THE MINISTRY OF EDUCATION & SOCIAL WELFARE, GOVERNMENT OF INDIA"

आयुर्वेद दर्शन

लेखक

आचार्य राजकुमार जैन

एम.ए. (हिन्दी-संस्कृत), एच.पी.ए., दर्शनायुर्वेदाचार्य,
साहित्यायुर्वेद शास्त्री, साहित्यायुर्वेदरत्न.

भूतपूर्व प्राचार्य
श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद चिकित्सा महाविद्यालय, उज्जैन

टेक्नीकल आफीसर (आयुर्वेद)
भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली-55

प्राक्कथन

पद्मभूषण वैद्यरत्न पं० शिवशर्मा

प्रकाशक

अनेकान्त प्रकाशन

तिलक आयुर्वेदिक फार्मेसी, इटारसी (म० प्र०)

प्रकाशक :

अनेकान्त प्रकाशन
तिलक आयुर्वेदिक फार्मेसी,
इटारसी (म० प्र०)

* **प्रथम संस्करण** : जनवरी, १९७४

* **मूल्य** : साढ़े बारह रुपया मात्र

पुस्तक प्राप्ति स्थान

नवजीवन औषधालय
५, अंकपात मार्ग,
उज्जैन (म०प्र०)

एस० भट्टाचार्य एण्ड कम्पनी
१२३, छोटी ग्वाल टोली, स्टेशन रोड,
इन्दौर (म०प्र०)

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन, पोस्ट बाक्स ८,
वाराणसी-२ (उ०प्र०)

मुद्रक :

राजकिशोर परिहर)
संचालक, सुषमा मुद्रणालय, उज्जैन

आनन्द प्रिंटर्स
करौलबाग, नई दिल्ली-५

समर्पण

जिन्होंने पूर्ण निष्ठा के साथ आयुर्वेद की मूक सेवा में
अपने जीवन के ७४ वर्ष लगा दिए और जिन के
शुभाशीर्वाद व प्रेरणा से मैं अपनी इस कृति को
मूर्त्तरूप देने में सफल हो सका हूं, उन पूज्य
पिता श्री के कर-कमलों में अत्यन्त श्रद्धा
एवं विनय के साथ मेरे तुच्छ प्रयास
का यह सुवासित पुष्प ।

प्राक्कथन

सन् १९२८ में (भारत विभाजन से लगभग २० वर्ष पूर्व) लाहौर ओरयॅण्टल कान्फ्रेन्स का एक महाधिवेशन हुआ था। उन दिनों मैं श्रीमद् दयानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय, लाहौर में कायचिकित्सा का प्राध्यापक था। महाविद्यालय के प्राचार्य तथा प्रबन्धकारिणी के आदेश पर उस संस्था की ओर से उस महाधिवेशन में मैंने भी भाग लिया था। वहीं पहली बार यह चर्चा सुनी कि चरक ने जिस ढंग से चरक संहिता में सांख्य का प्रतिपादन किया है वह सांख्य दर्शन अथवा सांख्यकारिका का शतप्रतिशत अनुकरण नहीं, एक स्वतन्त्र सांख्य का स्वरूप है। इसका यह अर्थ नहीं कि चरक ने एक नवीन दर्शन का निर्माण कर दिया, क्योंकि उसका कोई भी वाक्य सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों का विरोध अथवा खण्डन नहीं करता। जो भी थोड़ा वहुत परिवर्तन कहीं हुआ है उसका लक्ष्य आयुर्वेद के अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए एक सुविधाजनक तथा अनुकूल दार्शनिक नींव डालना है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक आचार्य राजकुमार जैन केवल सांख्य के क्षेत्र में ही नहीं, सम्पूर्ण दार्शनिक क्षेत्र में आयुर्वेद के दृष्टिकोण को स्वतन्त्र मानते हैं।

मैं लेखक के दृष्टिकोण से सहमत हूँ। आत्मा, मन और शरीर का काल-द्रव्य के साथ संयोग होने पर आयु का आरम्भ होता है और वियोग पर अन्त। इस संयोग-वियोग के वीच का अन्तर आयु का प्रमाण है। इस अवधि में मनुष्य को प्राकृतावस्था में रखना आयुर्वेद का उद्देश्य है। परन्तु आयुर्वेद ने जन्म और मरण की भी रोगों में ही गणना की है—स्वाभाविक रोगों में। आयुर्वेद का यह प्रसंग उन अंशों में से है जिनके कारण यह शास्त्र अन्य चिकित्सा प्रणालियों से अधिक भिन्न, अधिक व्यापक तथा सम्पूर्ण समझा जाता है। इसी कारण से इस प्रणाली को दर्शनशास्त्र की भूमिका धारण कर प्राक् चैकित्सिक विज्ञान का स्वरूप भी स्वयं ही ग्रहण करना पड़ता है।

इस भूमिका में षड्दर्शनों की पृष्ठभूमिका का पूर्ण सम्मान रखते हुए उनके आधारभूत सिद्धान्तों के साथ एक व्यापक जीवनशास्त्र की क्रियात्मक आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए आयुर्वेद के प्रवर्त्तकों ने इस शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का एक उपादेय तथा वांछनीय सामंजस्य बिठाया है। यही आयुर्वेद दर्शन है।

विद्वान लेखक ने इस महत्वपूर्ण विषय को सरल सुव्यवस्थित तथा सुग्रथित पाठ के रूप में उपस्थित किया है। प्रस्तुत पुस्तक आयुर्वेद के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिए तथा साधारण अध्ययनशील शास्त्रप्रेमी व्यक्तियों के लिए उपादेय तथा शिक्षाप्रद सिद्ध होगी।

—शिव शर्म्मा

"धन्वन्तरि"
बी-४/५३ सफदरजंग एन्क्लेव,
नई दिल्ली

समीक्षा

आचार्य राजकुमार जैन के "आयुर्वेद दर्शन" का मैंने न केवल दर्शन ही किया अपितु अध्ययन भी। २४० पृष्ठ की इस रचना में विद्वान लेखक ने चरक प्रभृति प्राचीन कृतियों में यथास्थान उल्लिखित दार्शनिक चर्चा पर प्रचुर प्रकाश डाला है। आयुर्वेद का दार्शनिक दृष्टिकोण कपिल और कणाद के चिन्तन से प्रभावित रहा है, अतः जैन महोदय ने सांख्य और वैशेषिक दर्शनों की प्रक्रिया को अपने इस अनुसन्धानात्मक ग्रंथ में उपयोगानुकूल निरूपण किया है। ग्रंथ क्या है—गागर में सागर भरने का सफल एवं श्लाध्य प्रयत्न है जिसकी आशा किसी संस्कृत-साहित्य, दर्शन और आयुर्वेद में निष्णात लेखक से ही की जा सकती थी।

आयुर्वेद के अध्येताओं के लिए परम उपयोगी इस ग्रन्थ का निर्माण करने क लिए आचार्य राजकुमार जैन हमारे हार्दिक साधुवाद के पात्र हैं।

—आशुतोष मजूमदार

राष्ट्रपति के मानद आयुर्वेद चिकित्सक

मानद डायरेक्टर,

एम० एम० एल० सेन्टर फार रूमेटिक डिसीजेज

आत्म निवेदन–

यह एक सुविदित तथ्य है कि आयुर्वेद के विभिन्न विषयों का ज्ञान उसके मौलिक सिद्धांतों द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत ही उसका आधारभूत विज्ञान है जिसके अभाव में आयुर्वेद का ज्ञान उसी प्रकार सम्भव नहीं है जिस प्रकार नींव के बिना किसी भवन का निर्माण सम्भव नहीं है। अतः आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत आयुर्वेद के ज्ञान के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं। आयुर्वेद के उन मौलिक सिद्धांतों को दो श्रेणी में रखा जा सकता है। एक तो वे जिन्हें दार्शनिक आधार प्राप्त है। अर्थात् दर्शन शास्त्र की दृष्टि में जिनकी विवेचना की गई है और आयुर्वेद के कलेवर में जिन्हें आवृत किया गया है। दूसरे वे जिन्हें चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से विशिष्ट महत्वपूर्ण माना गया है और जो "स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य च विकारप्रशमनम्" इस उद्देश्य की प्राप्ति एवं पूर्ति में सहायक होते हैं।

वर्तमान शताब्दी में जो नवीनतम आयुर्वेद साहित्य का प्रणयन हुआ है उसमें आयुर्वेद के सभी अंगों से सम्बधित ग्रन्थों का विर्माण विद्वान् लेखकों ने किया है। दार्शनिक आधार प्राप्त आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों को अधिकृत कर भी विद्वानों ने ग्रन्थ रचना की है और इस विषय को 'पदार्थ विज्ञान' की संज्ञा से व्यवहृत किया है। आययुर्वेद साहित्य में आज काल 'पदार्थ विज्ञान' पर लिखी गई पुस्तकों की संख्या पर्याप्त है। अतः यह कहना समीचीत होगा कि विद्वानों ने इस विषय में पर्याप्त विचार-मन्थन किया है। उसके परिणाम स्वरूप जो मुक्ता-कण उन्हें उपलब्ध हुए उन्हें लिपिबद्ध कर निश्चय ही आयुर्वेद जगत् का महान् उपकार किया है।

गत आठ दस वर्षों के अध्यापन काल में मुझे पदार्थ विज्ञान विषय के अध्यापन में यह अनुभव हुआ कि जो छात्र आयुर्वेद पढ़ने के लिए आयुर्वेद विद्यालयों मे प्रवेश लेते हैं वे अधिकांशतः विज्ञान विषयों का अध्ययन किए हुए रहते हैं और उन्हें 'पदार्थ विज्ञान' विषय को समझने में बड़ी कठिनाई होती है। प्रायः सभी जगह पदार्थ विज्ञान का अध्ययन प्रथम वर्ष में ही कराया जाता है। अतः विद्यार्थियों की कठिनाई का अनुभव करते हुए मुझे भी इस विषय में पुस्तक लिखने की प्रेरणा हुई। मैंने सोचा कि मैं भी एक ऐसी पुस्तक लिखूं जिसमें विद्यार्थियों की कठिनाई दूर की जा सके। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी अनुभव किया कि पदार्थ विज्ञान में जिन विषयों का प्रतिपादन किया जाता है वे विषय पदार्थ विज्ञान

शीर्षक को व्याप्त नहीं कर पाते। उस दृष्टि से यह एक सीमित विषय क्षेत्र को ही व्याप्त करता है। जबकि इसमें अधिक विषय का प्रतिपादन किया जाता है। अतः मेरी दृष्टि से दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जाने के कारण इस विषय का नामकरण "आयुर्वेद दर्शन" अधिक समीचीन है यह नामकरण अधिक विषय को व्याप्त करता है इसी दृष्टि से मैंने प्रस्तुत पुस्तक का नामकरण "आयुर्वेद दर्शन" किया है। उसके अन्तर्गत विषय वस्तु का विभाजन मैंने चार भागों में किया है। यथा- पदार्थ विज्ञान-प्रमाण विज्ञान-तत्व विज्ञान-इन्द्रिय विज्ञान। आशा है इस विषय विभाजन से छात्रों को समझने में सुविधा रहेगी और इससे इस विषय की दुरूहता कम होगी। छात्रगण इस विषय को सुगमता पूर्वक हृदयंगम कर अधिकाधिक रूप से लाभान्वित हो सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में मैंने जिन विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली है उनका मैं हृदय से अभारी हूं। इसके अतिरिक्त मेरे शुभ चिंतकों द्वारा मेरी पुस्तक रचना के लिए जो आशीर्वाद मुझे प्राप्त हुआ है उसी का परिणाम है कि यह पुस्तक आज पाठकों के कर कमलों में पहुंच सकी है। मेरे अन्य सहयोगियों के द्वारा जो हार्दिक सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है उनका मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा। सुषमा मुद्रणालय के संचालक श्री राजकिशोरजी परिहार का मैं सदैव ऋणी रहूँगा जिन्होंने अपने कठोर परिश्रम से अपने प्रेस में प्रस्तुत पुस्तक के मुद्रण का कार्य अल्पावधि में ही सम्पन्न किया। अन्त में मैं उन सभी सज्जनों का आभार मानता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में मुझे सहयोग प्रदान किया है।
मैं श्री पं. अनन्त राज जी वैद्य आयुर्वेदाचार्य, न्यायतीर्थ, के प्रति भी कृतज्ञ हूं जिनके आशीर्वाद से मैं इस कार्य को पूर्ण करने में सफल हो सका हूँ।

मकर संक्रांति

विनयावनत—

जनवरी १९७३

राजकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय—द्रव्य निरूपण

तृतीय अध्याय—गुण निरूपण

दशम अध्याय—प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण

द्वादश अध्याय—आप्तोपदेश एवं युक्ति प्रमाण

त्रयोदश अध्याय

चतुर्दश अध्याय

पंचदश अध्याय

षोडश अध्याय

सप्तदश अध्याय

प्रथम अध्याय

मंगलाचरण

दीर्घायुष्य विधत्ते सुखमपि परमं यो जनानामजस्रं
रोगाणां जालपाशं सपदिमननतः साग्रहं यश्छिनत्ति ।
ध्वस्ताधिव्याधिवर्गं विहतमलचयं सर्ववंद्यं नुमस्त-
मात्रेयं वाऽग्निवेशं चरक मुनिवरं देव धन्वन्तरिं वा ।।

अर्थात् जो मनुष्य के दीर्घायुष्य को करता है, जो लोगों को सतत रूपेण परम सुख प्रदान करता है, एक बार मनन करने मात्र से जो रोगों के जाल रूपी पाश को आहग्रपूर्वक काट देता है, जिसने समस्त आधि व्याधि वर्ग को नष्ट कर दिया है, दोष समूह को नष्ट करने वाले, समस्त प्राणियों द्वारा वन्दनीय महर्षि आत्रेय अथवा महर्षि अग्निवेश, महर्षि चरक या भगवान धन्वन्तरि को नमस्कार है ।

विषय प्रवेश

जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है तब ही से प्राणियों को सुख और दुख की अनुभूति होने लगी थी । मनुष्यों की अनुभूति में सुख उसके लिए अनुकूल प्रतीति एवं हितकारी प्रवृति थी । इसके बिपरीत दुख उसके लिए प्रतिकूल प्रतीति एवं अश्रेयष्कर प्रवृत्ति थी । अतः प्रारम्भ से ही मनुष्य सुख की प्राप्ति एवं सतत उसकी स्थिति तथा दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता रहा । मनुष्यों के इस स्वाभाविक प्रयास में उसे सफलता दिखाने के लिए इस भूमण्डल पर आयुर्वेद का अवतरण हुआ । क्योंकि मनुष्यों की तत्कालीन अनुकूल प्रतीति जनित सुख (आरोग्य) की उपलब्धि एवं प्रतिकूल प्रतीति जनित दुख (विकार) की निवृत्ति के लिए आयुर्वेद ही समर्थ था । मूलतः आयुर्वेद का प्रयोजन भी यही है—"स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं, आतुरस्य विकार प्रशमनम्" अर्थात् स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रुग्ण व्यक्तियों के विकार का प्रशमन करना ।

सम्पूर्ण आयुर्वेद की आधार शिला उसके मूलभूत सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित

है । उन मौलिक सिद्धान्तों के अध्ययन के बिना आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है । अतः सर्वप्रथम उनका अध्ययन एवं ज्ञान नितान्त अपेक्षित है । यद्यपि आयुर्वेद के समस्त मौलिक सिद्धान्त एवं सम्पूर्ण आयुर्वेद का आधारभूत विज्ञान आयुर्वेद की निजी चिन्तनधारा, उसका अपना प्रयोजन, एवं उसके स्वकीय दृष्टिकोण पर ही आधारित है तथापि वे सिद्धान्त और वह विज्ञान भारतीय दर्शनशास्त्र एवं तात्विक विषयों से अनुप्राणित हैं । उन सिद्धान्तों में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समावेश इस तथ्य की पुष्टि करते हैं । भारतीय दर्शनशास्त्र की चिन्तनधारा, अध्ययन पद्धति, मनन शैली एवं अनुशीलन परम्परा का उसकी समकालीन विद्याओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । यही कारण है कि आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त भी दर्शनशास्त्र और दार्शनिक तत्वों से पर्याप्त प्रभावित हैं । इसका एक कारण यह भी है कि आर्य-काल में जिन जिन विषयों एवं विद्याओं का अध्ययन तथा अध्यापन हुआ है तथा जिन गुरुओं ने आयुर्वेद आदि विद्याओं की शिक्षा दीक्षा दी हैं वे स्वयं आयुर्वेद के साथ साथ दर्शनशास्त्र एवं अन्य विषयों के भी ज्ञाता, कर्ता एवं प्रवक्ता थे । अतः उनके द्वारा आयुर्वेदीय भौतिक सिद्धान्तों का विवेचन दार्शनिक सिद्धान्त से प्रभावित होना स्वाभाविक है ।

दर्शन और आयुर्वेद

दर्शन का सामान्य अर्थ होता है देखना । 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्'' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय वह दर्शन कहलाता है । सामान्यतः नेत्रों के माध्यम से चक्षु इन्द्रिय द्वारा जो क्रिया प्रतिपादित की जाती है वह दर्शन शब्द से अभिप्रेत है । वस्तुओं के स्वरूप को उसके तात्विक अथवा वास्तविक रूप मे देखना ही दर्शन कहलाता है । वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप ज्ञान को ही दर्शन कहते हैं । दर्शन का मुख्य प्रयोजन आध्यात्मिक तत्वों की विवेचना कर उसके यथार्थ स्वरूप के रहस्य का ज्ञानोपार्जन कराना है । आध्यात्मिक तत्वों के अतिरिक्त अन्य तत्वों का विवेचन एवं दिग्दर्शन कराना भी दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है । तत्व चिन्तन की उच्चात्युच्च कल्पना, विचार की सूक्ष्मता, विविध आध्यात्मिक विषयों के अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन की गम्भीरता तथा प्रत्येक तत्व की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना ही दर्शन का आधार है ।

सृष्टि के आदि काल से ही बौद्धिक चिन्तन एवं आत्मानुशीलन में एकाग्र चित्तवृत्ति द्वारा समस्त प्रवृत्तियों को अन्तर्मुख करने वाले ऋषि महर्षियों के हृदय में सृष्टि के प्रति बाल सुलभ जिज्ञासा एवं औत्सुक्य वृत्ति प्रादुर्भूत हुई । इस सृष्टि तथा उससे सम्बन्धित विविध भावों के विषय में अनेक प्रश्न उन ऋषियों के अन्तःकरण में समुत्पन्न हुए । उन प्रश्नों का समाधान जिन ग्रन्थों में विशेषतः किया गया है वे ग्रन्थ

ही दर्शन शास्त्र कहलाते हैं। दर्शनशास्त्र एक वैज्ञानिक शास्त्र है, जो नित्यप्रति अनेक तत्वों के विषय में अन्वेषण कर गम्भीरता पूर्वक उनका चिन्तन करता है, उससे सम्बन्धित प्रत्येक पहलू का विचार कर उसके रहस्य का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उसे हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

यह सृष्टि क्या है ? इसका प्रयोजन क्या है ? इसकी उत्पत्ति कब हुई ? इसका सृष्टा कौन है ? सृष्टि करने का उद्देश्य क्या था ? आत्मा क्या है ? परमात्मा क्या है ? हम कौन हैं ? क्या हैं ? और कहां से आये हैं ? हमारा क्या कर्तव्य है ? और जीवन का अन्तिम ध्येय क्या है ? इत्यादि प्रश्नों का समुचित समाधानात्मक उत्तर हमें दर्शनशास्त्र ही दे सकता है। क्योंकि उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान करना ही दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तत्व ज्ञान द्वारा परम सुख या मोक्ष प्राप्ति का उपाय बतलाना दर्शनशास्त्र की मौलिक विशेषता है।

दर्शनों की संख्या और श्रेणी विभाजन

भारत में प्रचलित दर्शनों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

(१) आस्तिक दर्शन और (२) नास्तिक दर्शन।

आस्तिक दर्शन वह माना जाता है जो वेद मतावलम्बी है; वेदों में श्रद्धा व भक्ति रखता है, वेदों को अपौरुषेय एवं ईश्वरकृत मानता है तथा वेदों का अस्तित्व व प्रामाण्य स्वीकार करता है। एतद्विध वैदिक या वेदमतावलम्बी दर्शनों की संख्या छः है। यथा —गौतमकृत न्याय दर्शन, कणादिकृत वैशेषिक दर्शन, कपिलकृत सांख्य दर्शन, जैमिनीकृत मीमांसा दर्शन तथा व्यास कृत ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन। इन षड्विध दर्शनों का मूलस्रोत उपनिषद् हैं। इन दर्शनों (तत्व ज्ञान या तत्व चिन्तन के मूल शास्त्रों) का जन्म उपनिषदों से ही हुआ है—ऐसा विद्वानों का अभिमत है। दर्शन के बीज उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उपनिषद् वेद के भाग हैं। इन उपनिषदों की संख्या १०८ है। जिनमें से १० उपनिषद् ऋग्वेद सम्बन्धित हैं, १९ शुक्ल यजुर्वेद से, ३२ कृष्ण यजुर्वेद से, १६ सामवेद से और ३१ अथर्ववेद से सम्बन्धित हैं।

नास्तिक दर्शन वे समझे जाते हैं जो वेदों को ईश्वरकृत नहीं मानते। वे वेदों में श्रद्धा, भक्ति या विश्वास नहीं रखते। उनके मतानुसार वेद पौरुषेय हैं। नास्तिक समझे जाने वाले दर्शनों की संख्या तीन हैं। यथा—जैनदर्शन, बौद्ध दर्शन और चार्वाक दर्शन। इनमें चार्वाक दर्शन पूर्ण नास्तिक, अनात्मवादी, भौतिकवादी, एवं प्रत्यक्षवादी है। उसके मतानुसार आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि कुछ नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्ष है, वही सत्य है, अन्य कुछ नहीं है। अन्य दोनों (जैन व बौद्ध) दर्शन,

स्वयं को नास्तिक नहीं समझते । क्योंकि वे आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुनर्जन्मादि समस्त तत्वों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । उनके मतानुसार जो अनात्मवादी होता है वही नास्तिक कहलाता है । किन्तु उपर्युक्त दोनों दर्शनों को केवल वेदों को ही ईश्वरकृत (अपौरुषेय) न मानने तथा उनमें श्रद्धा व भक्ति न होने के कारण उन्हें नास्तिक माना गया है ।

आयुर्वेद से सम्बन्धित दर्शन

सामान्यत: सभी दर्शनों ने न्यूनाधिक रूप में आयुर्वेद और उसके सिद्धान्तों को प्रभावित किया है । क्योंकि आयुर्वेद के संहिता ग्रंथ ऐसे काल की देन हैं जब दर्शनों ने भारत में प्रचलित तत्कालीन समस्त विद्याओं को प्रभावित किया था । अत: आर्ष काल में दर्शन और आयुर्वेद का विकास समान रूपेण होने से तथा दोनों शास्त्रों का समान ज्ञान अर्जित करने वाले प्रवक्ताओं (ऋषिओं) द्वारा इनकी रचना किये जाने से दर्शन तथा दार्शनिक विचारों का पर्याप्त प्रभाव आयुर्वेद पर पड़ा है । तथापि सांख्य दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन के तात्विक विवेचन ने आयुर्वेद के सैद्धान्तिक पक्ष को विशेष रूप से प्रभावित किया है । कुछ विद्वानों के मतानुसार तो आयुर्वेद ने सांख्य दर्शन के कतिपय उपयोगी सिद्धान्तों को अविकल रूप से ग्रहण कर लिया है तथा उनका प्रतिपादन भी अपने शास्त्रों में उसी रूप में किया है । किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आयुर्वेद का कोई मौलिक दर्शन ही नहीं है तथा उसने अपने दार्शनिक पक्ष की परिपुष्टि के लिए सांख्य और वैशेषिक दर्शन (विशेष रूप से सांख्य दर्शन) को प्रमुख आधार बनाया है । इसके विपरीत आयुर्वेद का अपना स्वतन्त्र मौलिक दर्शन है तथा अपने सैद्धान्तिक विवेचन में कतिपय स्थलों पर न्यूनाधिक रूप में अन्य दर्शनों का भी आश्रय लिया है । इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आयुर्वेद में यत्र कुत्रचिद् भी दर्शनों के दार्शनिक सिद्धान्तों को अविकल रूप में ग्रहण की जो प्रतीति होती है वह दोनों की संज्ञाओं में समानता होने के कारण है । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि दर्शनशास्त्र और आयुर्वेद दोनों के ग्रन्थों में संज्ञाओं की समानता होने पर भी दर्शन ने एक ही पदार्थ के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादित किया है उसी के सम्बन्ध में आयुर्वेद ने अपने मूल प्रयोजन को दृष्टिगत रखते हुए अपने भिन्न मन्तव्य को भी व्यक्त किया है, जिससे स्थिति अधिक स्पष्ट हो गयी है तथा आयुर्वेद के दार्शनिक पक्ष की मौलिकता स्पष्टत: प्रतिभासित होती है ।

आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन

जो लोग यह सोचते हैं कि आयुर्वेद का अपना कोई स्वतन्त्र मौलिक दर्शन नहीं

है और वह सर्वथा अन्य दर्शनों पर आधारित है तो उनकी यह धारणा सर्वथा भ्रम मूलक एवं मिथ्या है । कुछ विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार अन्य दर्शनों में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन पदार्थों का दार्शनिक विवेचन किया गया है तथा इनके ज्ञान और सिद्धि के लिए प्रमाणों का आधार लिया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद में भी षट् पदार्थों का परिगणन, उनका स्वतन्त्र विवेचन तथा उनके ज्ञानार्जन एवं सिद्धि के लिए प्रमाणों का अवान्तर भेद सहित सांगोपांग वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त अन्य दर्शनों की भांति आयुर्वेद में भी सृष्टि के मूल तत्व प्रकृति, पुरुष एकादश इन्द्रियों, पंचतन्मात्राओं और पंचमहाभूतों का अविकल वर्णन किया गया है । इसके उत्तर में मेरा विनम्र निवेदन कि पदार्थ विज्ञान एवं सृष्टि विज्ञान का वर्णन प्रायः समस्त दर्शनों में प्रायः किया गया है । किन्तु आयुर्वेद में इनका वर्णन कुछ भिन्न रूप में भिन्न उद्देश्य के आधार पर है । अतः आयुर्वेदीय दर्शन कुछ अंशों में अन्य दर्शनों से पृथक् हो जाता है । अन्य दर्शनों में पदार्थ विज्ञान का वर्णन संसार के विविध विषयों के ज्ञान के लिए, सृष्टि के मूल तत्व प्रकृति-पुरुष का वर्णन संसार के विविध आध्यात्मिक तत्वों के ज्ञान के लिए तथा प्रमाण आदि का वर्णन संसार के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक विषयों की सिद्धि के लिए किया गया है । इसके विपरीत आयुर्वेदीय दर्शन में उपर्युक्त समस्त तत्वों का विवेचन रोग, रोगी, औषधि और चिकित्सा की सिद्धि के लिए किया गया है । आयुर्वेद का उद्देश्य अन्य दर्शनों से भिन्न है । अन्य दर्शन केवल आत्मा की मुक्ति या मोक्ष साधन के लिए ही प्रयत्नशील हैं तथा उसी के लिए अपने सिद्धान्तों एवं प्रमाणों द्वारा उसका मार्ग निर्देशन करते हैं । इसके विपरीत आयुर्वेद का उद्देश्य अन्य दर्शनों से सर्वथा भिन्न है । वह केवल स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा एवं आतुर (रोगी) मनुष्यों के विकार प्रशमन के लिए प्रयत्नशील रहता है और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति तथा रोग, रोगी, औषधि और चिकित्सा की सिद्धि के लिए उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । अतः आयुर्वेदीय दर्शन भी अन्य दर्शनों की भांति सर्वथा मौलिक एवं स्वतन्त्र दर्शन है ।

अयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान की उपयोगिता

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान आयुर्वेद का आधारभूत विज्ञान है । आयुर्वेद का सम्पूर्ण दार्शनिक पक्ष उसके पदार्थ विज्ञान पर ही आधारित है । इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के अन्य चिकित्सा आदि विषयक सिद्धान्त भी पदार्थ विज्ञान पर ही आधारित है । आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान के अध्ययन के बिना आयुर्वेद और उसके अन्य सिद्धान्तों का ज्ञान असंभावित है । जिस प्रकार आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के लिए उसके आधारभूत भौतिक विज्ञान (फिजिक्स), रसायन शास्त्र (केमिस्ट्री) और जीव विज्ञान (बायलाजी) का अध्ययन और ज्ञान नितान्त आवश्यक है उसी प्रकार भारतीय

चिकित्सा शास्त्र (आयुर्वेद) के अध्ययन और ज्ञानार्जन के लिए उसके आधारभूत पदार्थ विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान केवल चिकित्सा शास्त्र का ही आधारभूत नहीं है, अपितु यह आयुर्वेदीय रचना शारीर, क्रिया शारीर, द्रव्यगुण विज्ञान, स्वस्थवृत्त, रसायन तथा वाजीकरण के सिद्धान्तों की भी समुचित व्याख्या करता है। उसके अतिरिक्त रोग परीक्षा एवं रोगी परीक्षा के लिए भी समुचित मार्ग दर्शन करता है। चिकित्सा के लिए जो सिद्धान्त अपेक्षित हैं, उनका विवेचन भी आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञानान्तर्गत आ जाता है। उदाहरणार्थ "धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविहारै रभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति ह्रासतु विपरीतगुणैः विपरीतगुणभुयिष्ठैर्वाऽप्याहारविहारैरभ्यस्य मानैः" अर्थात् शरीर में स्थित धातुएं समान गुण वाले अथवा समान गुण की अधिकता वाले आहार के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होती हैं तथा विपरीत गुण वाले अथवा विपरीत गुणों की अधिकता वाले आहार विहार के सेवन से ह्रास को प्राप्त होती हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा का यह सिद्धान्त पूणतः पदार्थ विज्ञानीय सामान्य एवं विशेष सिद्धान्त पर आधारित है। क्योंकि सामान्य वृद्धि का और विशेष ह्रास का कारण होता है। इसी भांति पदार्थ विज्ञान के सिद्धान्त भी चिकित्सा व अन्य अंगों के लिए लागू होते हैं।

आयु ही जीवन है, आयु का ज्ञान ही आयुर्वेद है, अतः आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। इस दृष्टि से आयुर्वेद में पदार्थ विज्ञान का महत्व और भी अधिक है। क्योंकि पदार्थ विज्ञान के अन्तगत जिन विषयो एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे सब सामान्य जीवन मे प्रतिघटित होने वाले महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं। पदार्थ विज्ञान के अन्तर्गत की गई द्रव्य व्यवस्था के अनुसार संसार का प्रत्येक द्रव्य उसमें समाविष्ट हो जाता है। उन द्रव्यों में से अधिकांश द्रव्य जीवन को प्रभावित करते है। क्योंकि वे जीवन के लिए उपयोगी हैं और नित्य प्रति उनका व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार गुण और कर्म भी जीवन को प्रभावित करते हैं। क्योंकि गुण और कर्म प्रत्येक द्रव्य में अवश्य होते हैं। गुण और कर्म के कारण ही द्रव्य की उपयोगिता है। मान लीजिए हम दूध का उपयोग करते हैं। दूध एक द्रव्य है, उसमें शीत, द्रव, स्निग्ध आदि गुण तथा शरीर की पुष्टि करना, पित्त का शमन करना आदि कर्म होते हैं। इन्हीं गुण कर्मों के कारण दूध की उपयागिता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य हमारे सामान्य जीवन के लिए अथवा चिकित्सा के लिए उपयोगी हो सकता है। अतः आयुर्वेद के लिए इन से सम्बन्धित सिद्धान्तों का ज्ञान अपेक्षित है। जिसकी पूर्ति पूर्णतः पदार्थविज्ञान द्वारा हो जाती है।

पदार्थ का लक्षण

"पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थ इति पदार्थः" अर्थात् पद के अर्थ को दो पदों के अर्थ को अथवा तीन पद या उससे अधिक पदों के अर्थ को पदार्थ कहते हैं।

पद का अभिप्राय यहां शब्द से है। वर्ण (अक्षर) के समूह को शब्द कहते हैं। प्रत्येक पद या शब्द का भिन्न भिन्न अर्थ होता है। अतः अर्थ का ज्ञान कराने वाली अभिधा शक्ति से युक्त वर्णों के समूह को ही पद कहते हैं। जिस पद से जिस वस्तु का अर्थ प्रतीत होता है वही पदार्थ है। जैसे 'घट' 'पट' आदि। यहां 'घट' और 'पट' ये दोनों पद (शब्द) हैं। इन पदों का अर्थ क्रमशः घड़ा और कपड़ा है। अतः ये दोनों क्रमशः पदार्थ हैं। पदों (शब्दों) के समूह (वाक्य) से भी जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह पदार्थ कहलाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि घड़ा 'घट' पद का और कपड़ा 'पट' पद का अर्थ है, अतः जिस वस्तु के लिए पद या शब्द विशेष का प्रयोग किया जाता है वही पदार्थ कहलाता है।[1]

शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय भी पदार्थ कहलाता है। किसी ग्रंथ या शास्त्र को पढ़ने वाला व्यक्ति यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि अमुक ग्रंथ में क्या लिखा है? ग्रंथकार भी अपने ग्रंथ में किसी न किसी विषय का प्रतिपादन अवश्य करता है। इसके अतिरिक्त पढ़ने वाला व्यक्ति एवं अपने ग्रंथ में विषय का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथकार दोनों का लक्ष्य ऐसे विषय की ओर होता है जिसका संसार में किंचिन्मात्र भी अस्तित्व हो। अस्तित्वहीन वस्तु या विषय की कोई उपादेयता नहीं रहती। जैसे खर विषाण, आकाश कुसुम, बन्ध्या पुत्र आदि। ये ऐसे विषय हैं जिनका अस्तित्व न होने से इनकी कोई उपादेयता नहीं है। ऐसे विषय किसी ग्रंथ या शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय नहीं हो सकते और न ही ये विषय जानने के योग्य हैं। जब कोई व्यक्ति किसी विषय या वस्तु को जानने के लिए उत्सुक रहता है तो वह वस्तु या विषय प्रमेय या ज्ञेय कहलाता है। इसी प्रकार ग्रंथकार किसी वस्तु या विषय के संबंध में कुछ कहना चाहता है तो वह वस्तु या विषय कथन की अपेक्षा रखता है। अतः वह वस्तु या विषय अभिधेय कहलाता है। प्रमेय और अभिधेय वस्तु वही होती है जिसका संसार में कुछ अस्तित्व रहता है। अतः वह वस्तु या विषय जो अस्तित्ववान् हो, अभिधेय हो और प्रमेय हो पदार्थ कहलाता है। यही पदार्थ का सामान्य लक्षण है[2]।

१—(क) पदजन्यप्रतीतविषयत्वं पदार्थत्वम्।

(ख) पदार्थस्तु पदस्यार्थोऽभिधेयत्वादिरूच्यते।

२—"षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि"-प्रशस्तपादाचार्यः

पदार्थ विभाजन एव संख्या

पदार्थ को सामान्यतः दो भागों मे विभाजित किया गया है[३]—(१) भाव पदार्थ और (२)-अभाव पदार्थ।

भाव पदार्थ

आयुर्वेद में केवल भाव पदार्थ ही स्वीकार किए गए हैं। "भवन्ति सत्तामनुभवन्तीति भाव" अर्थात् जो सत्तावान् हो और जिसका अनुभव किया जा सके वही भाव है। ससार में ऐसे भाव पदार्थ असख्य हैं। किन्तु फिर भी आयुर्वेद में सुविधा की दृष्टि से मुख्य भाव पदार्थों की संख्या छः मानी गई है। यथा–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय[४]। शेष समस्त पदार्थों का समावेश इन्हीं षट् पदार्थों में हो जाता है। इन षट् पदार्थों से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की सत्ता नहीं है। आयुर्वेद के अतिरिक्त कुछ अन्य दर्शन भी उपर्युक्त षड्विध पदार्थ मानते हैं[५]।

अभाव पदाथ

भाव के विपरीत जिसका अभाव हो अर्थात् न तो जिसकी सत्ता हो और न ही जिसका अनुभव हो सकता हो वह अभाव पदार्थ कहलाता है। इसे असत् पदार्थ भी कहते हैं। यह चार प्रकार का होता हैं। यथा–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। आयुर्वेद में अभाव पदार्थ को नहीं माना गया है। किन्तु जो दर्शन अभाव को भी पृथक् पदार्थ मानते हैं उनके मतानुसार पदार्थों की संख्या सात हो जाती हैं[६]।

आयुर्वेद में यद्यपि एक स्थान पर सत् और असत् (भाव और अभाव) का उल्लेख किया गया है। किन्तु वह उल्लेख प्रसंगवशात् ही किया गया है, सिद्धान्त रूप में नहीं। यथा-द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च" च० सू० १/१७ अर्थात् इस संसार में समस्त वस्तुएं दो भागों में विभक्त हैं सत् और असत्।

इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा चुका है कि आयुर्वेद केवल भाव पदार्थान्तर्गत षट् पदार्थ ही मानता है। उसे सप्तम अभाव पदार्थ अभीष्ट नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि अभाव तो स्वतः सिद्ध है। अभाव से कोई कार्य नहीं होता। मानव शरीर में रोगोत्पत्ति भाव पदार्थ से ही होती है तथा उस रोग का उपचार भी भाव पदार्थ द्वारा ही सम्भावित है। जो वस्तु संसार में है ही नहीं अथवा संसार में

३—संक्षेपतः पदार्थों द्विविधः-भावोऽभावश्च।

४—सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म चासमवायं च तज्ज्ञात्वा ………॥
चरक संहिता, सूत्रस्थान १। २७

५—भावः षड्विधः द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायभेदात्।

६—द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः— तर्क संग्रह

जिसका अस्वित्व ही नहीं है उसे कैसे माना जा सकता है ? अतः आयुर्वेद में अभाव को स्वीकार नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त अभाव में कोई कारण नहीं होता। इसके विपरीत भाव पदार्थ सदा सकारण होता है, साधर्म्य और वैधर्म्य भाव की कल्पना भी केवल भाव पदार्थों में ही संभव है। अभाव में इस साधर्म्य वैधर्म्य भाव की कल्पना असंभावित है। अतः ऐसी स्थिति में अभाव को पदार्थ न मानना ही उचित एवं युक्ति संगत है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि आयुर्वेद में महर्षि चरक ने एक स्थल पर जगत् के पदार्थों को सत् और असत् रूप में स्वीकार कर पदार्थ के द्वैविध्य का उल्लेख किया है[1]। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आयुर्वेद के आचार्यों ने अभाव का नितान्त निषेध नहीं किया है। उन्होंने सृष्टि में अभावात्मक पदार्थों को स्वीकार किया है। किन्तु आयुर्वेद में उन अभावात्मक पदार्थों का प्रयोजन एवं उपयोगिता न होने से आयुर्वेदीय पदार्थ परिगणन में केवल षट् भाव पदार्थों का ही निरूपण किया गया है। आयुर्वेद के अध्येता एवं भावी चिकित्सक को रोगी की उत्तम चिकित्सा के लिए प्रधानतः स्थूल भावात्मक औषधि द्रव्यों (पदार्थों) का ही आश्रय लेना पड़ता है। अतः उसका प्रत्यक्ष संबंध भाव पदार्थ से होने के कारण अभाव उसके लिए अभीष्ट एवं प्रतिपाद्य नहीं है।

---

१ सदसदत्वाद्विधा भिन्नः सप्तधापरिकीर्तितः। —चरक

द्वितीय अध्याय

द्रव्य निरूपण

द्रव्य का लक्षण

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् ।
तद्द्रव्यम् ———— चरकसंहिता सूत्रस्थान १/१५
दृव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत् समवायिकारणम् ।- सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ४०/३
"गुणवत्वं द्रव्यत्वजातिमत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्,,

कर्म (क्रिया) और गुण जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हों तथा जो द्रव्यों, गुणों और कर्मों के प्रति समवायि कारण हो वह द्रव्य कहलाता है ।

अथवा जो गुण तथा द्रव्यत्व जाति से युक्त होता है वह द्रव्य कहलाता है। यही द्रव्य का सामान्य लक्षण है ।

द्रव्यके उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार द्रव्य में निम्न तीन बातें आवश्यक रुप से विद्यमान होना चाहिये—गुण, कर्म और द्रव्यत्व जाति । इन तीनों की स्थिति द्रव्य में नित्य एवं स्थायी रुपेण होती है। अर्थात् गुण, कर्म और द्रव्यत्व जाति द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहती है ।

संसार में द्रव्यों अथवा पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध दो प्रकार का होता है एक नित्य सम्बन्ध और दूसरा अनित्य सम्बन्ध । प्रथम नित्य सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है और दूसरा अनित्य सम्बन्ध सयोग सम्बन्ध कहलाता है प्रथम प्रकार के नित्य समवाय सम्बन्ध में कार्य द्रव्य अपने कारण द्रव्य की अपेक्षा रखता है अथवा आधार द्रव्य अपने आधेय द्रव्य की अपेक्षा रखता है । इसमें दोनों ही द्रव्यों का पारस्परिक जो सम्बन्ध होता है वह स्थायी होता है । इसीलिये उसे नित्य माना गया है । द्रव्य का अपने अवयवों, गुणों और कर्मों से जो सम्बन्ध होता है वह स्थायी होने से नित्य होता है । अर्थात् जब तक उस द्रव्य की स्थिति बनी रहती है । तब तक उसका अपने अवयवों गुणों व कर्मों से सम्बन्ध भी बना रहता है । यही उसका स्थायित्व व नित्यत्व है । द्रव्य का अपने गुणों व कर्मों के साथ एतद्विध सम्बन्ध ही समवाय सम्बन्ध कहलाता है । इसी बातको अन्य प्रकारसे कहा जाय तो हम कहसकते है कि दो या दो से

अधिक पदार्थों या द्रव्यों का इस प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध जो परस्पर मिले हुए पदार्थों को उस की अपनी स्थिति(अस्तित्व) पर्यन्त कभी विच्छेदित विघटित या पृथक् न कर सके, नित्य ही उन का सम्बन्ध बना रहे समवाय सम्बन्ध कहलाता है। जैसे तन्तु और पट, मिट्टी और घट। इसी प्रकार द्रव्य का अपने अवयवों, गुणों और कर्मों के साथ जो अविच्छिन्नात्मक या अविनाभाव सम्बन्ध होता है वह समवाय सम्बन्ध कहलाता है। इसी प्रकार द्रव्यों या पदार्थों का परस्पर होने वाला अल्पकालिक एवं अस्थायी सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध कहलाता है। यह अनित्य होता है। अर्थात् कुछ काल पश्चात् उन द्रव्यों या पदार्थों का सम्बन्ध विघटित हो जाता है और वे द्रव्य अलग अलग हो जाते हैं। जैसे घोड़ा और घुड़सवार, वस्त्र और जुलाहा घट और कुम्भकार आदि।

द्रव्य के उपर्युक्त लक्षण से यह आभास मिलता है कि द्रव्य अपने गुणों एवं कर्मों के प्रति समवायि कारण होता है। यहां पर उल्लेखनीय है कि उत्पद्यमान द्रव्य गुण या कर्म का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध हो वह उसका कारण होता है और उस कारण को ही समवायि कारण कहते है। अथवा जिस द्रव्य या पदार्थ का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध होता है वह द्रव्य या पदार्थ ही समवायि कारण कहलाता है जैसे मिट्टी का घड़ा, शीतल जल, श्वेत वस्त्र आदि यहाँ क्रमशः मिट्टी, जल और वस्त्र का अपने अवयव या गुण क्रमशः घडा शीतल और श्वेत (वर्ण) के साथ समवाय सम्बन्ध है। क्योंकि वे अवयव या गुण उन मिट्टी, जल एवं वस्त्र में पृथक् नहीं है। अतः वे तीनों द्रव्य क्रमशः अपने अपने अवयव एवं गुण के प्रति समवायि कारण हैं। मिट्टी घट के प्रति, जल अपने शीतल गुण के प्रति एवं वस्त्र अपने श्वेत वर्ण के प्रति समवायि कारण है।

यहां सुविधा की दृष्टि से ऐसा भी समझा जा सकता है कि द्रव्यों या पदार्थों में आधाराधेय भाव की कल्पना कर समवायि कारण आधार द्रव्य होता है और तद्गत गुण, कर्म आदि आधेय होते हैं। अतः आधार होने से द्रव्य समवायि कारण है।

द्रव्य के उपर्युक्त लक्षणो से यह स्पष्ट है कि द्रव्य में गुण और कर्म सदैव समवाय सम्बन्ध से रहते हैं द्रव्य का अपने गुण और कर्म के साथ समवाय सम्बन्ध होने से वह अपने अवयवों गुण और कर्म के प्रति समवायि कारण होता है। क्योंकि उत्पद्यमान गुण और कर्म जिस द्रव्य के आश्रित होकर रहेंगे अथवा जिस द्रव्य में वे स्थित रहेंगे उस द्रव्य के साथ उनका नित्य सम्बन्ध होने से समवाय सम्बन्ध होगा। अतः वह द्रव्य उन गुणों और कर्मों के प्रति समवायि कारण कहलायेगा।

संसार में उत्पन्न होने वाला प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी कारण की अपेक्षा अवश्य रखता है। बिना कारण कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। इसमें कुछ कारण ऐसे होते हैं जो द्रव्य की उत्पत्ति के अन्तर भी द्रव्य के साथ संयुक्त रहते हैं तथा उन्हें द्रव्य

से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ कारण ऐसे होते हैं जो द्रव्य की उत्पत्ति के पश्चात् उससे पृथक् हो जाते हैं और फिर द्रव्य के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। प्रथम प्रकार के कारण जो द्रव्य के साथ द्रव्योत्पत्ति के पश्चात् भी बने रहते हैं द्रव्य में नित्य या समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। ये कारण ही समवायि कारण कहलाते हैं। इन्हें द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैसे तन्तु और पट। यहां तन्तु कारण है और पट द्रव्य है। तन्तु और पट का समवाय सम्बन्ध होने से तन्तु पट के प्रति समवायि कारण है और पट द्रव्य है। तन्तु और पट का समवाय सम्बन्ध होने से तन्तु पट के प्रति समवायि कारण है। इसी भांति मिट्टी व घट। संसार के अन्य द्रव्य जो अपने अवयवों गुणों तथा कर्मों के आश्रयभूत है आधार कहलाते हैं तथा उन द्रव्यों में जो गुण और कर्म रहते हैं वे आधेय कहलाते हैं। वे गुण और कर्म उनमें समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः वे द्रव्य अपने उन गुण और कर्मों के प्रति समवायि कारण होते है। इस प्रकार द्रव्य और उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण व कर्म का अधाराधेय भाव सम्बन्ध भी होता है।

संक्षेप में यदि कहा जाय तो जिसमें गुण और कर्म इस प्रकार से रहें कि उन्हें उससे पृथक् न किया जा सके तथा जो अपने गुण और कर्म के प्रति समवायि कारण अर्थात् कभी पृथक् न होने वाला कारण हो द्रव्य कहलाता है अर्थात् जिसमें गुण व कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हों तथा जो अपने उन गुण व कर्म के प्रति समवायि कारण हो द्रव्य कहलाता है।

द्रव्य संख्या

"खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः।" (चरक संहिता सूत्रस्थान १/४८)

"पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशकालदिगात्मामनांसीति नव द्रव्याणि।" "

"क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मन इति द्रव्याणि।" (कारिकावलि)

"पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मनइति द्रव्याणि।" (वै० सू० १।१५।)

आकाश आदि (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) पांच महाभूत, आत्मा, मन, काल और दिशा ये नव द्रव्य होते हैं।

अन्य आचार्यों ने भी नव द्रव्य ही माने हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी द्रव्यों की संख्या नव ही मानी गई है। केवल द्रव्यों के क्रम परिगणन में भिन्नता है। जिसका कोई महत्व नहीं है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में नव द्रव्यों को निम्न क्रमानुसार परिगणित किया गया है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश काल, दिशा आत्मा और मन।

संसार में द्रव्यों की संख्या अपरिमित है। उनकी कोई गणना नहीं की जा सकती। तथापि आयुर्वेद में मूल द्रव्यों की संख्या नौ ही मानी गई है। मूल द्रव्य कहने का तात्पर्य यहां यह है कि ससार के अन्य समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति इन्हीं नौ द्रव्यों से होती है। संसार का कोई भी द्रव्य इन नव द्रव्यों से अतिरिक्त नहीं है। ससार के समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति का कारण होने से इन्हें मूल द्रव्य कहा गया है।

इन नव द्रव्यों में प्रारम्भ के पांच द्रव्य—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश महाभूत कहलाते हैं। द्रव्यों की उत्पत्ति में इन पंच महाभूतों का महत्वपूर्ण योग रहता है। इसी लिए स्थूल द्रव्यों को भौतिक या पांच भौतिक कहा जाता है। द्रव्यों की स्थूलता एवं आकृति विशेष के निर्माण में महाभूतों की प्रमुखता रहती है। अतः ससार के प्रत्यक्षगम्य समस्त जड़-चेतन द्रव्य भौतिक कहलाते हैं।

द्रव्य के अन्य भेद

मुख्य रूप से द्रव्य यद्यपि नौ ही प्रकार के होते हैं, किन्तु कारण सापेक्षता की दृष्टि से उसके अन्य भेद भी होते हैं। जैसे—

१. उत्पत्ति भेद से द्रव्य दो प्रकार का होता है - कारण द्रव्य या मूल द्रव्य तथा कार्य द्रव्य। इनमें पृथ्वी आदि नव द्रव्य कारण द्रव्य या मूल होते हैं। क्योंकि इन्हीं द्रव्यों से संसार के अन्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। अतः संसार के अन्य द्रव्यों की उत्पत्ति में कारण होने से इन्हें कारण द्रव्य कहा गया है। इन नव कारण द्रव्यों के अतिरिक्त संसार के अन्य समस्त द्रव्य कार्य द्रव्य कहलाते हैं[1]।

२. ससार के समस्त द्रव्यों को दो भागों में बांटा गया है - प्रत्यक्ष द्रव्य और अप्रत्यक्ष द्रव्य। कुछ द्रव्य स्थूल रूप होने से प्रत्यक्ष होने योग्य हैं तथा कुछ द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म रूप होने से प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं हैं। **प्रत्यक्ष द्रव्य**—जो द्रव्य इन्द्रियगोचर अथवा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य होते हैं वे प्रत्यक्ष द्रव्य कहलाते हैं। इन्द्रिय गोचर द्रव्यों में कुछ द्रव्य चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हैं, कुछ द्रव्य श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा, कुछ द्रव्य घ्राणेन्द्रिय द्वारा, कुछ द्रव्य रसनेन्द्रिय द्वारा और कुछ द्रव्य त्वगिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हैं। **अप्रत्यक्षद्रव्य**—कुछ द्रव्य ऐसे भी होते हैं जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। वे परमाणु रूप या अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। इन्द्रिय द्वारा अगोचर होने से उन्हें अप्रत्यक्ष द्रव्य कहते हैं[2]।

---

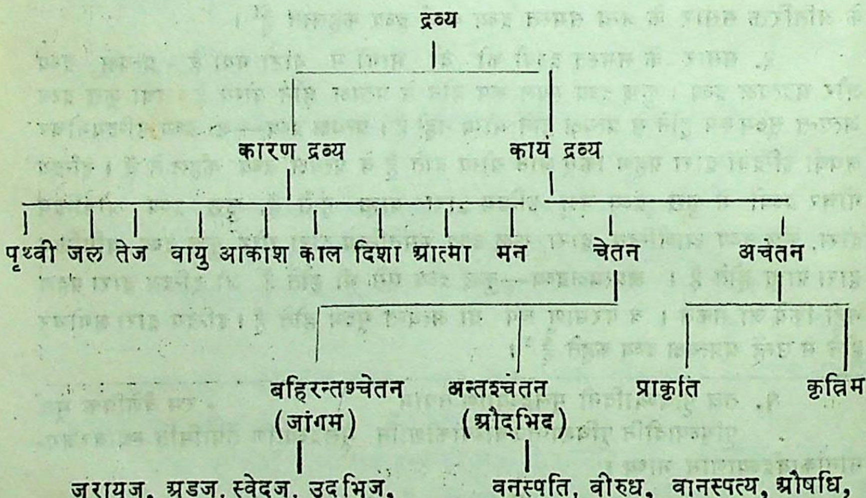
१. तत्र पृथिव्यादिनी मूलद्रव्याणि तेषाम् - रस वैशेषिक सूत्र
पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशानि मूलद्रव्याणि तेषामिति स्थावरजगमानांकार्यद्रव्याणाम् भाष्य।

२. अथ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षद्रव्याणि, परमाणुद्वयणुके अप्रत्यक्षे, महदुद्भूतरुपत्व यत्र तानि पृथिवीजलतेजांसि प्रत्यक्षाणि, आत्मा च मानसप्रत्यक्षः वाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि त्यप्रत्क्षाणि। बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्वे सत्युद्भूतरूपत्वप्रयोजकम्।

३. चेतनता की दृष्टि से भी द्रव्यों का वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार भी द्रव्य दो प्रकार का होता है - चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य। जो द्रव्य चैतन्य युक्त होते हैं वे चेतन द्रव्य कहलाते हैं। चेतन द्रव्यों में प्रायः इन्द्रिय या इन्द्रियों का समावेश होता है। क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से ही उनकी चेतनता व्यक्त होती है। अतः चेतन द्रव्य सेन्द्रिय कहलाते हैं। इसके विपरीत जो द्रव्य चैतन्य विरहित होते हैं वे द्रव्य अचेतन या जड़ कहलाते हैं। उन द्रव्यों में इन्द्रियाभिनिवेश न होने से उन्हें निरिन्द्रिय द्रव्य कहा जाता है[3]

इस प्रकार भिन्न दृष्टि से द्रव्य के भिन्न भिन्न भेद होते हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य के कुछ अवान्तर भेद भी होते हैं। अतः संक्षेपतः उनका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। उपर्युक्त नव द्रव्यों में आकाश काल, आत्मा और दिशा ये द्रव्य विभुरूप हैं। मन परमाणु रूप है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये प्रत्येक द्विविध रूप हैं। अर्थात् प्रत्येक दो दो प्रकार के हैं। परमाणु और सावयव। सावयव द्रव्य पुनः त्रिविध रूप होता है। अर्थात् सावयव के पुनः तीन भेद होते हैं - शरीर, इन्द्रिय और विषय।

इस प्रकार विविध प्रकार एवं अवान्तर भेद वाला द्रव्य अनेक प्रकार का होते हुए भी द्रव्यत्व जाति सामान्य होने से एक ही प्रकार का होता है।
आयुर्वेद के मतानुसार द्रव्य का वर्गीकरण बहुत ही अच्छे ढंग से किया गया गया है। निम्न तालिका द्वारा द्रव्य के वर्गीकरण को अच्छी तरह से समझा जा सकता है—



३. सेन्द्रिय चेतनं द्रव्यं निरीन्द्रियमचेतनम्। - चरक संहितासूत्रस्थान १/४

पृथ्वी का लक्षण व भेद

"तत्र गन्धवती पृथ्वी" यह पृथ्वी का सामान्य लक्षण है। अर्थात् गन्ध गुण जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहता हो वह पृथ्वी कहलाती है। यद्यपि गन्ध गुण अन्यत्र जल आदि में भी पाया जाता है, किन्तु वह गन्ध गुण संयोग सम्बन्ध से रहता है। समवाय सम्बन्ध से तो गन्ध गुण केवल पृथ्वी में ही रहता है, अन्यत्र जल आदि में नहीं। अतः गन्धवान् होना पृथ्वी का लक्षण है।

वह पृथ्वी दो प्रकार की होती है - नित्य और अनित्य। नित्य पृथ्वी परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होती है उसका कभी विनाश नहीं होता। विनाश न होने (अविनाशी होने) से ही उसे नित्य कहा गया है। दूसरी अनित्य अर्थात् विनाशशील होती है। अनित्य पृथ्वी स्थूलरूप होती है। यह व्यवहार में आने वाले घट, पट आदि रूप में होने से कार्यरुपा भी कहलाती है। इस अनित्य, स्थूलरूपा या कार्यरूपा पृथ्वी के तीन भेद होते हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय[1]।

पार्थिव शरीर—इस मर्त्यलोक में दृश्यमान मानव-शरीर, पशु-शरीर, पक्षि-शरीर तथा अन्य जीव जन्तुओं के शरीर पृथ्वी तत्व द्वारा निर्मित होने से पार्थिव शरीर कहलाते हैं। अनित्य होने से ये शरीर नश्वर हैं। इनके माध्यम से आत्मा सुख-दुख इत्यादि का अनुभव करता है। अतः यह शरीर आत्मा का भोगायतन है तथा समस्त इन्द्रियों व चेतना का आश्रय है[2]।

पार्थिव इन्द्रियः—जिस इन्द्रिय के द्वारा पृथ्वी के प्रयात्मनियत गुण गन्ध का ग्रहण होता है, नासिका के अग्रभाग में शक्तिरूप से स्थित घ्राण ही पार्थिव इन्द्रिय है। पृथ्वी तत्व से निर्मित तथा पृथ्वी के गन्ध गुण को ग्रहण करने के कारण ही घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है। नासा (नासिका) घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान है।

पार्थिव विषय—जो पार्थिव वस्तुएं पार्थिव शरीर एवं पार्थिव इन्द्रिय से भिन्न हैं वे ही पृथ्वी के विषय कहलाते हैं। जैसे— मिट्टी, पत्थर, स्थावर आदि।

जल का लक्षण व भेद

"शीतस्पर्शवत्यापः" यह जल का सामान्य लक्षण है। अर्थात् शीतल स्पर्श

---

१. सा द्विधा–नित्या अनित्या च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्य रूपा। (अनित्या) पुनस्त्रिविधा–शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।

२. शीर्यते इति शरीरम्, चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् (न्या. सू. १/१/११)

चेष्टाश्रयः इन्द्रियाश्रयः अर्थाश्रयः अत्र अर्थशब्दः सुखदुःखान्यतर परः आत्मनो भोगायतनमिति वात्सायनः।

जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हो वह जल कहलाता है। यद्यपि स्पर्श अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है, किन्तु वहां शीतल स्पर्श का उस द्रव्य के साथ सयोग सम्बन्ध होता है। अत: वह द्रव्य जल नहीं कहा जा सकता। शीतल स्पर्श का समवाय सम्बन्ध तो केवल जल के साथ ही होता है। अन्य द्रव्य के साथ नहीं। अन्य द्रव्य में शीतल स्पर्श की अनुभूति उस में विद्यमान जल के कारण होती है। अत: शीतल स्पर्श होना जल का सामान्य लक्षण है।

यह जल भी दो प्रकार का होता है - नित्य और अनित्य। नित्य जल परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यह ससार के समस्त जलीयांश वाले द्रव्यों की उत्पत्ति में कारण होता है। इस परमाणु रूप जल का कभी विनाश नहीं होता। अविनाशी होने से ही उसे नित्य कहा गया है। द्वितीय प्रकार का जल अनित्य होता है। यह अनित्य जल विनाशशील होता है। यह स्थूल रूप होने से प्रत्यक्षगम्य होता है। स्नान, पान आदि के व्यवहार में आने से यह स्थूल जल कार्य रूप भी कहलाता है। यह कार्यरूप, स्थूल, अनित्य जल पुन: शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है[1]।

जलीय शरीर—जलीय शरीर वरुण लोक में अवस्थित है। वह भी आत्मा के सुख-दु:ख आदि के उपभोग का साधन होने से आत्मा का भोगायतन है। यद्यपि वह शरीर भी पांचभौतिक है, किन्तु जिस प्रकार पार्थिव शरीर में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होती है उसी प्रकार जलीय शरीर में जल तत्व की प्रधानता होती है। वरुण लोक जल प्रधान स्थान है। अत: वहाँ जलीय शरीर की अवस्थिति ही संभावित है। अन्य शरीर की नहीं[2]।

जलीय इन्द्रिय—जिस इन्द्रिय के द्वारा मधुरादि षड् रसों का ग्रहण एवं ज्ञान होता है तथा जो जिह्वा के अग्रभाग में स्थित रसनेन्द्रिय है वही जलीय इन्द्रिय है। रस जल का प्रत्यात्मनियत गुण है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु तिक्त और कषाय भेद से वह रस छ: प्रकार का होता है। इसी रस का ग्रहण रसनेन्द्रिय द्वारा होने से रसनेन्द्रिय जलीय इन्द्रिय मानी गई है। रसनेन्द्रिय का अधिष्ठान जिह्वा है[3]।

जलीय विषय—नदी, समुद्र, तालाब, बर्फ, ओले इत्यादि जल के विषय रूप द्रव्य हैं। जलीय विषय रूप द्रव्य ही सामान्य व्यवहार में लाये जाते हैं।

---

१. ता: द्विविधा-नित्या अनित्याश्च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या कार्यरूपा (अनित्या) पुनस्त्रिविधा: शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।
२. शरीरं वरुणलोके प्रसिद्धम्।
३. इन्द्रियं रसग्राहकं रसनाग्रवति।
४. विषय: सरित्समुद्रादि।

तेज का लक्षण व भेद

"उष्णस्पर्शवत्तेजः" यह तेज का सामान्य लक्षण है। अर्थात् जिस द्रव्य में उष्ण स्पर्श रूप गुण समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हो वह तेज कहलाता है। तेज के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में जहां उष्ण स्पर्श की अनुभूति होती है वहां उष्ण स्पर्श उस द्रव्य में संयोग सम्बन्ध से रहता है। अतः वह द्रव्य तेज नहीं है। तेज में उष्ण स्पर्श समवाय सम्बन्ध से होता है।

यह तेज भी दो प्रकार का होता है नित्य और अनित्य। नित्य तेज परमाणु रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यह संसार के समस्त तैजस द्रव्यों की उत्पत्ति में कारण होता है। इस परमाणुरूप तेज का कभी विनाश नहीं होता अविनाशी होने से उसे नित्य कहा गया है। द्वितीय प्रकार का तेज अनित्य होता है। यह अनित्य तेज विनाशशील होता है। यह स्थूल रूप होने से प्रत्यक्षगम्य होता है। भोजन बनाने, यन्त्रादि चलाने, प्रकाश रूप में उपयोग करने आदि के व्यवहार में आने से यह स्थूल तेज कार्य रूप कहलाता है। यह कार्य रूप स्थूल अनित्य तेज शरीर इन्द्रिय और विषय भेद से पुनः तीन प्रकार का होता है[1]।

तैजस शरीर—आदित्य लोक में तैजस शरीर होता है। सौर मंडल के देदीप्यमान ग्रह नक्षत्र तैजस शरीर वाले होते हैं। स्वयं भगवान् सूर्य तैजस शरीरवान् हैं। तैजस शरीर में तेज महाभूत की प्रधानता होती है[2]।

तैजस इन्द्रिय—तेज का प्रत्यात्मनियत गुण है रूप। अतः जिस इन्द्रिय द्वारा रूप का ग्रहण व ज्ञान होता है तथा नेत्रान्तर्गत कृष्णतारा मंडल के अग्रभाग में स्थित कनीनिका रूप चक्षु इन्द्रिय ही तेज होती है। इस चक्षु इन्द्रिय की उत्पत्ति तैजस तत्व द्वारा होती है। इसका अधिष्ठान नेत्र है[3]।

तैजस विषय—यह चार प्रकार का होता है। यथा-भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज।

भौम तेज—भूमंडल पर दृश्यमान अग्नि जो भोजन आदि पकाने के काम में आती है।

दिव्य तेज— आकाश में अप् ईंधन जल से उत्पन्न होने वाली विद्युत आदि।

---

१. तद द्विविधं- नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपमनित्यं कार्यरूपम्। (अनित्यं) पुनस्त्रिविधं- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।

२. शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम्।

३. इन्द्रियं रूप ग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति।

औदर्य तेज—अशित, पीत, लीढ, खादित रूप चतुर्विध अन्न का पाक करने वाली उदरस्थ अग्नि।

आकरज तेज—खान से उत्पन्न होने वाले सुवर्ण आदि।

वायु का लक्षण व भेद

"अनुष्णशीतस्पर्शवान् वायु:" तथा "रूपरहितस्पर्शवान् वायु:" इस लक्षण के अनुसार जो द्रव्य रूप रहित किन्तु स्पर्श युक्त होता है वह वायु कहलाता है। अर्थात् वायु में स्पर्श गुण होता है। वायुगत यह स्पर्श अनुष्णशीत होता है। वायु के सामान्य स्पर्श में न उष्णत्व होता है और न शीतत्व। वायु के स्पर्श में यदि उष्णत्व या शीतत्व की अनुभूत होती है तो उसे अग्नि या जल से संपृक्त समझना चाहिए। इसीलिए वायु को योगवाही कहा गया है।

यह वायु भी दो प्रकार का होता है--नित्य और अनित्य। नित्य वायु परमाणु-रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। वह स्पर्श द्वारा ग्राह्य नहीं होता। यह समस्त वायवीय द्रव्यों की उत्पत्ति या निर्माण में कारण होता है। इस परमाणु रूप नित्य वायु का विनाश नहीं होता। अविनाशी होने से उसे नित्य कहा गया है। इसके विपरीत अनित्य वायु नश्वर होता है। यह अनित्य वायु कार्य रूप होता है। इसे स्थूल रूप भी कहा जाता है। स्थूल कार्यरूप वायु हमारे दैनिक जीवन के लिए उपयोगी होने से हमारे जीवन में विभिन्न रूप से व्यवहृत होता है। जैसे--श्वासोच्छ्वास लेना, मोटर-साइकिल आदि के ट्यूब में हवा भरना, ग्रीष्म ऋतु में बिजली के पंखे द्वारा वायु प्राप्त करना आदि। यह कार्यरूप अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से पुन: तीन प्रकार का होता है[1]।

अन्य पृथ्वी, जल और तेज की भांति कार्यरूप या स्थूल रूप वायु चक्षुग्राह्य नहीं है। वह केवल त्वगिन्द्रिय ग्राह्य है। प्रत्यात्मनियत इन्द्रिय ही उसे ग्रहण करने में समर्थ है।

वायवीय शरीर—वायवीय शरीर वायु लोक में स्थित है। वायु की भांति वायवीय शरीर भी वायु द्वारा निर्मित होने से चक्षु गोचर नहीं है।

वायवीय इन्द्रिय—वायु की प्रतिनिधि इन्द्रिय त्वक् है। त्वगिन्द्रिय द्वारा मात्र स्पर्श का ज्ञान होता है। स्पर्श वायु का नैसर्गिक गुण है। त्वगिन्द्रिय शरीर के सम्पूर्ण बाह्य प्रदेश में व्याप्त है। अत: शरीर के किसी भी बाह्यांग द्वारा स्पर्श का ज्ञान हो

१. स द्विविध:-नित्योऽनित्यश्च। नित्य: परमाणुरूपोऽनित्य: कार्यरूप:। (अनित्य:) पुनस्त्रिविध:- शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।

सकता है। यदि वायु ग्रीष्म कालीन सूर्य के ताप से संयुक्त होकर हमारे शरीर से टकराती है तो त्वगिन्द्रिय द्वारा उसके स्पर्श से उष्णता की अनुभूति होती है। इसी भांति शीतल जल आदि से संयुक्त वायु द्वारा शरीर के किसी भी अंग का स्पर्श होने से शीतलता की प्रतीति होती है। अतः त्वगिन्द्रिय का वायवीय होना प्रमाणित है।

वायवीय विषय—वृक्ष आदि के कम्पन का हेतु विषय रूप वायु है। इसके अतिरिक्त आंधी, शरीरगत वायु-संचार तथा अन्य विधियों द्वारा वायु का ग्रहण करना आदि वायु के समस्त स्वरूप वायवीय विषय हैं।

आकाश का लक्षण व भेद

"शब्दगुणमाकाशम्" अथवा "समवायेन शब्दाश्रयत्वमाकाशत्वम्" आकाश के इस लक्षण के अनुसार शब्द गुण वाला आकाश होता है। अथवा जो समवाय सम्बन्ध से शब्द का आश्रय हो वह आकाशत्व है। शब्द आकाश का प्रत्यात्मनियत गुण है। अतः शब्दत्व आकाश में समवाय रूप से विद्यमान रहता है।

आकाश का सामान्य अर्थ अवकाश (खाली स्थान) होता है। अतः वह सर्वत्र व्यापक रूप से अवस्थित है। यह अन्य पृथ्वी आदि की भाति कार्यरूप अथवा स्थूलरूप में नहीं होता। अतः वह विनाशशील या अनित्य भी नहीं है। विनाशशील न होने से सर्वदा उसकी स्थिति बनी रहती है। अतः वह नित्य है। उसके कोई अवान्तर या मौलिक भेद प्रभेद न होने से यह एक ही है। इसीलिए आकाश के विषय में कहा गया है-"तच्चैकं विभु नित्यं च" अर्थात् वह आकाश एक है, विभु (व्यापक, है और नित्य है।

आकाश के प्रत्यात्मनियत गुण शब्द की ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय है, जो कर्ण शष्कुलि के आभ्यन्तर प्रदेश को व्याप्त कर अव्यवस्थित रहती है। श्रोत्रेन्द्रिय आकाशात्मक होने से आकाश के मूल गुण केवल शब्द को ही ग्रहण करती है, अन्य को नहीं। यहां यह स्मरणीय है कि श्रोत्रेन्द्रिय ही आकाश नहीं है, अपितु वह आकाश द्वारा निर्मित होने से आकाशात्मक है। मूलतः आकाशत्व एवं श्रोत्रेन्द्रिय भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं। आकाशी का मूल गुण शब्दत्व है जो आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। श्रोत्रेन्द्रिय आकाश के उस गुण को ग्रहण मात्र करती है।

वायु और आकाश की सिद्धि

वायु और आकाश दोनों अमूर्त द्रव्य हैं। ये दोनों पृथ्वी, जल और तेज की भांति चक्षु ग्राह्य नहीं हैं। चक्षु द्वारा केवल उन्हीं द्रव्यों का ग्रहण होता हैं जो मूर्तिमान होते हैं तथा जिनका कुछ आकार या परिमाण विशेष होता है। वायु और आकाश न

तो मूर्तिमान हैं और न ही इन दोनों का कोई आकार प्रकार या परिमाण विशेष होता है। अतः चक्षु द्वारा इन दोनों ही द्रव्यों का ग्रहण नहीं होता। ये दोनों क्रमशः त्वक् एवं श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षगम्य हैं। इनका अनुमान क्रमशः स्पर्श और शब्द द्वारा किया जाता है।

स्पर्श और शब्द, ये दोनों गुण हैं। गुण की स्थिति सदैव द्रव्याश्रित होती है। गुण द्रव्य के बिना नहीं रह सकता। स्वतन्त्र रूप से उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता और न ही उस की कोई प्रतीति या अनुभूति हो पाती हैं। गुण का परिज्ञान द्रव्य के माध्यम से ही होता हैं तथा द्रव्य के माध्यम से ही गुणानुसार क्रिया होती है। अतः स्पर्श और शब्द गुण जिस किसी के आश्रित हों वह द्रव्य विशेष अवश्य है। वायु का जो लक्षण किया गया है उसके अनुसार तद्गत स्पर्श अनुष्णशीत होता है। अर्थात् वायु का स्पर्श न तो उष्ण होता है और न शीतल होता है। यह अनुष्णशीत स्पर्श यदि पृथ्वी के आश्रित मान लिया जाय तो उस स्पर्श में गन्ध का होना नितान्त अपेक्षित जबकि स्पर्श में गन्ध का अभाव रहता है। "तत्र गन्धवती पृथ्वी"–पृथ्वी के इस लक्षण के अनुसार पृथ्वी में केवल गन्ध ही आश्रित रहता है, स्पर्श नहीं। अतः स्पर्श का आश्रय पृथ्वी नहीं है। इसी प्रकार जल और तेज को भी इसका आश्रय मानना सम्भव नहीं है। क्योंकि जल शीतल होता है और तेज उष्ण होता है। अतः तत् संपृक्त स्पर्श भी केवल शीतल अथवा केवल उष्ण होगा। इसके अतिरिक्त जल केवल रस का आश्रय और तेज केवल रूप का आश्रय होता है। अतः ये दोनों स्पर्श के आश्रय नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में जबकि पृथ्वी, जल और तेज तीनों ही अनुष्णशीत स्पर्श के आश्रय नहीं हैं, चतुर्थ वायु ही इसका आश्रय हो सकता है। इस प्रकार अनुमान द्वारा अमूर्त (आकार प्रकार रहित) वायु की सिद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त अवशिष्ट आकाश, काल, दिक् और आत्मा में भी अनुष्णशीत स्पर्श का आश्रयत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ये चारों ही द्रव्य विभु हैं (व्यापक) हैं। विभु द्रव्य स्पर्श का आश्रय नहीं होते अर्थात् उनका स्पर्श नहीं किया जा सकता। स्पर्श गुण का आश्रय मन भी नहीं हो सकता। क्योंकि मन परमाणु है और परमाणु सदा अतीन्द्रिय होता है। परमाणु और अतीन्द्रिय द्रव्य का स्पर्श नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत अनुष्णशीत स्पर्श का अनुभव अवश्य त्वगिन्द्रिय द्वारा होता है। जिसका माध्यम वायु है। अतः चक्षु द्वारा अग्राह्य वायु की सिद्धि होती है।

आकाश भी वायु की भांति चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है। जिस प्रकार अन्य रूप, रस, गंध आदि गुण किसी द्रव्य विशेष का आश्रय लेकर स्थित रहते हैं, उसी प्रकार शब्द गुण भी किसी न किसी द्रव्य के आश्रित अवश्य होता है। पृथ्वी में उसका

आश्रयत्व सिद्ध नही है। क्योंकि उस शब्द में गंध नहीं है। शब्द में रस, रूप और स्पर्श का अभाव होने से उसे जलाश्रित, तेजाश्रित या वाय्वाश्रित भी नहीं माना जा सकता। काल, दिक्, आत्मा और मन में शब्द का आश्रयत्व किसी भांति प्रमाणित नहीं है। अत: उपर्युक्त आठ द्रव्यों में से किसी में भी शब्दाश्रयत्व सिद्ध न होने से केवल आकाश ही शेष रह जाता है। अतः वही शब्द का आश्रय है। शब्द का आश्रय होने से आकाश के द्रव्यत्व की सिद्धि होती है।

पच महाभूत

द्रव्य प्रकरण के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का जो वर्णन किया गया है वह उनके द्रव्यत्व की दृष्टि से किया गया है। आयुर्वेद में इन्ही पाँचों द्रव्यों को महाभूत की सज्ञा दी गई है। यद्यपि अन्य दर्शन शास्त्रों मे भी इन द्रव्यों का मह भूत माना गया है तथापि आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से इनकी विशेष उपादेयता एवं महत्व है। आयुर्वेद का पंचमहाभूत सिद्धान्त अपनी मौलिक विशेषता रखता है। यह सिद्धान्त आयुर्वेद की एक ऐसी आधार शिला है जिस पर समस्त आयुर्वेद टिका हुआ है। आयुर्वेद के अनुसार समस्त द्रव्य पांच भौतिक हैं अर्थात् ससार के समस्त कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति पंच महाभूतों से होती है। आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन पुरुष की चिकित्सा कर उसे स्वास्थ्य लाभ पहुंचाना है। चिकित्सा शरीर की की जाती है। यह शरीर तथा इसके समस्त अवयव पांच भौतिक होते हैं। जिन औषधि द्रव्यों से शरीर की चिकित्सा की जाती है वे द्रव्य भी पाच भौतिक ही होते हैं। चिकित्सा के साधनभूत औषधि-द्रव्य एवं चिकित्स्य शरीर में यदि भौतिकत्व की एकरूपता न हो तो चिकित्सा का उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हमारे शरीर का आधार दोष-धातु-मल हैं[1]। उन्हीं पर शरीर अवलम्बित है। ये दोष-धातु-मल भी पांचभौतिक ही होते है। यद्यपि इ का भौतिकत्व स्थूलत्वेन प्रत्यक्षगम्य नहीं है तथापि गुणकर्मानुमेय होने से इनके भौतिकत्व की सिद्धि की जाती है। इसी भांति अन्य द्रव्यो के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। अर्थात् समस्त द्रव्यों की भौतिकता गुणकर्मानुमेय होती है। जैसे कोई द्रव्य तैजस (आग्नेय) है। उसका आग्नेयत्व सामान्यतः प्रत्यक्षगम्य नहीं है। किन्तु शरीर में उस द्रव्य का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर जब उष्णता (गरमी) बढ़ जाती है या जलन आदि होने लगती है तब अनुमान लगाया जाता है कि अमुक द्रव्य आग्नेय अथवा तेज महाभूत प्रधान है। इसी भांति अन्य महाभूतो का अनुमान भी द्रव्य के गुण कर्मों के आधार पर लगा लिया जाता है।

१- दोष-धातु-मलमूलं हि शरीरम्।

प्रत्येक महाभूत के गुण और कर्म पृथक् पृथक् होते हैं। किन्तु भौतिकत्व की दृष्टि से सभी महाभूत समान होते हैं। इनके जो जो गुण और कर्म होते हैं वे ही गुण कर्म इनसे समुत्पन्न द्रव्य में व्यष्टि या समष्टि रूपेण विद्यमान रहते हैं। किसी द्रव्य में किसी महाभूत की न्यूनता रहती है और अन्य महाभूत की अधिकता। इसी आधार पर उस द्रव्य में कोई गुण-कर्म कम होता है और कोई गुण-कर्म अधिक। जैसे गिलोय का सेवन करने से शरीर में पित्त (उष्णता) का शमन होता है तथा चन्दन भी पित्त शामक है। किन्तु गिलोय की अपेक्षा चन्दन में पित शामकत्व गुण अधिक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गिलोय की अपेक्षा चन्दन में जल महाभूत का शैत्य गुण अधिक है।

आयुर्वेद में महाभूतों की स्थूल रचना का व्यपदेश नहीं मिलता। यही कारण है कि उनका स्थूल स्वरूप चाक्षुष प्रत्यक्षगम्य नहीं है। द्रव्यों की उत्पत्ति में भी महाभूतों का स्थूलत्व कारण नहीं होता। स्थूल रूपेण दृश्यमान पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश मूल महाभूत तत्व नहीं है, अपितु महाभूतों के विषय अथवा विकार हैं। इनमें एक महाभूत की अपेक्षा अन्य महाभूतों का भी मिश्रण अथवा अनुप्रवेश होता है। मूल महाभूत तत्व जो सूक्ष्मतम होता है केवल कार्य द्रव्य की उत्पत्ति में कारण होता है तथा उस द्रव्य में एक समान गुण कर्म का अधिष्ठाता होता है। इसके विपरीत स्थूलरूपेण ही वे अपने गुणों को अन्य द्रव्य में अभिनिविष्ट करने में समर्थ होते हैं। अतः इन्हें ही महाभूत नहीं समझना चाहिए। मूल महाभूत तत्त्व सूक्ष्मतम एवं केवल गुण कर्मानुमेय होते हैं। चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा उनकी उपलब्धि सम्भव नही है। इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि कार्यद्रव्य के नष्ट हो जाने पर भी इनका विनाश नहीं होता और ये तत्सम कार्यद्रव्य की पुनः उत्पत्ति में कारण बन जाते हैं। इसीलिए इन महाभूतों को कारण द्रव्य भी कहा गया है।

महाभूतों के लक्षण व गुण

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि चिकित्सा की दृष्टि से महाभूतों का आयुर्वेद में विशेष महत्व होने से महाभूतो के सम्बन्ध में आयुर्वेद में अन्य दर्शनों की अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाया है। अतः यहाँ आयुर्वेदीय दृष्टि-कोण से महाभूतों का लक्षण व उनके गुणों का विवेचन अपेक्षित है। आयुर्वेद में महाभूतों की गणना एवं उनके गुणों का निर्देश निम्न प्रकार से किया गया है—

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥

—चरक, शारीर १/२७

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत होते हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध ये उनके लक्षण प्रतिपादक क्रमशः पांच गुण होते हैं। अर्थात् आकाश का गुण शब्द, वायु का गुण स्पर्श, अग्नि का गुण रूप, जल का गुण रस और पृथ्वी का गुण गन्ध होता है। इन्हीं गुणों के आधार पर महाभूतों का ज्ञान होता हैं। ये गुण महाभूतों के नैसर्गिक गुण कहलाते हैं जो इन महाभूतों के अतिरिक्त अन्यत्र अनुपलब्ध हैं।

इसके अतिरिक्त महाभूतों के असाधारण लक्षण भी हैं जो उनके भौतिक गुणों पर ही आधारित हैं—

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिंग यथाक्रमम् ॥

—चरक, शारीर १/२९

पृथ्वी का खरत्व (खुरदुरापन), जल का द्रवत्व (पतलापन), वायु का चलत्व (गतिशीलता), अग्नि का उष्णत्व (गरम होना), तथा आकाश का अप्रतिघात (गति में बाधक न होना तथा स्पर्श न होना) ये महाभूतों के विशेष चिन्ह होते हैं।

महाभूतों के उपर्युक्त शब्द, स्पर्श आदि गुण दार्शनिक दृष्टि से एवं खरत्व, द्रवत्व आदि गुण चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी व महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए आयुर्वेद में शब्द आदि गुणों को महाभूतों का साधारण लक्षण एवं खरत्व आदि गुणों को असाधारल (विशेष) लक्षण माना है। इसका एक कारण यह भी है कि महाभूतों के साधारण गुणों की अपेक्षा असाधारण गुणों में एक विशेषता होती है। वह यह कि असाधारण गुण स्पर्शनेन्द्रिय गोचर होते हैं। अर्थात् उनका ज्ञान त्वचा से होता है। यह तथ्य निम्न श्लोक द्वारा स्पष्ट है—

लक्षण सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम ।
स्पर्शनेन्द्रिय विज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥

—चरक, शारीर १/३०

अर्थात् महाभूतों के उपर्युक्त खरत्व आदि समस्त लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) के द्वारा जाने जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा विपरीत स्पर्श अर्थात् स्पर्श के अभाव का भी ज्ञान होता है। जैसे किसी वस्तु के उष्णत्व का ज्ञान होना तथा अन्य वस्तु के उष्णत्वाभाव का ज्ञान होना स्पर्शनेन्द्रिय का ही विषय है।

यहां महाभूतों के जिन विशेष लक्षणों का निर्देश किया गया है उनमे पृथ्वी का खर होना, जल का द्रव होना, वायु का चंचल (गतिशील) होना तथा अग्नि का उष्ण होना इनका ज्ञान तो त्वगिन्द्रिय से हो जाता है, किन्तु आकाश के अप्रतिघात या स्पर्श

के अभाव का ज्ञान त्वचा द्वारा कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के उत्तर में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि जिन इन्द्रियों के द्वारा जिसके भाव का प्रत्यक्ष होता है उन्हीं इन्द्रियों से उसके अभाव का ज्ञान भी होता है । जब स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु के प्रतिघात (रूकावट) का ज्ञान होता है तो उसी प्रतिघात के अभाव (रूकावट के न होने) का ज्ञान भी स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ही होता है । जैसे किसी अग्नि संतप्त वस्तु का स्पर्श करने पर त्वचा द्वारा उसकी उष्णता का ज्ञान होता है । उसके बाद किसी शीतल वस्तु का स्पर्श करने पर त्वचा द्वारा उस वस्तु में उष्णता के अभाव का ज्ञान भी होता है । इसी प्रकार किसी व्यक्ति की आंखें बन्द कर उसे आगे बढ़ने (चलने) के लिए कहा जाय । बीच में किसी वस्तु के आ जाने पर उसे ज्ञान होगा कि यहा प्रतिघात या व्यवधान है । किन्तु वह वस्तु वहां से हटा लेने पर उस प्रतिघात (रुकावट) के अभाव का ज्ञान भी उसे स्पर्श द्वारा ही होगा । अपने हाथ को इतस्ततः हिलाकर वह कह सकता है कि वहा कुछ नहीं है । यही आकाश (खाली स्थान) है और प्रतिघात न होना ही उसका विशेष लक्षण है । जिसका ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा होता है । इस प्रकार पच महाभूतों के ये विशेष लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जाने जाते है । अतः महाभूतों का त्वाच प्रत्यक्ष होता है-यह उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध है ।

महाभूतों के लक्षणात्मक गुण विवेचन के सन्दर्भ में अन्य आचार्यों के मत भी दृष्टव्य हैं, जिनमें महाभूतों के अन्य गुणों का प्रतिपादन किया गया है । यथा—

"खस्याप्रतिषेधो लिंगं, वायोश्चलनं, तेजस औष्ण्यं, अपां द्रवत्व, पृथिव्याः स्थैर्यम्" । **—काश्यप संहिता, शारीर स्थान, पृष्ठ ७९**

अर्थात् आकाश का लक्षण अप्रतिषेध (रूकावट न होना), वायु का लक्षण चलन, अग्नि का लक्षण उष्णता, जल का लक्षण द्रवता और पृथ्वी का लक्षण स्थिरता है ।

यहां पर अन्य लक्षण तो पूर्ववत् ही बतलाए गए हैं । केवल पृथ्वी का लक्षण खरत्व के स्थान पर स्थिरता बतलाया गया है । स्थिरता यद्यपि पृथ्वी का ही गुण है, किन्तु यह त्वाच प्रत्यक्ष (स्पर्शनेन्द्रिय गोचर) न होने से इसे विशेष लक्षणों में नहीं गिना गया है ।

एक अन्य आचार्य के मतानुसार—

लघुर्गुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात् ।
नभोभूवारिवातानां वह्नेरेते गुणाः स्मृताः ॥

—भाव प्रकाश

लघु (हल्का), गुरु (भारी), स्निग्ध (चिकना), रूक्ष (रूखा), और तीक्ष्ण (तीव्र) ये क्रमशः आकाश, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के गुण होते हैं । अर्थात् आकाश का लघुत्व, पृथ्वी का गुरुत्व, जल की स्निग्धता, वायु की रूक्षता और अग्नि

की तीक्ष्णता ये महाभूतों के नैसर्गिक गुण होते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से इन गुणों की उपयोगिता होने से आयुर्वेद में इन गुणों का भी महत्व है।

महाभूत के सत्वादि गुण

"तत्र सत्वबहुलमाकाश, रजोबहुलो वायुः, सत्वरजोबहुलोऽग्निः सत्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति।" —सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान १/२०

इनमें सत्व गुण की अधिकता वाला आकाश है, रजो गुण की अधिकता वाला वायु है, सत्व और रजो गुण की अधिकता वाली अग्नि है, सत्व और तमो गुण की अधिकता वाला जल है तथा तमो गुण की अधिकता वाली पृथ्वी है।

आकाश आदि पांचों महाभूतों में यद्यपि सत्व-रज-तम तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, तथापि प्रत्येक महाभूत में एक या दो गुणों की अधिकता होने से उनमें उसी अधिकता वाले गुण का व्यपदेश मुख्य रूप से किया जाता है। गुण की यह अधिकता ही प्रत्येक महाभूत की अपनी अपनी विशेषता एवं अपने अपने गुण कर्म के कारण होती है।

आकाश महाभूत में सत्व गुण की बहुलता उसके प्रकाशकत्व (विषयों का ज्ञान कराने में सहायक होने) के कारण होती है। वायु में रजोगुण की बहुलता उसके चलत्व (गतिशीलता, चचलता एवं समस्त चेष्टाओं के कारण होने) से होती हैं। अग्नि में सत्व और रजो गुण की बहुलता उसके प्रकाशकत्व एवं चलत्व होने से होती हैं। जल में सत्व और तमो गुण की अधिकता उसके स्वच्छत्व, प्रकाशकत्व, गुरुत्व और आवरणत्व कारण होती है तथा पृथ्वी में तमोगुण की अधिकता उसके आवरणत्व के कारण होती है। इस प्रकार समस्त महाभूत त्रिगुणात्मक होते हैं तथा इन्हीं गुणों के आधार पर वे अपने क्रिया कलापों का सम्पादन करते हैं।

स्वतन्त्र रूप से महाभूत किसी भी कर्म को करने में असमर्थ हैं। वे प्रायः द्रव्य के माध्यम से ही कार्य करने में समर्थ होते हैं। द्रव्य स अभिप्राय यहां कार्यद्रव्य से है। आकाश आदि महाभूत भी द्रव्य हैं, किन्तु उनकी गणना कारण द्रव्यों में की जाती है। जिस कार्यद्रव्य में जिस महाभूत की अधिकता होती है वह द्रव्य उसी महाभूत के आधार पर क्रिया करता है। द्रव्य में सक्रमित महाभूत के ये गुण उसके नैसर्गिक गुण भी होते हैं। उसके लक्षण विशेष को बतलाने वाले असाधारण गुण भी होते हैं तथा उसमें व्याप्त सत्वादि गुण भी होते हैं। सभी गुणों की अनुकूलता के अनुसार ही द्रव्य कार्य करता है। किसी भी द्रव्य में न तो परस्पर विरोधी गुण ही होते हैं और न ही द्रव्य परस्पर विरोधी कार्य करता है। उदाहरणार्थ जो द्रव्य खर गुण वाला होगा उसमें

श्लक्षणत्व गुण असम्भावित है। इसी भांति जो द्रव्य उष्ण गुण प्रधान है उसमें शैत्य गुण असम्भावित है। कार्य की दृष्टि से जो द्रव्य उष्णता कारक है वह उष्णता का शमन नहीं कर सकता—यह एक सामान्य सिद्धान्त है। इस प्रकार द्रव्यों में गुणों की अनुकूलता एवं तदनुरूप क्रियाशीलता महाभूत और उनके गुणों के कारण होती है।

महाभूतों की उत्पत्ति एवं उनका परस्परानुप्रवेश

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत्॥
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते॥

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान १/१२-१३

अपने पृथक् पृथक् गुण धर्म वाले पृथ्वी आदि महाभूत तन्मय अर्थात् मूल प्रकृतिमय हैं। उस मूल प्रकृति से ही अवान्तर रूपेण पांच महाभूतों की उत्पत्ति हुई है। इसीलिए पांचों महाभूतों को मूल प्रकृति का परिणाम या विकार बतलाया गया है तथा उन्हें तन्मय कहा गया है। प्रकृति के अन्य परिणामों या विकारों की भांति ये पांच महाभूत भी तद्गुणात्मक (त्रिगुणात्मक, सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों से युक्त) होते हैं। उन्हीं महाभूतों से उन्हीं महाभूतों वाला यह समस्त भूतग्राम (स्थावर-जंगम युक्त सम्पूर्ण जगत्) उत्पन्न होता है। कथन का अभिप्राय यह है कि तीनों (सत्व-रज-तम) गुणों से युक्त महाभूतों में जिस गुण या जिन गुणों की अधिकता होती है उन्हीं गुणों के अनुसार उन महाभूतों में अपने अपने विशेष धर्म तथा गुण कर्म होते हैं। एतद्विध पांचों महाभूतों के संयोग से ही विभिन्न गुण-धर्मों वाले स्थावर व जंगम समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। महाभूतों में जो गुरुत्व, स्थिरत्व, चलत्व, उष्णत्व, द्रवत्व आदि गुण होते हैं वे ही गुण स्थावर-जंगम द्रव्यों में भी होते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आयुर्वेद में मात्र चिकित्सा की दृष्टि से किया गया है। क्योंकि चिकित्सा में महाभूतों एवं उनके गुण कर्मों की ही उपयोगिता है। महाभूतों के अतिरिक्त उनके मूल कारण रूप प्रकृति आदि का विचार चिकित्सा शास्त्र में उपयोगी न होने से नहीं किया गया है।

इस प्रकार महाभूतों की उत्पत्ति मूल प्रकृति या अव्यक्त से होती है। इसलिए प्रकृति के गुण महाभूतों में संक्रान्त हो जाते हैं और वे भूतादि प्रकृतिमय तथा प्रकृति के गुण युक्त कहलाते हैं। सृष्ट्युत्पत्ति क्रम में अव्यक्त (प्रकृति) से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहंकार से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है और पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इन समस्त

तत्वों की उत्पत्ति का मूल कारण अव्यक्त तत्व है जो मूल प्रकृति कहलाता है। अतः उस अव्यक्त या प्रकृति के गुण क्रमानुसार उससे समुत्पन्न समस्त तत्वों (द्रव्यों) में सङ्क्रमित हो जाते हैं।

महाभूतों के उत्पत्ति क्रम में एक तथ्य यह भी है कि एक महाभूत से क्रमशः अन्य महाभूत की उत्पत्ति होती जाती हैं और अपने नैसर्गिक गुण के अतिरिक्त उसमें पहले वाले महाभूत के गुण सङ्क्रमित होते जाते है। इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के आदि में प्रथम आकाश महाभत स्वयं सिद्ध रहता है। वह नित्य और विभु (व्यापक) होने से विनाश का प्राप्त नहीं होता। आकाश का नैसर्गिक गुण शब्द है। जिस प्रकार आकाश को नित्य माना जाता है उसी प्रकार उसका नैसर्गिक गुण शब्द भी नित्य होता हैं। जिस समय केवल आकाश वतमान रहता है उस समय उसमें केवल एक गुण शब्द ही पाया जाता है। उसके बाद जब "आकाशाद्वायु":—आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है तो उस वायु में उसका अपना नैसर्गिक गुण स्पर्श तो विद्यमान रहता ही है किन्तु उसके साथ जिस आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है उस आकाश का शब्द गुण भी आ जाता है। इस प्रकार वायु में शब्द और स्पर्श ये दो गुण रहते हैं। इसके अनन्तर जब "वायोरग्नि":—वायु मे अग्नि की उत्पत्ति होती हैं तो उसमें अग्नि का अपना नैसर्गिक गुण रूप' तो होता ही है. इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती आकाश और वायु के गुण क्रमशः शब्द और स्पर्श भी उसमें रहते हैं। इस प्रकार अग्नि में शब्द स्पर्श और रूप ये तीन गुण रहते हैं। तत्पश्चात् जब "अग्नेराप":-अग्नि से जल महाभूत समुत्पन्न होता है तब जल में उसका अपना नैसर्गिक गुण 'रस' तो विद्यमान रहता ही है, इसके अतिरिक्त तत्पूर्ववर्ती महाभूत आकाश, वायु और अग्नि के गुण भी अवस्थित रहते हैं। इस प्रकार जल महाभूत क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चार गुणों से समन्वित रहता है। इसके बाद सबसे अन्त में "अद्भ्यः पृथ्वी"—जल से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी का अपना नैसर्गिक्ष गुण गन्ध है जो उसमें सर्वदा विद्यमान रहता है, किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें उसके पूर्ववती महाभूत आकाश, वायु, अग्नि और जल के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुण भी रहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी में अपने नैसर्गिक गुण गन्ध के साथ अन्य चारों महाभूत के गुण विद्यमान रहने से उसमें पांच गुण हो जाते हैं। महाभूतो का यह उत्पत्ति क्रम उन में स्थित गुणों की दृष्टि से विशेष महत्व रहता है। निम्न श्लोक द्वारा यही भाव व्यक्त होता है—

तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान १/२८

महाभूतों में पहला महाभूत आकाश एक गुण वाला है। अर्थात् आकाश में केवल एक गुण 'शब्द' विद्यमान रहता है और उनके बाद पिछले पिछले महाभूत में अपने से पूर्व पूर्व महाभूत के गुणों के अनुप्रवेश से क्रमश: गुण की वृद्धि होती जाती है। गुणी अर्थात् महाभूत में क्रमानुसार पूर्व में रहने वाले महाभूत और उनके गुणों का अनुप्रवेश माना जाता है।

उपर्युक्त तथ्य के स्पष्टीकरण अर्थात् भूतानुप्रवेशजन्य गुणवृद्धि क्रम को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

आकाश—शब्द
वायु — शब्द, स्पर्श
अग्नि— शब्द, स्पर्श, रूप
जल — शब्द, स्पर्श, रूप, रस
पृथ्वी— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

महाभूतों के उपर्युक्त उत्पत्ति क्रम के अनुसार एक एक महाभूत में उत्तरोत्तर एक एक गुण की वृद्धि होती जाती है। गुण वृद्धि के इस क्रम के आधार पर इस तथ्य का स्वत: प्रतिपादन होता है कि प्रत्येक महाभूत उत्पत्ति क्रम से अपने अपने पूर्व के महाभूतों से युक्त होता है। जैसे वायु मे आकाश का प्रवेश होता है, अग्नि में वायु और आकाश का प्रवेश होता है, जल महाभूत में अग्नि, वायु और आकाश महाभूत का प्रवेश होता है तथा पृथ्वी महाभूत में जल, अग्नि, वायु और आकाश महाभूत का प्रवेश रहता है। यही अन्योन्यानुप्रविष्ट कहलाता है। अर्थात् एक महाभूत में अन्य महाभूत का प्रवेश होना कहलाता है। महर्षि सुश्रुत ने इस तथ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते॥

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान १/२१

अर्थात् ये पांचों महाभूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट समझना चाहिए। किन्तु इन महाभूतों के अपने विशिष्ट लक्षण अपने अपने द्रव्य में ही व्यक्त होते हैं।

काल निरूपण

काल का सामान्य अर्थ होता है समय। आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से भी काल का महत्व पूर्ण स्थान है। अयुर्वेद के अनुसार यह भी एक द्रव्य है और संसार अन्य द्रव्यों के आवस्थिक परिवर्तन में कारण होता है। संसार में उत्पन्न होने वाले समस्त कार्य द्रव्य काल द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। कारण की दृष्टि से काल समस्त कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति में निमित्त कारण होता है। भिन्न भिन्न द्रव्यों का युगपत् होना, शीघ्र होना, विलम्ब से होना, रात्रि में होना, दिनमें होना, वर्षा, शरद हेमन्त, शिशिर, वसन्त ग्रीष्म आदि किसी ऋतु में होना, वर्तमान काल में होना आदि इस प्रकार का ज्ञान केवल अनित्य (उत्पत्तिशील) द्रव्य में ही होता है। नित्य द्रव्य के विषय में उपर्युक्त प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं है। जिसके द्वारा यह ज्ञान होता है उसे काल कहते हैं।

काल शब्द की उत्पत्ति

"कलाशब्दस्य ककाराकारौ ली धातोश्च लकारमादाय "काल" शब्दस्य निष्पत्तिः।"

अर्थात् कला शब्द का 'ककार' और 'अकार' तथा 'ली' धातु का 'लकार' लेकर काल शब्द की निष्पत्ति हुई है।

इसे निम्न प्रकार से समझाना चाहिये—

कला शब्द का ककार + अकार और 'ली' धातु का 'लकार' अर्थात् क + अ + ल = काल।

काल शब्द की परिभाषा और लक्षण

१. 'कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते।' —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ६/२

२. "स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः"। —सुश्रुत, सूत्रस्थान ६/२

३. संकलयति वा भूतानीति कालः। —सुश्रुत, सूत्रस्थान ६/४

४. "कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः"।

समस्त प्राणियों का संकलन करने से वह काल कहलाता है।

५. "सुखदुःखाभ्यां भूतानि योजयतीति कालः।"

समस्त प्राणियों को जो सुख और दुःख से युक्त करता है वह काल कहलाता है

६. कलयति संक्षिपतीति कालः मृत्यु समीपं वा नयतीतिकालः"

जो आयु को घटाता है अथवा प्राणियों को मृत्यु के समीप ले जाता है वह काल कहलाता है।

७. "अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिगानि–" ।—वै द. २-२-६

अपर में अपर ज्ञान, पर में पर ज्ञान, युगपत् ज्ञान, चिग्ज्ञान, क्षिप्रज्ञान ये सब काल के चिन्ह हैं।

८. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधीर्हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ॥ —मुक्तावलि

उत्पन्न होने वाले पदार्थों का जनक जगत का आश्रय परत्व और अपरत्व बुद्धि का हेतु 'काल' है। यह काल एक होने पर भी उपाधि भेद से क्षण आदि व्यवहार वाला है।

९. कालो निमित्तं कार्याणां सर्वाधारस्तथा मतः।
परापरत्वधीर्हेतुर्नित्यो व्यापक उच्चते ॥
उपाधिभेदादेकोऽपि क्षणादिव्यवहार भाक् ॥

काल संसार के समस्त अनित्य (उत्पत्ति विनाश) कार्य द्रव्यों का निमित्त कारण, समस्त द्रव्यों का आधार, परत्व (ज्येष्ठ) और अपरत्व (कनिष्ठ) बुद्धि का कारण नित्य और व्यापक होता है।

१०. "अतीतादिव्यवहारहेतु कालः—स चैको विभुर्नित्यश्च।"

भूत, भविष्य, वर्तमान आदि व्यवहार के कारण को काल कहते हैं। वह एक, विभु (व्यापक) और नित्य होता है।

काल का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः-सूर्य क्रिया से है। बिना सूर्य क्रिया के काल की स्थिति असम्भावित है। लोक व्यवहार में भी सूर्य क्रिया के आधार पर ही काल का व्यवहार किया जाता है। जैसे-सूर्योदय होने पर प्रातः काल मध्याकाश में सूर्यस्थिति होने पर मध्यान्ह काल, सूर्यास्त के समय सायंकाल और सूर्यास्त के पश्चात् रात्रिकाल का व्यवहार सुविदित है। अतः काल का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सूर्य क्रिया से है। किसी वस्तु का उत्पन्न होना, कुछ समय तक उसका स्थित रहना एवं नियत समय आने पर उनका विनाश होना काल के ही अधीन है। वस्तु का वृद्धिगत होना भी काल की अपेक्षा रखता है। हम नित्य प्रति जो यह व्यवहार करते हैं कि अमुक बच्चा १ दिन का है और अमुक दस वष का। इस व्यवहार का कारण काल ही है। जो बच्चा एक दिन का है। वही बच्चा आगे जाकर एक वर्ष, दस वर्ष, पचास वर्ष या इससे भी अधिक का कहलाता है। इसमें काल अथवा सूर्य क्रिया की ही अपेक्षा है। यदि काल न हो अथवा सूर्य क्रिया न हो हो तो उपर्युक्त समस्त व्यवहार समाप्त हो जावेगा। ऐसी स्थिति में न किसी द्रव्य की उत्पत्ति होगी, न उसकी स्थिति होगी और न उसका विनाश होगा।

उपर्युक्त आधार पर ही द्रव्यो अथवा मनुष्यों में पर-अपर व्यवहार किया जाता है। दश वर्ष के बालक की अपेक्षा बारह वर्ष का बालक ज्येष्ठ (बड़ा) कहलाता

है यही उसका परत्व है। दश वर्ष वाला बालक कनिष्ठ (छोटा) कहलाता है। यही उसका अपरत्व है। किन्तु आठ वर्ष के बालक की अपेक्षा वही दश वर्ष वाला बालक ज्येष्ठ होने से पर है और आठ वर्ष वाला अपर। इस प्रकार संसार के समस्त द्रव्यों में परत्व और अपरत्व भाव की योजना भी काल कृत ही होती है।

आयुर्वेद के अनुसार काल भी एक द्रव्य है। आयुर्वेदोक्त द्रव्य लक्षण के अनुसार जिसमें कर्म और गुण समवाय सम्बन्ध से आश्रित हो वह द्रव्य कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार काल में भी कर्म और गुण समवाय सम्बन्ध से आश्रित होना चाहिये। सूर्य क्रिया के कारण काल भी गमनशील होता है। अतः गमन कार्य समवाय सम्बन्ध से कालाश्रित है। इसी प्रकार परत्व-अपरत्व आदि गुण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय होने के कारण 'काल' एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

काल के औपाधिक भेद

काल के विषय में कहा गया है कि वह एक, नित्य और विभु होता है। किन्तु व्यवहार में वर्तमानकाल, भूतकाल, भविष्यकाल आदि का प्रयोग होने से उसके अनेकत्व की पुष्टि होती है—ऐसी शंका कुछ लोगों द्वारा की जाती है। उनके अनुसार—"अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः" यह जो काल का लक्षण प्रतिपादित किया गया है वह भी काल के भूत, वर्तमान, भविष्य आदि भेदों की ओर संकेत करता है। इसका समाधान यह है कि क्षण, निमेष, दिन, मास, वर्ष, वर्तमान, भूत, भविष्य आदि जो काल के भेद प्रतीत होते हैं वे वस्तुतः काल के भेद न होकर उसकी उपाधियां हैं। इसीलिए काल के लक्षण में निर्दिष्ट है कि "क्षणादि स्यादुपाधितः" तथा "उपाधिभेदादेकोऽपि क्षणादि व्यवहारभाक्"। इससे स्पष्ट है कि काल तो एक ही है किन्तु उपाधि भेद से वह अनेक प्रतीत होता है। काल की उपाधियां सूर्य क्रिया से उत्पन्न होती है। अर्थात् सूर्य की गति के कारण ही क्षण, निमेष, दिन रात, मास, वर्ष आदि का निर्माण होता है। अतः समस्त उपाधियां सूर्य क्रिया की अपेक्षा रखती हैं।

सूर्य क्रिया की अपेक्षा रखने वाले काल-प्रविभाग का वर्णन महर्षि सुश्रुत ने निम्न प्रकार से किया है—

"तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषकाष्ठाकला-मूहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति।" —सु०सू० ६/३

अर्थात् भगवान सूर्य अपनी गति विशेष से उस संवत्सरात्मक काल का अक्षि, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग इस प्रकार विभाग करते हैं।

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि सुश्रुत ने आगे लिखा है—

"तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलोमुहूर्तः कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पंचदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः । तत्र माघादयो द्वादशमासाः ।'

अर्थात् अकार आदि लघु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे 'अक्षिनिमेष' या 'निमेष' कहते हैं। ऐसे पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा होती है। तीस काष्ठाओं की एक कला, बीस कला का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिन-रात), पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष वह पक्ष दो प्रकार का होता है:—शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष—इन दो पक्षों का एक मास होता है। माघ आदि कुल बारह मास होते हैं। दो-दो मास की एक ऋतु के अनुसार छः ऋतुएं होती हैं। तीन तीन ऋतुओं के दो अयन होते हैं उत्तरायण और दक्षिणायन। दो अयन अथवा छः ऋतुओं या बारहमास का एक संवत्सर या वर्ष होता है। पांच संवत्सर का एक युग होता है।

आयुर्वेद में काल का महत्त्व

आयुर्वेद में व्यवहारिक रूप से काल की उपयोगिता एवं महत्व तो है ही, किन्तु चिकित्सा, भेषज प्रयोग एवं आतुरावस्था की दृष्टि से काल का बहुत ही महत्व है। आयुर्वेद में काल का जो वर्णन किया गया है वह इसी दृष्टि से है। महर्षि चरक ने स्पष्ट रूप से काल के व्यवहारिक प्रयोग एवं आतुरावस्था सम्बन्धी प्रयोग का उल्लेख किया है। यथा—

"कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा, त्रिधा, षोढा, द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य।" —च०वि० ८/१२५

अर्थात् काल दो प्रकार होता है—संवत्सर और आतुरावस्था। इनमें संवत्सर (दक्षिणायन और उत्तरायण भेद से) दो प्रकार का, (शीत, उष्ण और वर्षा भेद से) तीन प्रकार का, (वर्षा शरद- हेमन्त–शिशिर -वसन्त -ग्रीष्म इन षड् ऋतु भेद से) छः प्रकार का (चैत, बैसाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण भाद्रपद, आश्विन्, कार्तिक, मृगशीर्ष, पोष, माघ, फाल्गुन इन द्वादशमास भेद से) बारह प्रकार का तथा इससे भी अधिक विभाग वाला होता है।

आतुरावस्था के प्रति महर्षि चरक ने निम्न मन्तव्य स्पष्ट किया है—

"आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा। तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः, कालः पुनरन्यस्येति, एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण, तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा।" —च० वि० ८/१२८

अर्थात् आतुरावस्थाओं में भी कार्य एवं अकार्य के प्रति काल और अकाल की संज्ञा होती है। जैसे रोगी की अमुक अवस्था में अमुक औषधि का अकाल है (अर्थात् अमुक अवस्था में अमुक औषधि देने योग्य नहीं है) और अमुक अवस्था में औषधकाल है। यह सब रोगी की अवस्था विशेष से होता है। इसलिए रोगी की अवस्थाओं में काल-अकाल संज्ञा होती है।

महर्षि चरक ने उपर्युक्त प्रकार से विभक्त काल की नित्यग और आवस्थिक संज्ञा भी दी है। यथा—

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च। तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतु-सात्म्यापेक्षः। —च०वि० १/३०

अर्थात् काल दो प्रकार का होता है—नित्यग और आवस्थिक। इनमे आवस्थिक काल विकार की अपेक्षा रखता है और नित्यग काल ऋतु सात्म्य की।

यहां पर संवत्सर काल को नित्यग और आवस्थिक काल को आतुरावस्था काल कहा गया है।

आयुर्वेद में रोगी को चिकित्सा के लिए जो औषधि दी जाती है—काल के अनुसार उसका बड़ा महत्व है। आयुर्वेद में इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है कि काल के अनुसार औषधि देने से अपेक्षित फल प्राप्ति (आरोग्य लाभ) होती है। इसीलिये आचार्यों ने रोगी का स्वभाव, प्रकुपित दोष, औषध-द्रव्य आदि को ध्यान में रखते हुए "औषध देने के देश काल" निर्धारित किये हैं। यथा—

१. अभक्त (खाली पेट) २. प्राग्भक्त (खाने के पूर्व) ३. अधोभक्त (खाने के बाद) ४. मध्यभक्त (भोजन के मध्य में) ५. अन्तरा भक्त (दो भोजनकाल के मध्य में) ६. सभक्त (भोजन के साथ साथ) ७. सामुद्ग(अन्नपान के पहले और बाद में) ८. मुहुर्मुहुः (बार बार) ९. सग्रास (एक या कुछ ग्रासों के साथ) १० ग्रासान्तर (दो ग्रासों के मध्य)।

इस प्रकार चिकित्सा की दृष्टि से उपर्युक्त औषध देने के दश काल का उल्लेख प्रायः सभी आचार्यों ने किया है। इसका विस्तृत विवरण सुश्रुत संहिता—उत्तर तंत्र अ० ६४, अष्टांगसंग्रह–सूत्रस्थान २३, शार्ङ्गधर संहिता प्र० खं० अ० २ तथा अ. ६. सू. १३ में देखना चाहिये। इसके अतिरिक्त वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्यकृत द्रव्यगुण-विज्ञान (उत्तरार्ध) के परिभाषा खण्ड में भी इसका विस्तृत विवरण देखा जा सकता है।

दिशा निरूपण

लोक व्यवहार में दिशा का प्रयोग पूर्व-पश्चिम आदि के लिए किया जाता है। आयुर्वेद में भी इसी रूप में दिशा का प्रयोग किया गया है। किन्तु आयुर्वेद में दिशा के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों पक्षों को समान रूप से प्रतिपादित किया गया है। दर्शन शास्त्र एवं आयुर्वेदिक दृष्टि कोण से दिशा का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—

इतइदमिति यस्तद्दिश्यं लिंगम् — वै० द० २-२-१०

अर्थात् इसकी अपेक्षा यह 'दूर' है और इसकी अपेक्षा यह 'समीप' है—इस प्रकार का ज्ञान जिसके द्वारा होता है वह 'दिशा' कहलाती है।

दूरान्तिकादि धीर्हेतुरेका नित्या दिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदेशभाक्। —मुक्तावली

अर्थात् दूर और अन्तिक (समीप) के ज्ञान का कारणभूत दिशा नित्य और व्यापक होती हैं। वह एक होते हुए भी उपाधि भेद से प्राची आदि नाम से व्यवहृत होती है।

सामान्यत: पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण इन चार दिशाओं का ज्ञान दिशा शब्द से होता है। किन्तु दिशा शब्द का व्यापक अर्थ करने पर हमारे दैनिक जीवन में इसकी व्याप्ति की अनुभूति होती है। हम यदि पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण दिशा बोधक इन चार शब्दों तक ही सीमित रहें तो उसकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहने पर भी हम इनको नहीं पा सकते। उदाहरणार्थ यदि हम पूर्व दिशा में उसकी प्राप्ति के लिए सतत बढ़ते चले जावें तो अनन्त काल तक भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अत: पूर्व पश्चिम आदि मात्र दिशा वाचक शब्द हैं।

आयुर्वेद में दिशा के व्यवहारिक पक्ष का समर्थन करते हुए दिशा शब्द का अर्थ देश या स्थान किया है। यथा—"दिशादेश: स्थानम्"। अत: व्यवहार में देश या स्थान का प्रयोग होने से उसके व्यापकत्व की और कभी उसका विनाश न होने से उसके नित्यत्व की सिद्धि होती है।

जिस प्रकार सामान्य व्यवहार में कालिक परत्व (ज्येष्ठत्व) और कालिक अपरत्व (कनिष्ठत्व) का प्रयोग होता है उसी प्रकार दैशिक परत्व और दैशिक अपरत्व का प्रयोग भी होता हैं। दैशिक परत्व का अभिप्राय दूर और दैशिक अपरत्व का अभिप्राय समीप होता है। जैसे अमुक वस्तु इससे इतनी दूर है यह दैशिक परत्व है और अमुक वस्तु इससे इतनी समीप है—यह दैशिक अपरत्व है। इस प्रकार दूरत्व

का अभिप्राय दैशिक परत्व और अन्तिकत्व (समीपत्व) का अभिप्राय दैशिक अपरत्व होता है। इन दोनों (दूरत्व और अन्तिकत्व) का हेतु दिशा है।

व्यवहार में इसका प्रयोग प्रभूत रूप में होता है कि अमुक वस्तु दूर है अथवा अमुक वस्तु समीप है। समीप देश (स्थान) में विद्यमान मूर्त द्रव्य में दिशाकृत परत्व होता है। इसी प्रकार दूर देश में विद्यमान घट आदि मूर्त द्रव्य की अपेक्षा समीप देश में विद्यमान मूर्त द्रव्य में दिशा कृत अपरत्व होता है। इसी आधार पर दिशा की द्रव्यत्व सिद्धि भी की गई है। अर्थात् परत्व-अपरत्व ये दोनों गुण होते हैं। घट आदि मूर्तद्रव्य में जिस प्रकार रूप आदि गुण जन्य होते हैं उसी प्रकार परत्व-अपरत्व गुण भी जन्य हैं। जन्य गुण सदैव असमवायि कारण के द्वारा जन्य होता है और असमवायिकारण संयोग दो द्रव्यों का ही हो सकता है। यहां घट आदि एक द्रव्य तो विद्यमान है, उसमें परत्व-अपरत्व गुणोत्पादक असमवायिकारण संयोग रूप अन्य द्रव्य होना चाहिये वह अन्य द्रव्य दिशा ही है।

आयुर्वेद सम्मत द्रव्य लक्षण के अनुसार द्रव्य में गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से होना चाहिए। दिशा में संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग गुण समवायि रूप से विद्यमान रहते हैं और द्रव्यों में दूरत्व या अन्तिकत्व उत्पन्न करना ये कर्म भी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस प्रकार दिशा के द्रव्यत्व की सिद्धि होती है।

लोक व्यवहार में प्रधानतः चार दिशाओं का प्रयोग होता है, पूर्व-पश्चिम-उत्तर दक्षिण। दिशा का यह चतुर्विधत्व अथवा नानाविधत्व केवल औपधिक है, वास्तविक नहीं। दिशा की उपाधि आदित्य संयोग है। आदित्य संयोग रूप उपाधि होने से ही दिशा में पूर्व पश्चिम आदि का व्यवहार होता है। वस्तुतः दिशा एक ही है। पूर्व दिशा को 'प्राची' पश्चिम दिशा को 'प्रतीची' उत्तर दिशा को 'उदीची' और दक्षिण दिशा को 'अवाची' भी कहा गया है। इसके क्रमशः निम्न लक्षण हैं।—

१. प्राची (पूर्व दिशा)--'आदित्यसंयोगात् भूतपूर्वाद् भविष्यतः भूताच्च प्राची' अर्थात् भूत भविष्य और वर्तमान काल में होने वाले सूय के सयोग से दिशा की 'प्राची' संज्ञा है। अथवा 'प्रागस्यामचति सूर्यः इति प्राची' अथवा "प्रथममज्यतीति प्राची" अर्थात् जिस दिशा में सूर्य का उदय होता हैं। या जिस दिशा में भगवान् सूर्य का दर्शन सर्व प्रथम होता है उसको प्राची कहते हैं अथवा ,'तत्रोदयाचलसन्निहितमूर्तावच्छिन्ना दिक् प्राची" अर्थात् उदयाचल के समीप की दिशा प्राची या पूर्व कहलाती है।

२. प्रतीची (पश्चिम दिशा)– "प्रतिकूल्येनास्यामञ्चति सूर्यं इति प्रतीची" अथवा "प्रत्यक् अञ्चतीति प्रतीची" अर्थात् जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है या जिस दिशा में भगवान सूर्य का दर्शन अन्त में होता है उसे 'प्रतीची' या 'पश्चिम' दिशा

कहते हैं। अथवा "तद् व्यवहितमूर्तावच्छिन्ना (अस्ताचलसन्निहिता) च दिक् प्रतीची" अर्थात् उसके (पूर्व दिशा के) विपरीत अस्ताचल (जहां भगवान सूर्य का अस्त होता है) के समीप की दिशा 'प्रतीची' या पश्चिम कहलाती है।

३. उदीची (उत्तर दिशा) --"उदगस्यामञ्चति सूर्य इति उदीची" अथवा "उदगञ्चतीति उदीची" अर्थात् जिस दिशा में सूर्य–संयोग ऊचे होकर गमन करते हैं या पूर्वाभिमुख स्थित होने पर वाम हस्त की ओर वाली दिशा उदीची या उत्तर–दिशा कहलाती हैं। अथवा "मेरूसन्निहित मूर्तावछिन्ना दिगुदीची" अर्थात् सुमेरु पर्वत के समीप में स्थित दिशा को उदीची या उत्तर-दिशा कहते हैं।

४. अवाची (दक्षिण दिशा) "अर्वागस्यामञ्चति सूर्य इति आवाची" अथवा "अर्वागञ्चतीति अवाची" अर्थात् जिस दिशा में सूर्य-संयोग नीचे होकर होता हों या पूर्वाभिमुख होने पर दक्षिण (दाहिने हाथ की ओर वाली दिशा को अवाची या दक्षिण दिशा कहते हैं।) अथवा "तद् व्यवहृतमूर्त्तावच्छिन्ना तु दिग्दक्षिणा" अर्थात् उसके (उत्तर दिशा के) विपरीत दिशा को दक्षिण दिशा कहते हैं।

—०—

आत्मा निरूपण

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महभूतों तथा काल और दिशा द्रव्यों के अनन्तर अष्टम द्रव्य आत्मा का निरुपण किया जा रहा है। आयुर्वेद में आत्मा की गणना द्रव्यों के अन्तर्गत की गई है। यह आयुर्वेद का सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण द्रव्य हैं। वैसे तो समस्त द्रव्यों एवं पदार्थों की उपयोगिता एवं महत्ता अपने अपने स्थान पर है तथापि आत्मा को विशेष महत्व दिया गया है। इसके अनेक कारण हैं जिनका उल्लेख आगे प्रसगवश किया जायगा। यहां एक बात यह स्मरणीय है कि आयुर्वेद में आत्मा के लिए "पुरुष" शब्द का व्यवहार किया गया है। इसकी सार्थकता में भी अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। यद्यपि आत्मा एक ऐसा रहस्यमय गूढ़ तत्व है कि उसके मर्म ज्ञानोपलब्धि हेतु अनेक मनीषियों, योगियों एवं ऋषियों ने अपने जीवन का व्युत्सर्ग कर दिया। समस्त भारतीय दर्शन शास्त्रों में आत्मा सम्बन्धी गहनतम विवेचन विस्तृत रूपेण प्रस्तुत किया गया है। तथापि आयुर्वेद मे आत्मा के विषय में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन किया गया हैं तथा कुछ ऐसे तथ्य स्वीकार किए गए हैं जो आयुर्वेद के क्षेत्र तक ही सीमित हैं और आयुर्वेद के लिए ही जिनकी विशेष उपयोगिता है। अत: यह आवश्यक है कि आयुर्वेद में आत्मा के सम्बन्ध में जिन तथ्यों का प्रतिपादन जिस रूप में किया गया है उसे उसी रूप में समझ कर ग्रहण किया जाय।

आत्मा का लक्षण

ज्ञानाधिकरणं ह्यात्मा निर्विकारोऽद्वितीयकः।
अनादिनिधिनो व्यापी जीवो सोपाधिकस्तु सः॥
उपाधिपरिनिर्मुक्तः केवलत्वं प्रपद्यते॥

अर्थात् आत्मा ज्ञान का अधिकरण, निर्विकार, अद्वितीय, अनादि, अनन्त और व्यापक होता है। वही आत्मा उपाधि विशिष्ट से युक्त होने पर जीव सज्ञा द्वारा व्यवहृत होता है। अर्थात जीव कहलाता है। उपाधियों से रहित होकर जीव केवल विशुद्ध आत्म स्वरूप होता है। तब वह मुक्ति अथवा मोक्ष को प्राप्त होता है।

'ज्ञानादि करणमात्मा—अधिकरणपदं समवायेन ज्ञाना श्रयत्वलाभार्थम। भूतला दिवारणाय ज्ञानेति, कालादिवारणाय समवायेनेत्यपि देयम्। अतो लक्षण फलितम् ज्ञानवानात्मा आत्मत्वसामान्यवान् वा।"

आत्मा ज्ञान का अधिकरण (आश्रय) है। यहाँ अधिकरण पद समवाय रूप से आत्मा में ज्ञानाश्रयत्व प्रतिपादन के लिए दिया गया है। पृथ्वी आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति निवारण हेतु ज्ञान पद तथा काल आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति निवारण

हेतु समवाय पद का प्रयोग किया गया। अत: लक्षण यह हुआ-आत्मा ज्ञानवान् अथवा आत्मत्व सामान्यवान् होता है।

आत्मा सम्बन्धी उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार आत्मा ज्ञान का अधिकरण है। अर्थात् जो द्रव्य समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय है उसे आत्मा कहते हैं। सामान्यत: हमें जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने के पश्चात् आत्मा को ही होता है। इन्द्रिय और अर्थ के सान्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और मन इन आठ द्रव्यो मे से किसी में भी नहीं रहता। वह ज्ञान इन आठ द्रव्यों के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य मे रहता है। क्योंकि ज्ञान गुण है और गुण किसी द्रव्य विशेष का आश्रय करके ही रहता है। गुण बिना द्रव्य के रह नहीं सकता। द्रव्य के बिना गुण का कोई अस्तित्व नही रहता। द्रव्यों की संख्या नौ बतलाई गई है। नौ के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य नहीं होता। पृथ्वी आदि उपर्युक्त आठ द्रव्यों में ज्ञान गुण नहीं होता। अत: उपर्युक्त आठ द्रव्यों के अतिरिक्त नवम द्रव्य को ही ज्ञान का आश्रय स्वीकार किया जायगा। वह नवम द्रव्य आत्मा है। इस प्रकार ज्ञानाधिकरण नवम द्रव्य आत्मा की सिद्धि अनुमान द्वारा होती है।

इसके अतिरिक्त तथ्यपूर्ण तर्क के आधार पर भी ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा की सिद्धि होती है। ज्ञान गुण है और वह मानस प्रत्यक्ष होता है। महभूतों के रूप, रस, गन्ध आदि गुण मानस प्रत्यक्ष नहीं होते। केवल चक्षु, रसना, घ्राण आदि के प्रत्यक्ष होते हैं। ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही होता। अत: ज्ञान महाभूतों का गुण नहीं हो सकता। ज्ञान एक विशेष गुण होता है तथा अपने आश्रय द्रव्य मे समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस दृष्टि मे ज्ञान काल और दिशा का गुण भी नहीं हो सकता। क्योंकि काल आदि में विशेष गुण नहीं होता तथा समवाय सम्बन्ध से काल आदि में ज्ञान का अभाव है। अत: ज्ञान आत्मा का विशेष गुण है और वह आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार तर्क द्वारा आत्मा और उसके अधिकरणत्व की सिद्धि होती है। उपनिषदों में आत्मा को ज्ञानरूप मान कर उसका विवेचन किया गया है। किन्तु यहां आत्मा को ज्ञानरूप गुण का अधिकरण माना है। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद में आत्मा को द्रव्य माना गया है। ग्रन्थ में प्रतिपादित द्रव्य के लक्षण के अनुसार किसी भी द्रव्य में गुण और कर्म का समवाय रूप से रहना अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। जो द्रव्य समवाय रूप से किसी गुण और कर्म का आश्रय नहीं है वह द्रव्य नहीं हो सकता। इस सैद्धान्तिक दृष्टि से आत्मा ज्ञान गुण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय है। अत: आत्मा एक द्रव्य है।

आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जो चक्षुओं द्वारा देखा नहीं जा सकता, श्रोत्र द्वारा जिसका कोई शब्द नहीं सुना जा सकता, त्वक् द्वारा उसका कोई स्पर्श नहीं किया जा

सकता, रसना द्वारा जिसका कोई आस्वादन नहीं किया जा सकता और घ्राण द्वारा जो सूंघा नहीं जा सकता अर्थात् भौतिक इन्द्रियों द्वारा वह ग्राह्य नहीं है। अनुमान द्वारा उनकी सिद्धि सम्भावित है। आप्तवचन अथवा आगम उसकी सिद्धि में प्रमाण हैं। तथापि कुछ मूढ़मति वाले लोग भ्रमवशात् चैतन्य युक्त होने से शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं और कुछ लोग इन्द्रियों में ही आत्मा का व्यवहार करने लगते हैं। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञानोपलब्धि होती है। इसके अतिरिक्त कुछ अल्पज्ञ जन मन को ही आत्मा समझ लेते हैं। क्योंकि मनसा संयुक्त इन्द्रियां ही ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती हैं। इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह है कि शरीर, इन्द्रियां और मन से भिन्न आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। इसी तथ्य का प्रतिपादन मुक्तावलि की निम्न कारिका में निम्न प्रकार से किया गया है —

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता कारणं हि सकर्तृकम् ।
शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचारतः ।।
तथात्वं चेन्द्रियाणामुपघाते कथ स्मृतिः ।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।।

अर्थात् आत्मा इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, क्योंकि कारणों का कोई न कोई कर्ता (अधिष्ठाता) अवश्य होता है। चेतनता शरीर का गुण नहीं है, क्योंकि मृत्यु हो जाने पर शरीर में चैतन्य का अभाव पाया जाता है। मृत में व्यभिचार होने से शरीर में चैतन्य नहीं होता। चेतनता इन्द्रियों का गुण मानने पर इन्द्रियों के उपघात होने पर इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत विषयों का स्मरण कैसे होगा ? इसी भांति मन भी चैतन्यवान नहीं है। क्योंकि मन के अन्दर रहने वाले ज्ञान, सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि वह स्वयं अणु परिमाण वाला है।

आत्मा एक शाश्वत, अविनाशी, नित्य द्रव्य है। अतः उसका उपघात या विनाश कभी नहीं होता। आत्मा में बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि गुणों का निवास रहता है। शरीर, इन्द्रिय और मन में इन गुणों का सर्वथा अभाव रहता है। अतः आत्मा शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न एक स्वतन्त्र सत्तावान् द्रव्य है। शरीर द्वारा अनेक बार जो 'अहं' शब्द का प्रयोग होता है वह शरीर के लिए न होकर वस्तुतः आत्मा के लिए ही होता है। यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि आत्मा का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता नहीं है शरीर का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, 'अहं' शब्द का व्यवहार भी तत्कालीन प्रत्यक्षगम्य शरीर के लिए ही होता है। अतः शरीर को ही आत्मा मान लेना उपयुक्त है। इससे भिन्न वस्तु की कल्पना निरर्थक है। इस शंका का समाधान निम्न प्रकार से किया गया है-यदि शरीर को ही आत्मा मानेंगे तो मृत शरीर में भी इसका व्यभिचार होगा। अर्थात् चैतन्य आत्मा का स्वभाव है और

ज्ञान आत्मा का गुण है। मृत शरीर में चैतन्य का सर्वथा अभाव होता है। अतः शरीर आत्मा नहीं हो सकता। ज्ञान गुण का अभाव जीवित और मृत दोनों प्रकार के शरीर में होता है। जबकि ज्ञान गुण उसमें समवाय सम्बन्ध से अनिवार्य रूपेण होना चाहिए। जिसमें ज्ञान गुण समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता वह आत्मा नही हो सकता। अतः ज्ञान गुण और चैतन्य धर्म वाला आत्मा स्वतन्त्र सत्तावान् शरीर से सर्वथा पृथक द्रव्य है। इसके अतिरिक्त शरीर को आत्मा मानने में एक यह भी आपत्ति है कि शरीर के हस्त पाद आदि अवयवों के विनष्ट हो जाने पर शरीर का भी विनाश हो जाता है। शरीर को ही आत्मा मान लेने पर आत्मा का भी विनाश हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। 'अह' शब्द का प्रयोग भी मृत शरीर द्वारा नहीं किया जाता है। अतः शरीर आत्मा नहीं है।

इन्द्रियां भी आत्मा नहीं हैं। क्योंकि इन्द्रियां भौतिक होती हैं और वे भौतिक गुणों एवं भौतिक विषयों को ही ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। समवायत्वेन इन्द्रियों में ज्ञान गुण का अभाव होता है, वे तो केवल भौतिक अर्थ (विषय) को ही ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों में चैतन्य का भी सर्वथा अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों को ही आत्मा मान लेने पर इन्द्रियों की भाँति आत्मा का भी पंचविधत्व स्वीकार करना पड़ेगा। जब कि शरीरान्तर्गत आत्मा एक ही होता है। उपर्युक्त स्थिति में इन्द्रियों के द्वारा ग्रहीत वस्तु का ज्ञान भी भिन्न भिन्न इन्द्रिय के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार का होगा और वह वस्तु एक न होकर दो, तीन, चार या पांच हो सकती है। अर्थात् जिस इन्द्रिय के द्वारा उस वस्तु का ग्रहण किया जायगा वह वस्तु तदिन्द्रिय जनित ज्ञानरूप होगी। उसके पश्चात् दूसरी इन्द्रिय द्वारा उसी वस्तु का ग्रहण किए जाने पर तज्जनित ज्ञान भी भिन्न प्रकार का होगा और उस ज्ञान के आधार पर वही वस्तु प्रथम इन्द्रिय द्वारा ग्रहीत वस्तु से सर्वथा भिन्न प्रतीत होगी। इस भांति तृतीय इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए जाने पर पुनः उसमें भिन्नता की प्रतीति होगी। इस प्रकार एक ही वस्तु भिन्न इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए जाने पर उस में द्वैविध्य, त्रैविध्य, चातुर्विध्य या पांचविध्य उत्पन्न हो जायगा। इसके विपरीत जब हम अपनी आंखों से किसी वस्तु को देखते हैं तथा रुचिकर होने पर उसे हम अपने हाथों से छूते भी हैं, आवश्यकता पड़ने पर उसे सूंघते भी हैं और अन्त में उसे खा भी लेते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में हमारा ज्ञान यह रहता है कि वस्तु एक ही है। किन्तु इन्द्रियों का आत्मत्व स्वीकार कर लेने पर वस्तु का ज्ञान एकात्मक न होकर चतुर्विधात्मक होगा। ऐसी स्थिति में वस्तु का सम्यक् ज्ञान होने में बाधा उत्पन्न होती है। किन्तु इन्द्रिय व्यतिरिक्त शरीरान्तर्गत स्वतन्त्र एक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने में यह बाधा या अव्यवस्थ उत्पन्न नहीं होती।

प्रायः देखा जाता है कि इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु का ग्रहण किए जाने पर

तज्जनित ज्ञान की स्मृति चिर काल तक बनी रहती है। किंचित् कालोपरान्त उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर या इन्द्रियोपघात हो जाने पर भी तज्जनित ज्ञान की स्मृति बनी रहती है। इन्द्रिय को ही आत्मा मान लिया जाय तो इन्द्रिय के विनाश हो जाने पर तज्जनित ज्ञान का भी विनाश हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इन्द्रियोपघात के अनन्तर भी आत्मा में तज्जनित ज्ञान की स्मृति सुरक्षित रहती है। अतः इन्द्रिय से भिन्न आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

इसी प्रकार अनुभव से यह भी सिद्ध है कि एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर भी पडता है। उदाहरणतः अपने समीपस्थ व्यक्ति को रसगुल्ला खाता हुआ देख कर देखने वाले उस व्यक्ति के मुख से लालास्राव होने लगता (लार टपकने लगती) है। इससे प्रतीत होता है कि एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर भी पड़ता है। इसका कारण यह है कि जिसके मुख से लालास्राव होने लगता (लार टपकने लगती) है उसने पूर्व में कभी रसगुल्ले का आस्वादन किया है। जिसका स्मरण उसे पुनः रसगुल्ला देखने पर हुआ। उस पूर्व में आस्वादित रसगुल्ले के मधुर रस के कारण ही वर्तमान में उसी के आस्वादन का पुनः स्मरण हो आया। ऐसी स्थिति में प्रथमावस्था में अनुभवकर्ता एव बाद में स्मरणकर्ता का एक होना आवश्यक है। इन्द्रियों को आत्मा मानने से एतद्विध अनुभूतिजन्य स्मृति असम्भव है। क्योंकि जो इन्द्रिय अनुभवकर्ता होगी उसे ही स्मरणकर्ता भी होना चाहिए। अतः ऐसी स्थिति में एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर नहीं पड़ना चाहिए। किन्तु अनुभवकर्ता एव स्मरणकर्ता आत्मा एक होने से ऐसा होना सभंव है। अतः आत्मा इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न द्रव्य है। इन्द्रियों में आत्मत्व या चैतन्य स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब पुनः यह शंका होती है कि यदि शरीर और इन्द्रियों को आत्मा मानने में व्यवधान होता है तो मन को ही आत्मा मान लेना चाहिए। क्योंकि मन नित्य होता है और उसी के सयोग से इन्द्रियां अपने विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त होती हैं। अतः मन को ही आत्मा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हैं। इसके समाधान के लिए कहा गया है कि मन को भी आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि मन नित्य है, किन्तु आत्मा के लिए केवल नित्यत्व होना ही आवश्यक नही है। मन अणुरूप होता है और अणु द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः मन भी प्रत्यक्ष द्रव्य नहीं है। जिन द्रव्यों मे इन्द्रिय गोचरता होती है वे ही प्रत्यक्ष द्रव्य कहलाते हैं। अर्थात् इनका ज्ञान देखकर, सुनकर, सूंघकर, स्पर्शकर अथवा चखकर किया जा सकता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष के लिए उनमें महत्व परिमाण तथा उद्भूतरुपत्व का होना अनिवार्य है। परमाणु और द्व्यणुक अप्रत्यक्ष होते हैं। इसके बाद से त्रसरेणु आदि प्रत्यक्ष होते हैं। क्योंकि उनमें महत्व

और उद्भूतरूपत्व दोनो विद्यमान रहते हैं। आत्मा मानस प्रत्यक्ष होता है। मन अणु-रूप होने से प्रत्यक्ष नहीं है। यदि मन को ही आत्मा मान लिया जाय तो आत्मा में में होने वाले समस्त दुःख सुख, इच्छा–द्वेष, आदि गुण मन के भी हो जायेंगे। किन्तु मन का प्रत्यक्ष न होने से उसमें विद्यमान सुख-दुःख आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। इससे बड़ी बिडम्बना उत्पन्न हो जायगी। अतः मन में आत्मत्व सिद्धि नितान्त असम्भाव्य है। आत्मा संज्ञावान् मन से पृथक एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

"इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः।" (वै० द: ३।१।२)

अर्थात् इन्द्रिय तथा उसके गन्धादि विषयों में यह चक्षु है, यह रूप है, इस प्रकार ज्ञान का इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न प्रकार के द्रव्य की सिद्धि में हेतु हैं। जिस प्रकार घट निर्माण प्रक्रिया के साधनभूत दड, कुलाल, चक्र, मिट्टी, पानी आदि का प्रयोग करने वाला इन साधनों से सर्वथा भिन्न होता है, उसी प्रकार ज्ञान के साधनभूत चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रेरक भी उन इन्द्रियों से भिन्न है, क्योंकि जो प्रेरक है वह साधनों से भिन्न होता है, यह नियम है। इस नियम के अनुसार जो चक्षु आदि इन्द्रियों को रूप आदि विषयों में प्रेरित करता है वह एक स्वतन्त्र सत्तावान् द्रव्य है। वही आत्मा शब्द से व्यवहृत होता है।

सामान्यतः आत्मा दो प्रकार का होता है-जीवात्मा और परमात्मा। सर्व शरीरों में अवस्थित, शरीर के माध्यम से समस्त कर्मों का कर्ता तथा कर्मफल का भोक्ता जीवात्मा ही होता है। यह जीवात्मा ही सुख-दुःख आदि के ज्ञान का समवाय सम्बन्ध से अधिकरण, अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाला होता है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि आध्यात्मिक गुणों का आश्रय यह जीवात्मा ही है। यह प्रति शरीर भिन्न भिन्न होता है तथा नित्य और विभु होता है। आत्मा जब शरीर, इन्द्रिय और मन से संयुक्त होकर विविध योनियों में भ्रमित होता है तब वह जीवात्मा सज्ञा को धारण करता है। कर्मों का कर्ता एव कर्मफल का भोक्ता होने से यह जीवात्मा बन्धन और मोक्ष के योग्य होता है। परमात्मा इससे भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नित्य, ज्ञान का अधिकरण 'ईश्वर' कहलाता है। वह नित्य व्यापक तथा एक होता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द रहित होने से वह बाह्य प्रत्यक्षगम्य नहीं है। सुख-दुःख आदि से परे होने के कारण इसका आन्तर (मानस) प्रत्यक्ष भी सर्वथा असम्भव है। अतः अनुमान एवं आप्त वचन ही ईश्वर की सत्ता में प्रमाणभूत होते हैं। संसार में जितने भी कार्य द्रव्य उपलब्ध होते हैं उनका कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। बिना कर्ता के कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति असम्भावित है। इसी भांति द्व्यणुक बीजों के उत्पन्न होने वाले अंकुरों आदि का भी कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। मनुष्य की शक्ति इनके मूल निर्माण या मूल उत्पत्ति में सर्वथा असमर्थ है। अतः ईश्वर ही इनका कर्ता है। इस तथ्य की पुष्टि

स्वतः हो जाती है। वह ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का कर्ता, नियन्ता और संहारकर्ता है। इस तरह जीवात्मा और परमात्मा भेद से आत्मा दो प्रकार का होता है। जीवात्मा और परमात्मा सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह निकलता है कि अनित्य ज्ञान और इच्छादि का समवायी कारण जीवात्मा तथा नित्य ज्ञान और इच्छा आदि का अधिकरण परमात्मा (ईश्वर) है।

आयुर्वेद सम्मत आत्मा और उसके भेद

आयुर्वेद में आत्मा के विषय में उतना ही विशद एवं व्यापक विवेचन किया गया है जितना दर्शन शास्त्रों में किया गया है। किन्तु दोनों के उद्देश्य में अन्तर है। दर्शन शास्त्रों में आत्म तत्व का विवेचन उसकी मुक्ति या कैवल्य के लिए किया गया है। संसार की विविध योनियों में भ्रमित होने वाले आत्मा को कर्म बन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु आयुर्वेद में आत्म तत्व का विवेचन भिन्न प्रयोजन से किया गया है। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर पुरुष के विकार का प्रशमन करना है। इसके लिए शरीर, सत्व और इन्द्रियों से अधिष्ठित आत्मा ही अभिप्रेत है। यही स्वास्थ्य, रोग और चिकित्सा का विषय है। स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोगों के उपशमन के लिए आयुर्वेद में आत्मा रहित शरीर, सत्व और इन्द्रियों का कोई महत्व नहीं है। इसी भाँति शरीर, सत्व और इन्द्रियों से रहित आत्मा का भी कोई महत्व नहीं है। क्योंकि केवल आत्मा या केवल शरीर का रोगग्रस्त होना संभव नहीं है। अतः उसकी चिकित्सा का भी प्रश्न नहीं उठता। यद्यपि आयुर्वेद में आत्मा की मुक्ति या कर्म बन्धन से छुटकारे अथवा जन्म-मरण से छुटकारे का भी वर्णन है किन्तु वह प्रसंगवश एवं गौण रूप से है। मुख्य रूप से आत्मा युक्त शरीर की चिकित्सा करना या उसे रोग मुक्त करना ही उद्देश्य है। इसीलिए आयुर्वेद में मोक्ष को विशेष महत्व न देकर धर्म, अर्थ और काम को ही विशेष महत्व दिया गया है। क्योंकि इह लौकिक जन्म में सशरीर आत्मा के लिए ये तीन साध्य हैं। इन समस्त कारणों से आयुर्वेद में आत्मा को 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत किया गया है। पुरुष शब्द अपने आप में परिपूर्ण एवं सार्थक शब्द है। पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार "पुरि शरीरे शेते वसति इति पुरुषः" अर्थात् जो शरीर में निवास करता है वह पुरुष है। आयुर्वेदाभिमत आत्मा के लिए यह अर्थ अत्यन्त उपयोगी, महत्वपूर्ण एवं सार्थक है। आयुर्वेद में आत्मा या पुरुष के तीन प्रकार स्वीकृत किए गए हैं। अर्थात् उसके तीन स्वरुप होते हैं—१-परम आत्मा या परम पुरुष २-आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) युक्त आत्मा, ३-स्थूल चेतन शरीर या कर्मपुरुष

१–परम आत्मा या परम पुरुष

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः ।
चैतन्ये कारणं नित्यो दृष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/५६

परम आत्मा निर्विकार होता है। वही आत्मा जब सत्व (मन), भूत (पंच महाभूत), गुण (महाभूतों के गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध या सत्व-रज-तम) और दस इन्द्रियों से युक्त होता है तब वह चैतन्य (शरीर को चेतनता प्रदान करने और ज्ञान प्राप्त करने) में कारण होता है। वह आत्मा नित्य है, समस्त चराचर जगत् का दर्शक है और क्रियाओं को देखता है।

आत्मा शब्द का व्यवहार सामान्यतः परमात्मा एवं जीवात्मा दोनों के लिए किया जाता है। यहाँ निर्मल शुद्ध स्वरूपवान् आत्मा ही परमात्मा शब्द से अभिप्रेत है। यह परमात्मा स्वभावतः निर्विकार होता है। निर्विकार का अर्थ है निर्दोष अर्थात् विकार रहित या दोष रहित। विकार का अभिप्राय यहां षड् विकारों से है। यथा जन्म मरण, अस्तित्व, विपरीत परिणाम, वृद्धि और क्षय। आत्मा इन छः प्रकार के विकारों से रहित होता है। अतः निर्विकार माना गया है। निर्विकार का अभिप्राय निर्दोष भी होता है। राग-द्वेष आदि द्वन्द्व भाव दोष कहलाते हैं। इन राग-द्वेष आदि प्रत्येक प्रकार के द्वन्द्वों से रहित होने के कारण उसे निर्दोष भी कहा जा सकता है।

यह परम आत्मा ज्ञानवान्, चैतन्यवान्, दृष्टा और नित्य होता है। यह अद्वितीय, एक और जन्म-मरण से रहित होता है। इसकी कभी उत्पत्ति न होने से अनादि तथा कभी अन्त (विनाश) न होंने से अनन्त होता है। यह परम आत्मा अतीन्द्रिय और व्यापक है। यह किसी लक्षण से वेद्य नहीं हैं, क्योंकि किसी वैशिष्ट्य युक्त वस्तु का ही किसी लक्षण विशेष द्वारा ग्रहण सम्भव है, किन्तु आत्मा तो निर्विशेष है। अतः वह किसी लक्षण विशेष द्वारा ग्राह्य नहीं है। यह चैतन्यवान् ज्ञानरूप परमात्म तत्व सत्वरूप उपाधि वैशिष्ट्य से युक्त होकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बनता है तथा विविध देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियो को प्राप्त कर स्वपूर्वोपार्जित कर्मो के अनुसार शरीर को धारण कर इतस्ततः भ्रमित होता है। जब वह आत्मा एतद्विध शरीरों को धारण करता है तो वह परमात्मा रूप न होकर जीवात्मा शब्द से व्यवहृत एवं बोधित होता है।

आत्मा नित्य होता है, किन्तु तदाश्रित ज्ञान अनित्य होता है। यदि यह शंका की जाय कि आत्मा का गुण ज्ञान जब अनित्य होता है तो उस ज्ञान गुण का अधिकरण गुणी आत्मा भी अनित्य हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द गुण के अनित्य होते

हुए भी उसका आश्रय गुणी (धर्मी) आकाश अनित्य नहीं होता। अतः आत्मा नित्य होता है। उसमें स्वभावतः उत्पत्ति और विनाश का अभाव होने से उसका नित्यत्व स्वतः सिद्ध है। इसी लिए जन्म धारण करने के अनन्तर अनुभूतिजन्य विषयों का यह अगामी जन्मान्तर में अनुसंधान करता है, जिससे वह नवजन्म में प्राप्त अज्ञात विषयों को भी ग्रहण करने में समर्थ होता है। जैसे बालक का जन्म होने के पश्चात् माताएं बालक का मुख अपने स्तन में लगाती हैं। बालक का मुख स्तन में लगने पर वह स्वतः ही स्तन को चूसने लगता है और उसमें से स्रवित होने वाले दूध को पीने लगता है। इसके लिए बच्चे को शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह बिना शिक्षा दिए ही स्तन आचूषन एवं दुग्धपान प्रारम्भ कर देता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस बच्चे ने जब इससे पूर्वजन्म धारण किया था तब भी इसी भाँति माता के स्तन का आचूषण एवं दुग्धपान किया था। उसी अनुभव के आधार पर वह आगामी जन्मान्तरों में भी उसी भांति की क्रिया करता है। यह पूर्वजन्म कृत संस्कार कहलाता है। यदि आत्मा को अनित्य मान लिया जाय तो उसे पूर्व जन्म में अनुभूत विषयों का स्मरण न होगा। उस स्मृति के अभाव में बालक की दुग्धपान की स्वतः प्रवृति एवं स्वसम्पादित क्रिया असम्भव है। क्योंकि उसमें शिक्षा का अभाव है। अतः इससे आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है।

आत्मा को 'दृष्टा' बतलाया गया है। दृष्टा का सामान्य अर्थ होता है देखने वाला। अभिप्राय यह है कि चैतन्यवान् और ज्ञानवान् आत्मा संसार के समस्त पदार्थों और उनकी समस्त पर्यायों को सर्वविध रूपेण जानता व देखता है। जिस प्रकार कोई योगी या आप्त पुरुष जिसने राग द्वेष आदि भावों से मुक्त होकर वैराग्य धारण कर लिया है तथा निर्लिप्त भाव से संसार में स्थित है, तटस्थ भावेन वह संसार की समस्त वस्तुओं का अपने ज्ञान चक्षुओं द्वारा अवलोकन करता है। राग द्वेष आदि भाव न होने के कारण वह न किसी के प्रति अनुरक्त है और न किसी से घृणा करता है, किन्तु सामान्य रूप से निर्लिप्त भावेन वह सभी को जानता व देखता है। वस्तुओं के एतद्विध दर्शन में उसे न सुखानुभूति होती है और न दुःखानुभूति। उसी भांति आत्मा भी संसार की समस्त वस्तुओं को देखता है। इसीलिए आत्मा के लिए 'दृष्टा' विशेषण का प्रयोग किया गया है। संसार के समस्त द्रव्यों के प्रति समत दृष्टि रखने के कारण वह दृष्टा आत्मा ही परमात्मा कहलाता है। यह परमात्मा सत्व और शरीर से पृथक् होने पर भी सत्व तथा शरीर के सम्पर्क में आता है और राशि पुरुष में चैतन्य का कारण बनता है। तब वही एक परमात्म, जीवात्मा संज्ञा का धारक बन जाता है और जीवात्मा संज्ञा से व्यवहृत होता है। आत्मा की उपर्युक्त दोनों ही अवस्थाओं (परमात्मा एवं जीवात्मा) में चैतन्य की स्थिति प्रत्यात्मनियत

लक्षण के रूप में होती है । सामान्यत: "चेतनस्य भाव: चैतन्यम्" अर्थात् चेतन का भाव ही चैतन्य अथवा चेतनता कहलाती है । यह चेतना यद्यपि स्वयं प्रकाशरूपा है, किन्तु पर प्रकाशिनीय है। सत्वादि के योग से आत्मगत चेतनता प्रका । जैसे राशि पुरुष में प्राणापानोन्मेषनिमेष आदि लक्षणों की अभिव्यक्ति तब ही होती है जब वह राशिपुरुषगत आत्मा शरीरगत मन, इन्द्रिय तथा भूतगुण शब्द आदि विषयों के सम्पर्क में आता है । तब चतना का प्रकाश तथा भौतिक विषयों की ज्ञानोपलब्धि होती है। इस प्रकार आत्माश्रित इन्द्रिय द्वारा विषयों के सन्निकर्ष से जो ज्ञान समुत्पन्न होता है वह आत्मस्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न है । क्योंकि इस ज्ञान में प्रथम आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, तदनन्तर आत्मसंयुक्त मन का इन्द्रियों के साथ और मन संयुक्त इन्द्रिय का अपने विषय के साथ संयोग होता है । इसके पश्चात् ज्ञान की समुत्पत्ति होती है । भौतिक विषयों के ज्ञान का यही समुत्पत्ति क्रम है । ये मन और इन्द्रिय जड़ होने के कारण विषयों में स्वत: प्रवृत्त नहीं हो सकते । किन्तु आत्मा के संयोग और तज्जनित प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं । इस प्रकार आत्मा द्वारा विषयों में प्रेरित किए गए मन और इन्द्रियां आत्माधिष्ठित या आत्माश्रित कहलाती हैं ।

उपर्युक्त रूप से आत्माश्रित हुई चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रत्येक रूप आदि विषयों के साथ संयुक्त, संयुक्त समवाय, संयुक्तसमवेत समवाय, आदि सन्निकर्ष द्वारा विषयों का जो ग्रहण व ज्ञान होता है वह जन्य (उत्पत्तिशील) होने से आत्मा के स्वरूप ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है । अर्थात् नित्य आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है और जन्य ज्ञान वाला होने के कारण जीवात्मा चेतन नहीं, किन्तु चिद्रूप होने से चेतन और जन्य ज्ञान का साक्षी या दृष्टा है । इस अभिप्राय से उपर्युक्त श्लोक में आत्मा को दृष्टा अर्थात् समस्त क्रियाओं को देखने वाला कहा गया है ।

ज्ञ: साक्षीत्युच्यते नाज्ञ: साक्षी त्वात्मा यत: स्मृत: ।
सर्वे भावा: हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिका: ।।

– चरकसंहिता, शारीर स्थान १/८३

जो (ज्ञ) ज्ञाता अर्थात् जानने वाला होता है वही साक्षी होता है, अज्ञ (अज्ञानी) नहीं । आत्मा ही ज्ञ अर्थात् ज्ञाता या जानने वाला है । अत: आत्मा को ही साक्षी माना जाता है । समस्त महाभूतों के समस्तभाव (कार्य) आत्मा की साक्षी में ही होते हैं ।

ऊपर आत्मा के लिए दृष्टा विशेषण का प्रयोग किया गया है । यहाँ पर उसी आत्मा को दृष्टा होने के कारण साक्षी बतलाया गया है । वस्तुत: जो दृष्टा होगा

वही साक्षी बन सकता है, अन्य नहीं। सामान्य अर्थ में साक्षी 'गवाह' को कहा जाता है। आत्मा को भी इसी रूप में साक्षी कहा गया है। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है - "साक्षीभूतश्च कस्यायं कर्त्ता ह्यन्यो न विद्यते ?" अर्थात् जब आत्मा के पूर्व कोई वस्तु नहीं है तब यह गावह किसका है ? इसी प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त श्लोक में दिया गया है। बतलाया गया है कि कार्य के पूर्व जो सदा वर्तमान रहता है, वह होने वाले कार्य स्वरूप महाभूतों का साक्षी (गवाह) तो होगा ही। क्योंकि वह सभी की उत्पत्ति को देखता है। आयुर्वेद के मतानुसार 'खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः" से पच महाभूत और आत्मा के संयोग को पुरुष कहते हैं। अतः महाभूतों के समस्त कार्य आत्मा के साक्षित्व में ही सम्पादित होते हैं। इसके अतिरिक्त राशि पुरुष के चतुर्विंशति तत्वों में महदादि भाव आत्मा की साक्षी में ही होते हैं। इस प्रकार संसार के समस्त भावों की उत्पत्ति आत्म साक्षी पूर्वक मानी गई है। अतः आत्मा को साक्षी कहा गया है।

एतद्विध रूपेण आत्मा के लिए द्रष्टा, ज्ञ, साक्षी आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो सार्थक रूप में प्रयुक्त होने से तद्वाचक पर्याय के रूप में व्यवहृत होते हैं। आत्मा के इन पर्यायवाचक शब्दों द्वारा आत्मा में ज्ञान के नित्य अस्तित्व का बोध होता है। यहां यह स्मरणीय है कि आत्मा में रहने वाला नित्य ज्ञान उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न है जो आत्मा का सयोग होने पर मन और इन्द्रिय द्वारा समुत्पन्न होता है। क्योंकि इन्द्रिय और मानस जन्य ज्ञान समुत्पत्तिशील है तथा भौतिक साधनों एवं विषयों से सम्बन्धित है। अतः अनित्य होता है। इसके विपरीत आत्म स्वरूपभूत ज्ञान जो आत्मा में सर्वदा विद्यमान रहता है, पुनः पुनः उत्पत्तिशील नहीं होने से नित्य एवं शाश्वत होता है। आत्मा उस शाश्वत नित्य ज्ञान का आश्रय या अधिकरण है।

अव्यक्तात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः।

– चरक संहिता, शारीरस्थान १/६१

वह आत्मा (परमात्मा) अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय होता है।

आयुर्वेद में 'अव्यक्त' शब्द का व्यवहार आत्मा (परमात्मा) अथवा प्रकृति-पुरुष के लिए किया जाता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रकृति-पुरुष का संयुक्त स्वरूप ही अव्यक्त कहलाता है और वह अव्यक्त ही सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। सांख्य शास्त्र में केवल प्रकृति को ही सृष्टि का कारण माना गया है और वह प्रकृति ही अव्यक्त पद वाच्य है। किन्तु इसके अतिरिक्त जहां आत्मा के नित्यत्वानित्यत्व (स नित्यः किमनित्यो निर्दशितः) का प्रश्न उत्पन्न होता है वहां अव्यक्त पद से केवल आत्मा का ही ग्रहण होता है और व्यक्त पद से राशि पुरुष लिया जाता है। अव्यक्त पुरुष

नित्य और व्यक्त राशि पुरुष अनित्य होता है। व्यक्त राशि पुरुष का ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा होता है और अव्यक्त पुरुष परमात्मा का केवल लिंग अर्थात् लक्षण या अनुमान द्वारा ही ज्ञान किया जा सकता है। वह अतीन्द्रिय होने से भौतिक इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। महर्षि चरक ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिंगग्राह्यमतीन्द्रियम्॥

– चरक संहिता, शारीर स्थान १/६२

अर्थात् जिसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है वह व्यक्त और ऐन्द्रियक होता है। इससे भिन्न जो होता है वह अव्यक्त कहलाता है। अव्यक्त अतीन्द्रिय होता है और केवल लिंग (लक्षण या अनुमान) द्वारा ही वह ग्राह्य होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में अव्यक्त पद का प्रयोग परमात्मा के लिए ही किया गया है–क्योंकि वह इन्द्रियातीत (अतीन्द्रिय), इन्द्रियागोचर (इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य) और इन्द्रियों द्वारा अज्ञेय है। वह परमात्मा प्रकृति तथा उससे उत्पन्न द्रव्य जिन्हें क्षेत्र कहा जाता है उनका ज्ञाता होने से क्षेत्रज्ञ कहलाता है। वह उत्पत्ति और विनाश से रहित है, अनादि निधन है। अतः शाश्वत माना जाता है। वह सर्वगत एवं सर्वत्र व्यापक होने से विभु कहलाता है तथा उसका कभी ह्रास या क्षय (व्यय) नहीं होता। अतः वह अव्यय होता है। इस प्रकार परम पुरुष या परम आत्मा अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु, अव्यय आदि विशेषणों से युक्त होता है।

"अनादि पुरुषो नित्यः।" – चरक संहिता, शारीरस्थान १/५३
"प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः।" चरक संहिता, शारीर स्थान १/५३
"विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्।" चरक संहिता, शारीर स्थान १८०

आत्मा सम्बन्धी इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा चुका है कि परम पुरुष या परमात्मा आदि (उत्पत्ति) और अन्त (विनाश) से रहित होने से अनाद्यनन्त है और अनाद्यनंत होने से नित्य या शाश्वत है। वह सर्वगत और महान होने से उसमें व्यापकत्व है।

२—आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा

आयुर्वेद में आतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा को लिंग शरीर धारक आत्मा भी कहा गया है। आयुर्वेद में लिंग शरीर की कल्पना सर्वथा मौलिक है। अन्य दर्शनों में आत्मा के एतद्विध स्वरूप का विवेचन समुपलब्ध नहीं है। आत्मतत्व के जिज्ञासु महर्षियों के अन्तःकरण में जब यह प्रश्न जिज्ञासा के रूप में समुद्भूत हुआ कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में कैसे प्रवेश करता है? (देहात् कथं देहमुपैतिचान्य-मात्मा) तब उन्होंने समाधिस्थ होकर अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा इस तथ्य का अवलोकन किया कि भौतिक शरीर के पंचत्व प्राप्ति के अनन्तर आत्मा अपने लिंग (सूक्ष्म) शरीर के

साथ शरीर के बाहर निकलता है और जन्म के समय इसी लिंग (सूक्ष्म) शरीर के साथ संयुक्त हो कर नवीन शरीर (गर्भ) में प्रवेश करता है। यह लिंग शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अत: भौतिक चक्षुओं द्वारा यह दिखलाई नहीं पड़ता। केवल दिव्य दृष्टि द्वारा ही उसका स्वरूप दर्शन सम्भव है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर युक्त आत्मा ही आतिवाहिक पुरुष संज्ञा से अभिप्रेत हैं।

परमात्मा के प्रकरण में इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा चुका है कि आत्मा ही विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक है। यद्यपि परम आत्म तत्व एक, विभु और शाश्वत है, किन्तु प्रतिशरीर की दृष्टि से ये आत्माएं असंख्य हैं। प्रलय काल में समस्त आत्माएं परम आत्म तत्व में विलीन हो जाती हैं। प्रलय काल समाप्त होने पर नवीन सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक आत्मा को एक एक लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर (अतिवाहिक शरीर) प्राप्त होता है। आत्मा के साथ इस शरीर का संयोग अगला प्रलय काल आने तक रहता है। प्रलय काल आने पर इस लिंग शरीर का विनाश हो जाता है। सृष्टि चक्र में इस सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा का ही मृत्यु के समय एक देह से निष्क्रमण तथा अन्य देह में प्रवेश होता है। एक देह से निष्क्रमण तथा अन्य देह में लिंग शरीर युक्त आत्मा के प्रवेश का मुख्य कारण यह है कि आत्मा लिंग शरीर के साथ साथ मन से भी संयुक्त रहता है। उस मन में जन्म जन्मान्तरों की अनेक वासनाएं निहित होती हैं। उन्हीं वासनाओं के वशीभूत होकर आत्मा मानस जनित व्यापार के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में आता जाता रहता है। माता और पिता (रज और शुक्र) के संयोग से प्राप्त शरीर को आत्मा जब तक उपभोग के योग्य समझता है तब तक वह उसे धारण किए रहता है और ज्यों ही स्थूल शरीर निरुपभोग्य हुआ त्यों ही आत्मा उस शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण कर लेता है। इस सिद्धान्त को वस्त्रों के उदाहरण से भलीभांति समझा जा सकता है। अर्थात् मनुष्य नवीन वस्त्रों को धारण करता है और पुराने वस्त्रों को फेंक देता है। मनुष्य जिन वस्त्रों को धारण करता है वे जब तक उसके उपभोग के योग्य (धारण करने योग्य) होते हैं तब तक वह उन्हें धारण करता है, किन्तु जब वे वस्त्र फट जाते हैं और मनुष्य उन्हें उपभोग के योग्य नहीं समझता तो वह उन्हें उतार कर फेंक देता है। उनके स्थान पर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है। इसी भांति यह आत्मा भी निरुपभोग्य शरीर का त्यागकर उपभोग के योग्य नवीन शरीर को धारण कर लेता है[1] जब आत्मा निरुपभोग्य पुराने शरीर का परित्याग करता

१. वासाँसि जीर्णांनि यथा विहाय नवानिगृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
श्री मद् भगवद् गीता

हैं तो वह शरीर से अकेला ही नहीं निकलता है,अपितु उसके साथ कुछ न कुछ बन्धन अवश्य रहता है। वह है स्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का बन्धन। शरीर और मन के माध्यम से आत्मा विविध प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता है। पश्चात् उन कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुनः अन्य शरीर को धारण करना पड़ता है। इस प्रकार जिस शरीर को वह धारण करता है उसमें वह पूर्वोपार्जित कर्मों का फलोपभोग एवं नवीन कर्मों को अर्जित करता है। इस प्रकार यह क्रम सतत चलता रहता है और कर्म बन्धन के वशीभूत आत्मा जन्म–मरण के द्वारा नवीन शरीर को धारण और पूर्व देह का त्याग करता रहता है। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। आत्मा को इस जन्म-मरण के चक्कर से और विविध योनियों में परिभ्रमण से मुक्ति तब मिल सकती है जब वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो तथा कर्म बन्धन से मुक्ति केवल तपश्चरण द्वारा कर्मों की निर्जरा (क्षय) से ही सम्भव है।

आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश का उल्लेख आयुर्वेद में स्पष्ट रूप से किया गया है। निम्न श्लोक द्वारा इसकी पुष्टि होती है—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं बिनादर्शनमस्ति रूपम्॥

- चरक संहिता, शारीर स्थान, २/३१

अर्थात् मनोजव (मन के वेग से गमन करने वाला) आत्मा आकाश को छोड़ कर शेष चार महाभूतों के साथ मृत देह से निकल कर पुनः नूतन शरीर को प्राप्त करता है। इस प्रकार जीर्ण देह का त्याग करना और नूतन देह को प्राप्त करना आत्मा का यह कार्य पूर्वजन्मकृत कर्म के अनुसार होता है। आत्मा जब नवीन शरीर में प्रवेश करता है तब उसका रूप दिखलायी नहीं पड़ता। किन्तु जिन लोगों को तपश्चरण अथवा योग द्वारा दिव्य दृष्टि प्राप्त है वे लोग ही आत्मा के एतद्विध रूप को देखने में समर्थ हैं।

यद्यपि आत्मा को निष्क्रिय माना जाता है, किन्तु मन के संयोग से किये गए शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और उनके परिणाम का उपभोक्ता आत्मा ही है। अतः शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत आत्मा स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा इन अतीन्द्रिय सूक्ष्म चार महाभूतों और मन के साथ संयुक्त होकर नाना योनियों में गमन करता है।

आत्मा को नानाविध योनियों में गमन कराने वाला मन ही होता है। आकाश क्रियाशून्य है। उसमें अवकाश प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य क्रिया का अभाव है। अतः वह गमन क्रिया में आत्मा के साथ गर्भाशय में नहीं जाता। इसके अतिरिक्त आकाश

विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक होने से पहले ही वहां विद्यमान रहता है । अतः केवल चार महाभूत ही सर्वदा (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं । सूक्ष्म और अतीन्द्रिय महाभूतों के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, अहंकार और सत्व-रज तम ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं सत्व गुण के उत्कर्ष से होने वाली मन की सात प्रकृतियां, रजोगुण के आधिक्य से होने वाली छः प्रकृतियां तथा तमोगुण के प्राबल्य से होने वाली तीन चित्त वृत्तियों का समावेश भी इस सूक्ष्म शरीर में होता है । यही सूक्ष्म शरीर लिंग शरीर या आतिवाहिक शरीर कहलाता है । इस सूक्ष्म शरीर का आत्मा के साथ नित्य (सृष्टि से प्रलय पर्यंत) स्पर्श सम्बन्ध होने से इसे "स्पृक् शरीर" की संज्ञा भी दी गई है । अन्य ग्रन्थों के अनुसार इस सूक्ष्म शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियों के पांच सूक्ष्म विषय या शब्द तन्मात्रा आदि पाँच तन्मात्रा, प्राण-अपान-उदान-समान-व्यान ये पांच प्राण, एक मन, एक बुद्धि इस प्रकार कुल मिलाकर १७ तत्व होते हैं । प्रलय आने पर यह शरीर नष्ट हो जाता है —"लयं गच्छति"—अतः यह लिंग शरीर कहलाता है ।

स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव ॥

—चरक संहिता, शारीर स्थान २/३२

अर्थात् लिंग शरीर से युक्त वह आत्मा सर्वत्र व्यापक, समस्त शरीरों को धारण करने वाला, विश्वकर्मा, जगत् रूप, चेतना धातु, अतीन्द्रिय, (इन्द्रियातीत) नित्ययुक् (मन, बुद्धि और इन्द्रियों से सदैव युक्त रहने वाला) तथा सानुशय (सदा राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से युक्त) होता है ।

सूक्ष्म शरीर से युक्त वह आतिवाहिक आत्मा सर्वत्र गमनशील होने से 'सर्वग' (सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः) कहलाता है । समस्त भौतिक स्थूल शरीरों को अपने कर्मानुसार धारण करने से 'सर्वशरीरभृत्' कहलाता है । स्थूल शरीरों में रहता हुआ वह आत्मा मन की सहायता से विभिन्न सांसारिक कर्मों को करता है, अतः 'विश्वकर्मा' कहलाता है । यह आत्मा विविध योनियो में भ्रमित होता हुआ अन्यान्य मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विश्व के विविध रूपों को धारण करता है, अतः 'विश्वरूप' कहलाता है । यह स्थूल शरीर को चेतना प्रदान करता है, अतः 'चेतना धातु' कहलाता है । भौतिक इन्द्रियों द्वारा इसका ग्रहण सम्भव नहीं है, अतः 'अतीन्द्रिय' कहलाता है । यह सदैव (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) मन, बुद्धि और इन्द्रियों से संयुक्त रहता है, अतः 'नित्ययुक' कहलाता है । राग-द्वेष,सुख-दुःख, आदि द्वन्द्वों से युक्त होने से इसे 'सानुशय'

कहते हैं। मन की सहायता से मनन करने, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से दर्शन, स्पर्शन आदि ज्ञान प्राप्त करने, कर्मेन्द्रियों की सहायता से विविध कर्म करने एवं नए नए शरीरों का उत्पादक होने के कारण इस आत्मा को हेतु, कारण, निमित्त, कर्त्ता, मन्ता, वेदिता, वेदयिता, बोद्धा, स्प्रष्टा, दृष्टा, घ्राता, श्रोता, रसयिता, गन्ता, साक्षी, वक्ता, धाता, ब्रह्मा, बुद्धि का स्वामी, क्षेत्रज्ञ, प्रभव और स्रष्टा कहा जाता है। अपने निर्माण के लिए भूतों का ग्रहण करने वाला होने से इसे 'ग्रहण', भूतों के गुणों से युक्त होने से इसे 'गुणी', भूतों का अधिष्ठाता होने से 'भूतात्मा' एवं इन्द्रिय और मन का अधिष्ठाता होने से अन्तरात्मा कहते हैं। इस प्रकार एक ही आत्मा विभिन्न कारणों से भिन्न भिन्न संज्ञा वाचक होता है।

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशंति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति॥

– चरक संहिता, शारीर स्थान २३७

अर्थ--जो चार महाभूत आत्मा में लीन होकर अर्थात् आत्मा के साथ संयुक्त होकर गर्भ में प्रविष्ट होते हैं वे 'कर्मज' कहलाते हैं। अर्थात् अपने द्वारा पूर्वजन्म में उपार्जित शुभाशुभ कर्म के वशीभूत होकर गर्भ में प्रविष्ट होते हैं। यह बीजधर्मा (सूक्ष्म कारण भूत) आत्मा चेतना धातु रूप आत्मा में जाती हुई विभिन्न शुभाशुभ शरीर में चली जाती है।

यहाँ बीजधर्मा से सूक्ष्म लिंग शरीर का ग्रहण किया गया है। यह बीजधर्मा कर्म के वशीभूत होकर ही चेतना धातु में जब प्रविष्ट होता है तो तत्काल दूसरे शरीर में चला जाता है। जब तक आत्मा मुक्त नहीं होता तब तक वह लिंग शरीर से युक्त होता है। स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद इसी लिंग शरीर से दूसरे नवीन शरीर में प्रवेश करता है। जैसे सूक्ष्म बीज बड़ से बड़े वृक्ष को पैदा करता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को उत्पन्न करता है। इसी तथ्य का प्रतिपादन महर्षि सुश्रुत ने भी अपने निम्न वचन द्वारा किया है--"**क्षेत्रज्ञो, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, दृष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुषः, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरवधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभिप्रेर्यमाणः गर्भाशयानुप्रवश्यावितिष्ठते।**"

– सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान, अ० ३

महर्षियों के उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि एक शरीर से अन्य शरीर में संक्रमण करने वाला मूल द्रव्य लिंग शरीर है। स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर संभोग (मैथुन) क्रिया द्वारा शुक्र और शोणित का सम्मूर्च्छन होता है। स्त्री के शरीर

(गर्भाशय) में उपर्युक्त प्रकार से शुक्र शोणित का संयोग होने पर तत्क्षण यह सूक्ष्म शरीर ही अपने पूर्व शरीर (मृत शरीर) को छोड़कर उत्पन्न होने वाले नवीन गर्भ के शरीर में प्रवेश करता हैं। वस्तुतः यदि देखा जाय तो चैतन्यवान् आत्मा सर्व व्यापकहै, अतः न तो वह किसी शरीर का त्याग करता है और न ही किसी शरीर में प्रवेश करता है। होता यह है कि सीमित (असर्व व्यापक) सूक्ष्म शरीर ही मन द्वारा अधिष्ठित होकर पूर्व शरीर का त्याग एवं नवोन गर्भ शरीर में प्रवेश करता है। किन्तु आत्मा मन को भी चैतन्य प्रदान करता है, अतः मन का अधिष्ठाता होने से सर्वत्र आत्मा का ही व्यवहार किया जाता है। अर्थात् मृत्यु और जन्म के समय मन संयुक्त लिंग शरीर के निष्क्रमण एवं प्रवेश को आत्मा का ही निर्गमन एवं प्रवेश कहा जाता है। इस प्रकार अलक्षित आत्मा मन और लिंग शरीर की सहायता से निरन्तर एक शरीर से अन्य शरीर में संसरण किया करता है। यही 'मनोजव' कहलाता है। महर्षि चरक ने आत्मा के संसरण में इसी 'मनोजव' शब्द का प्रयोग किया है (देखिये चरक, शारीर २/३१) आत्मा या लिंग शरीर की प्रक्रिया अर्थात् एक शरीर से अन्य शरीर में संक्रमण उसके द्वारा पूर्वजन्म में उपार्जित कर्मों के कारण होता है। लिंग शरीर एवं मन से विमुक्त आत्मा इन समस्त सांसारिक बन्धनों, पुनः पुनः जन्म —मरण के कष्टों एवं संसार की विविध यातनाओं से मुक्त होकर अक्षय मोक्ष पद को प्राप्त करता है। जहां उसे अनन्त सुख की अनुभूति होती है।

३. राशि पुरुष या स्थूल चेतन शरीर

आयुर्वेद में यही राशि पुरुष विभिन्न संज्ञाओं से व्यवहृत होता है। यथा-संयोगपुरुष, कर्म पुरुष, चिकित्स्य पुरुष, जीवात्मा, राशि पुरुष आदि। आयुर्वेद में चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त पुरुष से यही राशि पुरुष अभिप्रेत है। आयुर्वेद का मुख्य उद्देश्य आतुर मनुष्यों की चिकित्सा करना है। चिकित्सा केवल शरीर की ही की जाती है। शरीर भी जब सचेतन होता है तब वह चिकित्सा के उपयुक्त होता है। चेतनता रहित अथवा अचेतन शरीर चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त स्वीकार नहीं किया गया है। शरीर सचेतन तब होता है जब आत्मा के साथ उसका संयोग होता है। चेतना के बिना यह शरीर पंच महाभूतों का समुदाय मात्र रह जाता है। इस प्रकार पंच महाभूत एवं आत्मा इन छः तत्वों के संयोग से जो यह सचेतन शरीर बनता है वही 'संयोग पुरुष' कहलाता है। इस ही संयोग पुरुष अथवा सचेतन स्थूल शरीर की चिकित्सा की जाती है तथा यही शरीर चिकित्सा के योग्य होने से 'चिकित्स्य पुरुष' या 'कर्म पुरुष' कहलाता है। इस संयोग पुरुष में पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश और आत्मा इन षड् धातुओं का संयोग होने से वह 'षड्धात्वात्मक पुरुष भी कहलाता है।

चिकित्स्य पुरुष या कर्म पुरुष

सत्वात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदंडवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।
स पुमांश्चेतनं तच्च तस्याधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः ।।

—चरकसंहिता, सूत्रस्थान १/४६-४७

अर्थ-सत्व (मन), आत्मा (चेतना धातु) और शरीर (पाँच भौतिक) इन तीनों के संयोग से त्रिदंड के समान यह लोक (पुरुष) स्थित है। उसी को पुमान् (पुरुष) कहा गया है। वह पुमान् चेतन होता है और वह उसका अधिकरण कहा गया है। उसी के लिए अथर्ववेद का उपवेद यह आयुर्वेद शास्त्र प्रकाशित किया गया है

यहां पर चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त पुरुष का लक्षण बतलाया गया है कि मन,चेतना धातु एवं पांच महाभूतों के संयोग से जो 'कर्म पुरुष' उत्पन्न होता है वही चिकित्सा के योग्य है और चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण आयुर्वेद का प्रकाशन उसी कर्म पुरुष या चिकित्स्य पुरोष के लिए किया गया गया है। जिस प्रकार किसी तिपाई की स्थिति उसके तीनों पायों की विद्यमानता से ही होती है एक भी पाये का अभाव होने पर तिपाई का निर्माण किसी प्रकार भी संभव नहीं है उसी प्रकार आत्मा मन, और सेन्द्रिय भौतिक शरीर इन तीनों में से किसी एक का भी अभाव होने पर आयुर्वेद सम्मत चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त कर्म पुरुष या चिकित्स्य पुरुष का निर्माण सम्भव नहीं है। अतः चिकित्स्य पुरुष की उत्पत्ति में सत्व, आत्मा और शरीर इन तीनों का संयोग नितान्त अपेक्षित है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सम्पूर्ण चिकित्सा इसी पुरुष के आधीन है। इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार के कर्म भी इसी पुरुष के आधीन हैं। अर्थात् इस पुरुष के न होने पर किसी भी प्रकार का कर्म सम्पन्न होना संभव नहीं है तथा संसार के समस्त प्रकार के कर्म इसी पुरुष के लिए किए जाते हैं। इस पुरुष के अभाव में समस्त प्रकार के कर्म निष्प्रयोजनभूत हो जावेंगे। अतः यह कर्म पुरुष कहलाता है।

संयोग पुरुष अथवा षड् धात्वात्मक पुरुष

"खादयश्चेतना षष्टा धातवः पुरुषः स्मृतः"

—चरक संहिता, शारीस्थान १/१५

"अस्मिञ्छास्त्रे पंचमहाभूतशरीरिसमवायः 'पुरुष' इत्युच्यते।"

—सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान १/२२

षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा-पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति। एत एव च षड् धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते"
—चरक संहिता शारीरस्थान ५/४

अर्थ—आकाश आदि पांच महाभूत और छठी चेतना धातु का संयोग ही 'पुरुष' कहलाता हैं। इस आयुर्वेद शास्त्र मे पांच महाभूत और आत्मा के संयोग को ही 'पुरुष' कहते हैं।

छः धातुएं मिल कर पुरुष इस शब्द को प्राप्त करती हैं। जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और अव्यक्त ब्रह्म (आत्मा) ये छः धातुएं मिलकर ही 'पुरुष' शब्द को प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त छः धातुओं के संयोग से जिस पुरुष की उत्पत्ति होती है वह 'संयोग पुरुष' अथवा 'षड् धात्वात्मक पुरुष' कहलाता है। यह संयोग पुरुष ही आयुर्वेद सम्मत एवं चिकित्सा शास्त्रोपयक्त स्वीकृत किया गया है। आयुर्वेद में प्रतिपादित समस्त क्रियाएं इसी संयोग पुरुष को लक्ष्य करके वर्णित की गई हैं। इस पुरुष की ही चिकित्सा की जाती है तथा यही पुरुष चिकित्सा कर्म फल का आश्रय है। प्रस्तुत प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि सत्व, आत्मा और शरीर का उपर्युक्त प्रकार का संयोग जंगम प्राणि मात्र में पाया जाता है और इस लक्षण के अनुसार प्राणि मात्र पुरुष शब्द वाच्य है। तथापि चरक, सुश्रुत आदि महर्षियों द्वारा उपदिष्ट आयुर्वेद का निर्माण (अभि-व्यक्ति) प्रमुख रूप से मनुष्य को ही लक्ष्य करके किया गया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि के समस्त पदार्थ मनुष्य के उपकरण भूत हैं तथा मात्र उन्हीं के लिए उनका निर्माण किया गया है। अतः मनुष्य के लिए निर्मित मनुष्यातिरिक्त समस्त पदार्थ उसके उपकरण हैं और मनुष्य उन उपकरणों का उपकार्य है। अतः आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित संयोग पुरुष, पुरुष या आत्मा शब्द से मनुष्य (नर-नारी) का ही ग्रहण होता है।

राशि पुरुष

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥
—चरक संहिता, शारीर स्थान १/१७

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।
चतुर्विंतिक इत्येष राशिपुरुष संज्ञकः॥
—चरक संहिता, शारीरस्थान १/३४

अर्थ--पुनः धातु भेद से वह पुरुष चौबीस तत्वों वाला कहा गया है। जिसमें मन, दस इन्द्रियां, अर्थ (पंच महाभूत) तथा अव्यक्त, महान, अहंकार और पच तन्मात्राएं ये आठ प्रकृतियां सब मिला कर चौबीस तत्व होते हैं। इसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रियां, मन और अर्थ तथा इनके योग को धारण करने वाली आत्मा इन सबकी संयुक्त राशि के परिणाम स्वरूप जो पुरुष निर्मित होता है वह 'राशि पुरुष' संज्ञक होता है।

यह राशि पुरुष पूर्वोक्त चिकित्स्य पुरुष, कर्म पुरुष, संयोग पुरुष तथा षड् धात्वात्मक पुरुष से भिन्न नहीं है; अपितु उपर्युक्त समस्त पुरुष एक ही हैं। उन में केवल संज्ञा भिन्नता है। आयुर्वेद में इसी पुरुष का स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न संज्ञा द्वारा व्यवहार किए जाने के कारण यह भिन्नता प्रतीत होती है। किन्तु किसी भी संज्ञा का व्यवहार करने पर चिकित्सा शास्त्राधिकृत एक ही पुरुष का बोध होता है। एक ही पुरुष की विभिन्न संज्ञाएं होने का कारण यह भी है कि भिन्न भिन्न दर्शन शास्त्रों ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए उसका अलग अलग नामकरण कर दिया। जैसे वैशेषिक दर्शन में पुरुष शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है--"आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत अर्थात् इन से निर्मित इन्द्रियां तथा मन सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा (चेतना धातु) इन छः धातुओं के समुदाय (संयोग) को 'पुरुष' कहते हैं।

सांख्य दर्शन के मतानुसार तत्वों (धातुओं) का संयोग निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है—"पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पांच महाभूत, मूल प्रकृति (अव्यक्त), महत्तत्व, अहंकार और पांच तन्मात्राएं इन चौबीस तत्वों की राशि का संयुक्त परिणाम 'पुरुष' कहलाता है। "यहां आत्मा का भी प्रकृति के समान अव्यक्त रूप होने से प्रकृति शब्द से ही ग्रहण कर लिया गया है। इस प्रकार तत्वों से निर्मित पुरुष एक ही है। कहीं पर उसे तीन धातुओं का संयोग बतलाया गया है, कहीं उसे षड् धातुओं का संयोग बतलाया गया है और कहीं उसे चौबीस तत्वों का सयोग माना गया है। पुरुष शब्द की इन अन्यान्य परिभाषाओं में पुरुष के मूल घटक महाभूत, आत्मा, प्रकृति आदि तत्व, मन तथा इन्द्रियों को धातु कहा गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि ये तत्व पुरुष का धारण (निर्माण) करते हैं। अतः धातु शब्द से व्यवहृत किए गए हैं। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने भी यही स्पष्टीकरण दिया है—

"पुरुषधारणाद्धातुः"--चरक संहिता, शारीर स्थान १/३ पर चक्रपाणि टीका

इस पुरुष का निर्विकार रूप परम पुरुष (परम आत्मा) तथा आतिवाहिक पुरुष (सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा) से पृथक् बोध कराने के लिए इसे कर्म पुरुष, चिकित्स्य

पुरुष, संयोग पुरुष, समुदाय पुरुष, राशि पुरुष, षड् धात्वात्मक अथवा चतुर्विंशतिक पुरुष कहते हैं। इनमें पूर्वोक्त पहले के दो पुरुष परम पुरुष एव आतिवाहिक पुरुष न तो किसी प्रकार का कर्म कर सकते हैं, न ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न ही किसी कर्म फल के अधिकारी हैं। इन दोनों पुरुषों में रोग का अधिष्ठानभूत भौतिक शरीर का अभाव होने से इनकी चिकित्सा भी सम्भव नहीं है। अतः ये दोनों पुरुष चिकित्सा शास्त्राधिकृत एवं चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त नहीं माने गए हैं। इन दोनों पुरुषों के अतिरिक्त सचेतन स्थूल शरीर समस्त प्रकार के कर्म कर सकता है, इसलिए उसे कर्म पुरुष कहा गया है। इस सचेतन शरीर में ही अनेक प्रकार के रोग होते हैं। रोगोपशमन हेतु उसी सचेतन शरीर की चिकित्सा की जाती है। अतः इसे 'चिकित्स्य पुरुष' कहा गया है। इसमें छः धातुओं का संयोग या समुदाय होने से यह 'संयोग पुरुष' 'समुदाय पुरुष' अथवा 'षड् धात्वात्मक पुरुष' कहा जाता है। यह चौबीस तत्वों की राशि से युक्त होने से 'राशि पुरुष' अथवा 'चतुर्विंशतिक पुरुष' कहलाता है। इस प्रकार यह एक ही सचेतन स्थूल भौतिक शरीर युक्त पुरुष विभिन्न स्थिति के कारण भिन्न भिन्न संज्ञा को धारण करता है।

देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व

समस्त दर्शन शास्त्रों में चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त यह तथ्य एक मत से स्वीकार किया गया है कि आत्मा का अस्तित्व सदैव देहातिरिक्त रहा है। अर्थात् आत्मा और शरीर ये दोनों सदा भिन्न भिन्न माने गए हैं। स्थूल रूप से प्रत्यक्षतः यह देखा गया है कि यह सचेतन शरीर जब आत्मा शून्य हो जाता है तो शरीर की समस्त क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं और शरीर मृत हो जाता है। जब तक शरीर में आत्मा का निवास रहता है तब तक ही शरीर जीवित माना जाता है। यदि देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो शरीर में से आत्मा का निर्गमन अथवा शरीर के मृत होने के पश्चात् भी शरीर द्वारा क्रियाएं सम्पादित की जानी चाहिए तथा जब तक भौतिक स्थूल शरीर का विनाश नहीं कर दिया जाता अथवा उसे जला नहीं दिया जाता तब तक उसमें चेतना एवं अन्य क्रियाएं विद्यमान होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः इससे देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव निरूपण में निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं—

करणान्यान्यता दृष्टा कर्ता भोक्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्॥
अहंकारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।

विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ।।
निमेषकालाद् भावानां काल: शीघ्रतरोऽत्यये ।
भग्नानां च पुनर्भाव: कृतं नान्यमुपैति च ।।
मतं तत्वविदामेतत् यस्मात्तस्मात् स कारणम् ।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्य: पुरुष संज्ञक: ।।

—च० शा० १

अर्थ–इन्द्रियों की अन्यान्यता स्पष्ट है । अर्थात् ज्ञान के द्वारभूत इन्द्रियां अनेक हैं—यह स्पष्ट है । किन्तु कर्ता तथा भोक्ता वही एक आत्मा है । इस प्रकार समस्त कर्मों का कारण करणों (इन्द्रियों) से युक्त कर्ता आत्मा ही है । अहंकार, कर्म, कर्म-फल, देहान्तर गमन विगत भावों का स्मरण इन सब में देह के अतिरिक्त कोई अन्य कारण है और वह कारण केवल आत्मा ही है । भावों के विनाश में निमेष (पलक का झपकना) काल से भी शीघ्रतर काल कारण है । भग्न (टूटे हुए स्थानों) का पुनः सरोहण हो जाता है । एक व्यक्ति के द्वारा किए गए कर्मों का फल कोई दूसरा नहीं भोगता । अतः इन सब कारणों से तत्वविद् विद्वानों का मत है कि प्राणियों के क्रियो-पभोग में वह आत्मा ही कारण है और वह आत्मा नित्य एवं पुरुष संज्ञक है ।

उपर्युक्त प्रमाण द्वारा देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है । जो लोग शरीर और आत्मा को अभिन्न मानते हैं अथवा इन्द्रियों एवं आत्मा का एकत्व प्रतिपादित करते हैं उनके मत का खंडन उपर्युक्त प्रमाण द्वारा किया गया है । देह एवं आत्मा की अभिन्नता को कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता । क्योंकि शरीर में भग्न हुए अवयवों का सन्धान अथवा संरोहण क्रिया शरीर की सचेतनावस्था में ही सम्भव है । मृत शरीर में जब चेतना (आत्मा) का अभाव रहता है तब भग्न अवयवों का सन्धान या सरोहण सम्भव नहीं है । अतः इससे स्पष्ट है कि शरीर से अतिरिक्त भी भिन्न कोई द्रव्य है जो उपर्युक्त क्रियाविधि में कारण है । वह द्रव्य केवल आत्मा ही है । इसके अतिरिक्त इन्द्रियों को भी आत्मा स्वीकार नही किया जा सकता । क्योंकि इन्द्रियां स्वयं ज्ञानरूप अथवा ज्ञान स्वभाव वाली नहीं हैं । ज्ञान स्वभाव वाला तो मात्र आत्मा ही है । इन्द्रियां तो ज्ञान के साधन हैं वे आत्मा को ज्ञान कराने में सहायक होती हैं । अर्थात् आत्मा को इन्द्रियों के माध्यम से ही ज्ञान होता है । किन्तु इन्द्रियां स्वयं ज्ञानरूप नही हैं । क्योंकि यह प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि किसी समय आत्मा को किसी इन्द्रिय द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त हुआ । कालान्तर में किसी कारण वश उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर पूर्व समय में उसके द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान एवं आत्मा दोनों को भी नष्ट हो जाना चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता । उस इन्द्रिय

द्वारा पूर्वकाल में उपार्जित ज्ञान की स्मृति उस इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी आत्मा को सतत बनी रहती है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियां भौतिक (महाभूतों से समुत्पन्न) एवं नाशवान् हैं। जबकि आत्मा अनादि एवं अविनाशी है। अतः इन्द्रियों का आत्मत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार आत्मा देह और इन्द्रियों से व्यक्तिरिक्त एक स्वतंत्र द्रव्य है जो नित्य, अव्यक्त, क्षेत्र , विभु और अव्यय है। आयुर्वेद शास्त्र में वह 'पुरुष' शब्द द्वारा अभिहित एवं प्रतिपादित है।

आत्मा के लक्षण

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पंचत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धि स्मृत्यहंकारो लिंगानि परमात्मनः ॥

—चरकसंहिता, शारीरस्थान अ० १

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति।"

न्या० द० १।१।१०

"प्राणपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः : सुखदुःखेच्छा प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।" वै० द० ३।२।४

अर्थ–प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर संचार, या इन्द्रियान्तर विकार, प्रेरणा, धारण, स्वप्न में देशान्तर गमन, मरण, दाहिनी आँख से देखे हुए विषय का बाईं आँख से ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहकार ये सब परमात्मा के लक्षण हैं।

जो वायु नासिका द्वारा श्वास रूप से ग्रहण की जाती है। वह 'प्राणवायु' कहलाती है। शरीर द्वारा प्राणवायु का ग्रहण तब ही होता है जब वह आत्मा से संयुक्त होता है। आत्मा विरहित शरीर उपर्युक्त प्राणवायु का ग्रहण करने में असमर्थ है। जो वायु नासिका द्वारा ही निःश्वास के रूप में बाहर निकाली जाती है वह दूषित वायु शरीर के लिए अनुपयोगी एवं अहितकारी होती है। यही वायु 'अपान' कहलाती है। चरकसंहिता के टीकाकार आचार्य चक्रपाणिदत्त ने निःश्वास वायु को ही अपान वायु कहा है। यथा--"प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ।" आयुर्वेद में सामान्यतः अपान वायु

से मल मूत्र को नीचे की ओर से ले जाने वाली वायु अभिप्रेत है। प्रस्तुत प्रकरण में अपान वायु के दोनों अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। निमेष और उन्मेष नेत्र के पलक की क्रिया की ओर संकेत करते है। अर्थात् आंखों की पलक का बन्द होना 'निमेष' और पलक का खुलना 'उन्मेष' कहलाता है। नेत्रों की यह निमेषोन्मेष क्रिया अनैच्छिक रूप से सम्पादित होती है। यह क्रिया तब ही सम्पादित होती है जब शरीर सचेतन होता है। अचेतन शरीर में इन क्रियाद्वय का सर्वथा अभाव रहता हैं। अतः इन्हें भी आत्मा का लक्षण माना गया है। एक निश्चित कालावधि तक शरीर को चैतन्य प्रदान करना 'जीवन' कहलाता है। प्रत्येक सचेतन शरीर की एक निश्चित आयु रहती हैं। उस आयु की कालावधि तक शरीर में आत्मा का निवास रहता है। जब तक शरीर में आत्मा की स्थिति रहती हैं तब तक उसमें वृद्धि, ह्रास, व्रण रोपण आदि क्रियाएं स्वतः सम्पन्न होती रहती हैं। आत्मा के न रहने पर उपर्युक्त समस्त क्रियाएं अवरुद्ध हो जाती हैं। अतः आत्मा का लक्षण जीवन बतलाया गया हैं। 'मनोगति' आत्मा की स्थिति का ज्ञापक एक प्रमुख लक्षण है। स्वभावतः मन गतिशील एवं चंचल होता है। किन्तु भिन्न भिन्न वियोंष के ज्ञानार्जन हेतु आत्मा मन को तत्तत् इन्द्रियों में नियोजित एवं गतिशील रखता है। आत्मा द्वारा प्रदत्त चैतन्य के अभाव में मन स्वतः निष्क्रिय एवं गतिशून्य हो जाता है। आत्म संयोग ही उसे गतिशील बनाए रखता है। अतः मनोगति भी आत्मा के ज्ञापक लक्षणों में एक है। मन जब अन्यान्य विषयों का ग्रहण करने के लिए भिन्न भिन्न इन्द्रियों से संयुक्त होकर तथा वहां से ज्ञान ग्रहण कर आत्मा को पहुचाता है तब एक इन्द्रिय से अन्य इन्द्रिय में मन संचार का कार्य आत्मा अधिष्ठित होता है। क्योंकि आत्मा जिस विषय का ज्ञान उपलब्ध करना चाहता है वह उस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये मन को तत्सम्बन्धी इन्द्रिय के साथ संयोजित करता है। इसी प्रकार वह मन को एक इन्द्रिय से हटा कर दूसरी इन्द्रिय के साथ नियोजित कर देता है। यही 'इन्द्रियान्तर संचार' कहलाता है जो पूर्णतः आत्माधिष्ठित होता है। इन्द्रियों को अपना विषय ग्रहण करने के लिए प्रेरित करना 'प्रेरणा' कहलाता है। इन्द्रियों को यह प्रेरणा आत्मा द्वारा ही प्राप्त होती है। आत्मा शरीर को धारण करता है। अतः वह 'धारण' लक्षणात्मक होता है। स्वप्नावस्था में भिन्न भिन्न देशों की गति करना तथा शरीर से आत्मा के निकल जाने पर शरीर का पंचत्व को प्राप्त करना अर्थात् मृत्यु होना आत्मा का ही लक्षण है। दाहिनी आंख से किसी वस्तु का ग्रहण करने पर बाई आंख द्वारा भी उसका ज्ञान होना आत्मा का ही लक्षण है। इस प्रकार विभिन्न लक्षणों द्वारा देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव की पुष्टि होती है।

आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न प्रवर्तते ॥
पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।
यद्वज्जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥

– च० शा० १

अर्थ--आत्मा जानने वाला है। करणों (साधनों) के संयोग से उसे ज्ञान होता है। प्रस्तुत प्रकरण में करण शब्द का अभिप्राय मन, बुद्धि तथा पांचों ज्ञानेन्द्रियों से है। आत्मा का संयोग आवश्यकतानुसार जब इन करणों से होता है तब उसे ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। करणों की निर्मलता न होने से अथवा आत्मा के साथ उनका विधिवत् संयोग न होने से आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे मलिन दर्पण में देखने पर भी रूप का दर्शन नहीं होता तथा कलुषित जल में प्रतिबिम्ब दिखलाई नहीं पड़ता उसी भांति मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के विकृत होने पर अथवा आत्मा के साथ इनका अयोग होने पर आत्मा को ज्ञान नहीं होता है।

न्याय भाष्य में ज्ञानोत्पत्ति के उपर्युक्त क्रम का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। यथा—"आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानम्।" अर्थात् सर्व प्रथम आत्मा मन के साथ संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय अपने विषय के साथ साथ संयुक्त होती है, तब आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानोत्पत्ति के इस क्रम के अनुसार आत्मा का मन के साथ निकटतम संबंध रहता है। इन्द्रियों से आत्मा का सीधा सम्बन्ध नहीं होता, अपितु मन के माध्यम से वे आत्मा संयुक्त होती हैं। मन का आत्मा के साथ भी सीधा सम्बन्ध रहता है और इन्द्रियों के साथ भी। इस प्रकार मन दोनों ओर से अनुबन्धित रहता है।

यद्यपि इन्द्रियों के अभाव में आत्मा को कार्यात्मक ज्ञान का अभाव माना गया है। क्योंकि जो क्रिया जिन भावों के आधीन होती है उन भावों के अभाव में उस क्रिया का होना असम्भव है। जिस प्रकार घट निर्माण कला में दक्ष कुलाल अनेक घटों का निर्माण कर सकता है, तथापि मृत्तिका के अभाव में वह घट नहीं बना सकता। ठीक इसी प्रकार कारणों के अभाव में आत्मा को बाह्य विषयों का ज्ञान कैसे हो सकता है? किन्तु बाह्य ज्ञान के न होने से हम आत्मा में ज्ञान का सार्वत्रिक (नितान्त) अभाव नहीं कह सकते। इन्द्रियों और चंचल मन को आत्मा के वशीभूत करके आत्मज्ञ पुरुष अपने अन्तः ज्ञान में स्थिर हो जाते हैं। तब उनको इन्द्रिय और मन के बिना भी संसार के समस्त विषयों का ज्ञान होने लगता है।

प्रस्तुत प्रसंग में एक शंका यह उत्पन्न होती है कि जब आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है तथा समस्त पदार्थों का ज्ञाता है तब रात्रि में निद्रावस्था में उसे बाह्य विषयों का ज्ञान क्यों नहीं होता है ? मनुष्य जब सो जाता है तब क्या आत्मा भी सो जाता है ? इसका उत्तर महर्षि सुश्रुत ने बडे अच्छे ढंग से दिया है—

> **कारणानां तु वैकल्ये तमसाभिप्रवर्धते ।**
> **अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥** -- सु० शा० ४

अर्थात् तमोगुण के कारण इन्द्रियों की विकलता होने पर इन्द्रियाँ और मन जब तमोगुण से आवृत हो जाती हैं तब वे अपने विषयों को ग्रहण करने में शिथिल या असमर्थ हो जाती हैं और मनुष्य में निद्रा की प्रवृत्ति होती है। तब शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ न सोया हुआ भी जीवात्मा सोया हुआ सा कहा जाता है। अर्थात् केवल इन्द्रियां और मन ही सोते हैं, आत्मा नहीं सोता। किन्तु जिस शरीर में मन और इन्द्रियां हैं उसी शरीर में स्थित होने के कारण हीं वह आत्मा न सोता हुआ भी उपचार वशात् सोया हुआ सा व्यवहरित होता है। आत्मा स्वयं निर्विकार होने के कारण उसके ऊपर न तो तम का प्रभाव पड़ता है और न उसमें निद्रा की विकृति उत्पन्न हो सकती है। किन्तु व्यवहार में यही कहा जाता है कि आत्मा सोता है। एक दृष्टि से ऐसा कहना उपयुक्त भी है। क्योंकि आत्मा जब अपने शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत होकर इस शरीर में निबद्ध होता है तब वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए पराश्रयी हो जाता है अर्थात् विना मन और इन्द्रियों की सहायता के उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जब इन्द्रियां नहीं होती हैं तब आत्मा को ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार जब इन्द्रियां विकृत हो जाती हैं तब भी ठीक ठीक ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है। जब मन और इन्द्रिया तमोगुण द्वारा आवृत होकर प्रसुप्त हो जाती हैं तब ज्ञान की अनुभूति नहीं होती और मन तथा इन्द्रियों के साथ आत्मा भी प्रसुप्त की भांति प्रतीत होता है। वस्तुतः वह सोता नहीं है, क्योंकि निद्रावस्था में जब इन्द्रियां समस्त व्यवहार, वाणी एवं चेष्टाओं से विहीन होकर निष्क्रिय पड़ी रहती हैं तब विभिन्न प्रकार के स्वप्नों की प्रवृत्ति होती है। उन स्वाप्निक विषयों का ज्ञान एवं तज्जन्य सुख-दुख का अनुभव आत्मा को होता है, जिसकी स्मृति जाग्रत होने पर भी बनी रहती है।

आत्मा की उत्पत्ति

> **प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः ।**
> **पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥** -- च० शा० १/५३

अर्थ---अनादि होने के कारण परमात्मा की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु मोह, इच्छा, द्वेष और कर्म के अधीन राशि पुरुष उत्पन्न होता है।

परम आत्मा सदैव अविनाशी, अनन्त एवं अनादि होता है। अत: उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त राशि पुरुष को उत्पद्यमान एवं नश्वर बतलाया गया है। राशि पुरुष को प्रत्येक जन्म के समय जो आयु प्राप्त होती है उसकी समाप्ति के पश्चात् उसका भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है। किन्तु तदन्तर्गत आत्मा का विनाश नहीं होता। क्योंकि भौतिक शरीर के माध्यम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुन: नवीन शरीर धारण करना पड़ता है। वह आत्मा जब भौतिक शरीर से विरहित हो जाता है तब वह राशि पुरुष संज्ञा विहीन रहता है। उस समय उसके साथ एक अत्यन्त सूक्ष्म शरीर होने से वह लिंग शरीर युक्त कहलाता है। लिंग शरीर से युक्त यह आत्मा एक भौतिक शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर धारण करता है। जब वह किसी भौतिक शरीर को धारण करता है तब उसका जन्म और जब वह भौतिक शरीर का परित्याग करता है तब उसका मरण माना जाता है। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र सतत चलता रहता है। जन्म-मरण का यह चक्र अथवा लिंग शरीर युक्त जीवात्मा के एक योनि से अन्य योनि में संसरण (गति) होने से संसार कहलाता है। इस संसार चक्र का मूल कारण रज और तम के दो मानस दोष हैं। तमो गुण की अधिकता होने से पुरुष में मोह अर्थात् अज्ञान या मिथ्या ज्ञान होता है। उस तम गुण की स्थिति में वह संसार के पदार्थों को अपने सुख व दुख का कारण समझता है तथा जिन वस्तुओं को अपने सुख का हेतु मानता है उनके प्राप्त करने की इच्छा तथा जिन्हें दुख का हेतु मानता है उनके प्रति द्वेष (उनके परिहार की उनसे बचने की इच्छा) उसके मन में उदित होता है। एतद्विध अनुकूल विषयों में इच्छा तथा प्रतिकूल विषयों में द्वेष दोनों ही मोह के कारण उत्पन्न होते हैं।

इस मोह (इच्छा और द्वेष) ही के कारण पुरुष इष्ट विषयों की प्राप्ति तथा द्विष्ट वस्तुओं के परिहार के लिए प्रवृति या कर्म करता है। यह प्रवृत्ति शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है। शुभ प्रवृत्ति धर्म रूप होती है और अशुभ प्रवृत्ति अधर्मरूप। शुभ प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप पुण्य का संचय तथा अशुभ प्रवृति (अधर्म) के परिणाम स्वरूप पाप का संचय होता है। जिसका फल क्रमश: सुख और दुख होता है। अर्थात् धर्म या पुण्य का फल सुख रूप में तथा अधर्म या पाप का फल दुख रूप में मिलता है। इन सुख दुख रूप फलों को भोगने के लिए पुरुष को बलात् शरीर धारण करना पड़ता है। इसी लिए शरीर को आत्मा का भोगायतन माना गया है—"आत्मनो भोगायतनं शरीरं नाम।" अर्थात् आत्मा अपने पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों के फल का उपभोग करने के लिये जिस आयतन (साधन) का आश्रय लेता है उस आयतन (साधन) का नाम शरीर है। इस शरीर में जब आत्मा प्रविष्ट हो जाता है तब वह राशि पुरुष कहलाता है।

आत्मा क्रमशः एक शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण करता है तथा अनादि काल से चला आ रहा यह क्रम अनन्त काल पर्यन्त चलता रहेगा। उत्तरोत्तर शरीरों की प्राप्ति की यह परम्परा तब तक चलती रहेगी जब तक निर्मल सत्व गुण का उदय होकर वह रज और तम इन दोनों दोषों से मुक्त नहीं हो जाता। सत्व गुण का उद्रेक होने पर उसे सम्यक् तत्व ज्ञान (आत्म ज्ञान) होता है तब वह सांसारिक विषयों में मोह का परित्याग कर देता है, जिससे उसे सांसारिक सुख प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रहती है। परिणामतः इच्छा द्वेष के वशीभूत होकर वह कोई प्रवृत्ति नहीं करता। जिससे उसे किसी कर्म का बन्धन नहीं होता और कर्मबन्धन के अभाव में वह उसका फल भोगने के लिए बलात् शरीर धारण करने के लिए बाध्य नहीं होता है। इस प्रकार वह कर्म बन्धन से रहित होकर अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए मोक्ष गमन करता है। जहां से पुनः वह कभी संसार में लौट कर नहीं आता। यही उसका चरम लक्ष्य है।

मनो निरूपण

संसार के समस्त पंचेन्द्रिय प्राणियो में मनुष्य का विशेष स्थान हैं। प्रायः सभी पंचेन्द्रिय प्राणियों के शरीर में मन की अवस्थिति रहती है। मानव शरीर में तो मन की स्थिति, उपयोगिता एवं महत्व विशेष है। मनुष्य की समस्त इन्द्रियों का एक बार यदि विनाश हो जाय और मन अविकृत रूप से स्थिर हो तो उस व्यक्ति का कार्य चल सकता है, किन्तु उसकी समस्त इन्द्रियां स्वस्थ एवं प्राकृत हों और मन विकृत हो तो उसकी समस्त क्रियाएं एवं समस्त इन्द्रिय-व्यापार अवरूद्ध हो जायगा। वह व्यवित किसी भी काय को करने में असमर्थ रहेगा। अतः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव शरीर में मन एक अत्यधिक महत्वपूर्ण द्रव्य है।

मन का महत्व एवं तत्सम्बन्धी विशेषताओं का प्रतिपादन अन्य शास्त्रों की अपेक्षा दर्शन शास्क्ष में विशेष रूप से किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य मुख्य विषय विशेष रूप से आध्यात्मिक तत्व रहे हैं। आत्मा की भाँति मन भी उन आध्यामिक तत्वों में प्रमुख रहा है। अतः दर्शन शास्त्रों में मन का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है।

आयुर्वेद यद्यपि एक चिकित्सा शास्त्र है तथा आध्यात्मिक विषयों के प्रतिपादन से उसे कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। तथापि मन भी रोगाधिष्ठान होने से आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय बन जाता है। इसी प्रकार मन का सम्बन्ध आत्मा से होने के कारण तथा जिस शरीर की चिकित्सा की जाती है उसे चैतन्य प्रदान करने वाला होने के कारण आत्मा भी आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसके अतिरिक्त आत्मा और मन दोनों ही आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान के प्रतिपाद्य विषय हैं। आत्मा के विषय में महर्षि चरक ने न्याय, वैशेषिक एवं वेदान्त दर्शन से समानता रखने वाले विचार व्यक्त किए हैं। अतः मन के विवेचन में भी आयुर्वेद में उन दर्शनों के विचारों का अवलम्बन लिया गया है। आयुर्वेद में मन के विषय में जो चिन्तन धरा प्रवाहित है उसके अनुसार निम्न विवरण प्रस्तुत है।

शरीर में मन का महत्वपूर्ण स्थान है। शरीर में सम्पादित होने वाली प्रत्येक क्रिया मन से प्रभावित है। यद्यपि मन, इन्द्रिय और शरीर को चैतन्य का प्रकाश आत्मा के द्वारा हो मिलता है। शरीर में जब तक आत्मा का अनुप्रवेश नहीं होता तब तक शरीर, उसमें आश्रित मन, इन्द्रियां और अन्यान्य हृदय आदि अवयय चेतना शून्य एवं क्रियाहीन होते हैं तथा आत्मा के संयोग से इनमें चेतनता एवं क्रियाशीलता आती है। किन्तु आत्मा की ज्ञानोत्पत्ति परम्परा में मन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रहती है। मन के अभाव में केवल इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को ज्ञानोपलब्धि होना

नितान्त असम्भव है। यद्यपि मन स्वयं एक इन्द्रिय है तथा अन्य इन्द्रियों की भांति मन की उत्पत्ति भी महाभूतों से हुई है तथापि मन सामान्य इन्द्रियों से भिन्न है। आत्म को जो ज्ञानोपलब्धि होती है उसका मुख्य साधन मन ही है। मन के अभाव में अथवा मन के विकृत हो जाने पर आत्मा को ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर में मन की स्थिति अन्तःकरण के रूप में। अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रिया बाह्य करण कहलाती हैं। मन की यह विशेषता है कि महाभूतों से समुद्भूत होने पर भी वह अन्य इन्द्रियों की भांति स्थूलरुप नहीं है। इसलिये अन्य इन्द्रियों की भांति यह मन इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। जिस प्रकार शरीर में है बाह्य इन्द्रियां दिखाई देती हैं उस प्रकार मन का प्रत्यक्ष नहीं होता इसका एक कारण यह है कि बाह्य इन्द्रियों की भाँति मन की स्थिति शरीर के बाह्य प्रदेश में नहीं है। शरीर के अन्दर अवस्थित होने से उसे अन्तःकरण की संज्ञा दी गई है तथा बाह्य इन्द्रियों की भाँति इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण न होने से उसे 'अतीन्द्रिय' या 'इन्द्रियातीत' कहा गया है।

मन का सामान्य अर्थ ज्ञान के योग में किया जाता है। जैसा कि मन शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट है—**"मन् ज्ञाने बोधने वा धातुः"** अर्थात् 'मन् ज्ञाने' धातु से मनस् या मन शब्द निर्मित हुआ है। जिसकी व्यत्पत्ति के अमुसार **"मन्यते ज्ञायते बुद्ध्यते नेनेति मनः।"**

संस्कृत व्याकरण के अनुसार मन् धातु ज्ञान अथवा बोधन क्रिया के लिए प्रयुक्त होता है। तदनुसार जिसके द्वारा जाना जाता है, ज्ञान प्राप्त किया जाता है अथवा बोध होता है वह मन कहलाता है।

मन स्वतन्त्र रूप से ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। आत्मा और इन्द्रियं के साथ मन का संयोग होने पर ही मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। अतः इन्द्रिय भी ज्ञान का साधन हैं। वे इन्द्रियां भी स्वतन्त्र रूप से ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। इन्द्रियों को ज्ञानोपलब्धि के लिए आत्मा द्वारा चैतन्य एवं मन द्वारा प्रेरणा मिलना आवश्यक है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में इन्द्रियाँ भी ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ रहती हैं। वस्तुतः यदि देखा जाय तो इन्द्रियां ज्ञान प्राप्ति का साधन अवश्य हैं, किन्तु मूलतः वे ज्ञान ग्रहण करने में समय नहीं हैं। वे तो केवल विषयों का ग्रहण करने हेतु प्रवृत्त होती हैं। अथवा विषयों के साथ संयुक्त मात्र होती हैं। वस्तुओं का ज्ञान तो मन के द्वारा ही होता है। मन के अभाव मे ज्ञान कदापि संभव नहीं है। मन एक होता है और ज्ञानेन्द्रियाँ पांच होती हैं। अतः मन की एक विशेषता यह भी होती है कि वह जिस इन्द्रिय के साथ सयुक्त होता है केवल वही इन्द्रिय अपने विषय के साथ संयुक्त होकर उस विषय का ग्रहण करती है और तदनन्तर मन के द्वारा उस

विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग नहीं होता उस इन्द्रिय का अपने विषय के साथ संयोग होने पर भी वह इन्द्रिय उस विषय का ग्रहण नहीं कर पाती है। ऐसी स्थिति में उस विषय या वस्तु का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। मन एक बार में केवल एक इन्द्रिय के साथ ही सयुक्त होता है। अतः एक बार में केवल एक इन्द्रिय द्वारा ही अपने विषय के साथ संयोग एवं उस विषय का ग्रहण संभव है तथा मन को भी एक बार में केवल एक ही विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार मन जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है। उस समय वह केवल उसी इन्द्रिय द्वारा उससे सम्बन्धित विषय का ज्ञान प्राप्त करता है अन्य का नहीं।

मन का लक्षण

मन सम्बन्धी उपर्युक्त निर्वचन से शरीर में उसकी स्थिति, उपयोगिता एवं महत्व का आभास मिल जाता है। शास्त्रों में मन का जो लक्षण दिया गया है उससे भी उपर्युक्त भाव ही ध्वनित होता है। महर्षि चरक ने मन का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सानिध्यात् तच्च वर्तते॥

—चरक, शरीर

अर्थ—ज्ञान का न होना अथवा होना ही मन का लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय) के सन्निकर्ष होने पर मन का संयोग न होने से ज्ञान नहीं होता तथा उपर्युक्त आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर मन का सानिध्य(संयोग) होने से ज्ञान होता है।

आत्मा का चक्षु आदि इन्द्रियों और शब्द आदि विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नहीं होता है। यह ज्ञान का होना या न होना किसी कारणान्तर को सूचित करता है। यही कारणान्तर मन है। यह मन जब इन्द्रियों के साथ सयुक्त होता है तो इन्द्रियां अपने रूप आदि विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है। अर्थात् मन के सानिध्य से ज्ञान होता है और असानिध्य से ज्ञान नहीं होता।

शरीर में त्रयोदश विध (तेरह) करण होते हैं। इन तेरह करणों को दो भागों में विभाजित किया गया है—बाह्य करण और अन्तःकरण। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, स्पर्शन, चक्षु, रसना और घ्राण) और पांच कर्मेन्द्रियां (हस्त, पाद, गुद, उपस्थ और वाक्) इन दस इन्द्रियों की गणना बाह्य करण में की जाती है तथा मन, बुद्धि

और अहंकार की गणना अन्तःकरण में की जाती है । इन तेरह ही करणों में मन प्रधान है । वह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का सहायक होने से उभयेन्द्रिय माना जाता है। साख्य दर्शन की दृष्टि से मन की उत्पत्ति अहंकार से होने के कारण वह अहकारिक माना गय है, किन्तु आयुर्वेद मतानुसार अन्य द्रव्यो (इन्द्रियों) की भांति मन की उत्पत्ति भी महाभूतों से होने के कारण वह भौतिक होता है । दोनों ही दृष्टि से अहकारिक होने पर अथवा भौतिक होने पर मन की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति (अव्यक्त) होती है । अतः उस प्रकृति में विद्यमान तीन गुण (सत्व–रज–तम) मन में भी होते हैं । तदनुसार तीनों गुणों के अनुरूप सत्व से ज्ञान, रज से प्रवृत्ति और तम से अज्ञान आदि कार्य प्रत्येक मन में दृष्टिगोचर होते हैं । इनमें जिस गुण की अधिकता से जो ज्ञान आदि लक्षण मन में उत्पन्न होते हैं उसी गुण के आधार पर उस मन को अथवा उस मन के अधिष्ठाता को सात्विक, राजस या तामस कहा जाता है । मन के इन गुणों की अभिव्यक्ति मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव के द्वारा भी होती है । अतः उसकी प्रकृति का निर्धारण इन्हीं मानसिक गुणों के आधार पर किया जाता है । जैसे सात्विक प्रकृति, राजसी प्रकृति, तामसी प्रकृति ।

मन को ज्ञान सुख दुख आदि का साधन माना गया है । अतः अन्य कुछ आचार्यों ने इसी आधार पर मन का निम्न लक्षण निर्धारित किया है—

सुखादिसाक्षात्कारस्य करणं मन उच्यते ।
अस्पर्शमणु चानन्तं प्रत्यात्मनियतत्वतः ।।

अर्थात् मन स्पर्श रहित और अणु परिमाण वाला होता है । प्रत्येक शरीरस्थ आत्मा के साथ भिन्न भिन्न मन का संयोग होने से मन अनन्त (अपरिसंख्येय) होते हैं । मन को सुख आदि के साक्षात्कार का करण भी कहा गया है ।

"आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम् ।"

० वै० द० ३/२/१

अर्थात्—आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) का सन्निकर्ष होने पर जिस वस्तु का संयोग होने से ज्ञान होता है तथा जिसका संयोग न होने से ज्ञान नहीं होता, वह वस्तु ही मन है ।

इसी विषय का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

"आत्मनः करणानामिन्द्रियाणां शब्दादिविषयाणां च सद्भावेऽपि कदाचित् कुत्रचिद्विषये ज्ञानं भवति न भवति चेति दृश्यते । तेन इमौ ज्ञानस्य भावाभावौ कारणान्तरं सूचयतः यच्च तदेव मनः ।"

इसके अतिरिक्त मन का एक भिन्न लक्षण और भी किया गया है—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्"— न्या० द० १/१/१६

अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञान की उत्पत्ति न होना ही मन का लक्षण है।

एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है—

"सुखदु:खाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मन:" —तर्क संग्रह

अर्थात् सुख–दुख आदि की अनुभूति की साधन रूप इन्द्रिय ही मन है। अथवा जिस इन्द्रिय से सुख दुख आदि का अनुभव होता है वह इन्द्रिय ही मन कहलाती है।

शरीर में मन के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीर के लिए मन एक अत्यावश्यक द्रव्य है। इसकी उपयोगिता ज्ञान शृंखला के लिये विशेष रूप से हैं। अतः ज्ञानोत्पत्ति का कार्य मन का अस्तित्व मानने से ही सम्पूर्ण होता है। यदि मन का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो इस प्रश्न का समाधान कर पाना असम्भव होगा कि ज्ञानोत्पत्ति किस क्रम से होती है? मन के अभाव में ज्ञानोत्पत्ति का होना नितान्त असम्भव है। ज्ञानोत्पत्ति क्रम में यदि केवल आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय को ही कारण माना जाय तो इतने मात्र से निर्वाह होना सम्भव नहीं है। क्योंकि केवल उपर्युक्त कारणों का संयोग ज्ञानोत्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। इन कारणों के अतिरिक्त एक अन्य कारण और होता है जिसका संयोग होने पर ज्ञान होता है तथा उसका संयोग न होने पर ज्ञान नहीं होता। वह अतिरिक्त कारण मन ही है।

इसके अतिरिक्त यदि मन का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो स्थिति यह होनी है कि व्यापक होने के कारण आत्मा का इन्द्रियों के साथ सदा संयोग बना रहता है। इन्द्रियां भी अपने अपने विषयों के साथ सदैव संयुक्त रहती हैं। अत: इन्द्रियों को हमेशा ज्ञानोत्पत्ति होते रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त आत्मा समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ ही संयुक्त रहता है। अत: समस्त इन्द्रियों को ज्ञान भी एक साथ संयुक्त रूप से ही होना चाहिये। किन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं देखा जाता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में कोई ऐसा महत्वपूर्ण द्रव्य अवश्य है जिसके बिना ज्ञान नहीं होता तथा जिसके रहने पर ज्ञान होता है। वह महत्वपूर्ण द्रव्य मन ही है।

मन के अस्तित्व की सिद्धि के लिए यह प्रमाण भी दिया जा सकता है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इनके साक्षात्कार के लिए क्रमशः चक्षु, रसना, घ्राण, स्पर्शन और श्रोत्र इन्द्रियां हैं, जिनके द्वारा उपर्युक्त रूप आदि विषयों का ज्ञान एवं ग्रहण होता है। किन्तु सुख–दु:ख आदि भावों का अनुभव उपर्युक्त चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा सम्भव नहीं है। अत: इसके लिये उपर्युक्त इन्द्रियों से भिन्न कोई अतिरिक्त पृथक् साधन होना चाहिये। वह साधन है मन। अर्थात् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के

द्वारा अग्राह्य सुख--दुःख आदि के अनुभव का साधन मन है। इसीलिए मन का एक लक्षण यह भी किया गया कि "सुखदुःखद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।" इससे मन का स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट प्रतीत होता है।

मन के गुण

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।

अर्थ—अणुत्व (सूक्ष्मत्व अथवा सूक्ष्म होना) तथा एकत्व (एक होना) ये मन के दो गुण होते हैं। अर्थात् मन अणु परिमाण वाला तथा एक होता है।

मन को अणु परिमाण वाला मानने से उसके सर्व व्यापकत्व का निराकरण तथा असर्वव्यापकत्व की सिद्धि होती है। मन को प्रति शरीर एक मानते से इन्द्रियों की भांति उनके अनेकत्व का निराकरण होता है।

यदि मन का अणुत्व तथा एकत्व स्वीकार न कर उसे महत् परिमाण वाला तथा अनेक माना जाय तो इन्द्रियो के साथ उसका सम्पर्क निरन्तर बना रहेगा और ऐसी स्थिति में उसे समस्त इन्द्रियों द्वारा एक साथ ही सर्वविध ज्ञान की अनुभूति होने लगेगी। जिससे ज्ञान परम्परा में एक प्रकार की विडम्बना उत्पन्न हो जायगी। अर्थात् उपर्युक्त स्थिति में मन को वर्तमान की भाँति व्यवस्थित ज्ञान की अनुभूति नहीं हो पायेगी। क्योंकि एक साथ समस्त इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होने से समस्त ज्ञान परस्पर में टकराएंगे और ज्ञान परम्परा में व्यवधान होने लगेगा। जिससे मन को किसी भी वस्तु के सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि क्रमानुसार और व्यवस्थित ज्ञान शृंखला ही वस्तु में सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादक है तथा मन ऐसे ही ज्ञान की उपलब्धि में सहायक होता है। अबाधित तथा विषमताओं से रहित ज्ञान ही मानस ग्राह्य है और इस प्रकार का ज्ञान एक काल में केवल एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्रति शरीर में मन एक ही होता है।

मन के अणुत्व प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि मन की स्थिति शरीर में अणु या सूक्ष्म रूप में है। वह आत्मा की भांति सर्व शरीर में व्याप्त होकर रहने वाला द्रव्य नहीं है। सूक्ष्म होने के कारण वह शरीर के एक प्रदेश के कई हजारवें भाग में स्थित रहता है। किन्तु अपनी सूक्ष्मता, चंचलता एवं तीव्र गतिशीलता के कारण वह सर्वदेहव्यापी की भाँति प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष में यह देखा जाता है कि जब मन किसी एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त रहता है तो केवल उसी इन्द्रिय द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है अन्य द्वारा नहीं। जैसे कई बार कोई व्यक्ति किसी कार्य विशेष अथवा

अध्ययन में तल्लीन होकर लग जाता है तो बाहर या अन्य स्थान से आने वाली आवाजों का ज्ञान उसे नहीं होता। इसी प्रकार परस्पर दो या अधिक व्यक्तिओं के वार्तालाप करने पर किसी व्यक्ति का मन वार्तालाप की ओर न होकर अन्य विषयों के चिन्तन में लग जाता है। ऐसी स्थिति में उन व्यक्तियों के वार्तालाप का स्वर निरन्तर उस व्यक्ति के कान में पड़ते रहने पर भी उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो पाता कि अन्य व्यक्तियों में परस्पर क्या वार्तालाप हो रहा है? इसी भांति कोई पुस्तक पढ़ते पढ़ते बीच में मन किसी अन्य विषय में लग जाता है तो उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो पाता कि क्या पढ़ा गया है? जब कक्षा में छात्रगण अपने अध्यापक के प्रवचन (भाषण) को सुनते हैं तो कई छात्रों का मन अन्यत्र विषय में संलग्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस छात्र के लिये यह कह सकना कठिन हो जाता है कि कक्षा में अध्यापक महोदय ने अपने भाषण में क्या कहा? इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन जब जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है तब केवल उसी इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। इससे इस तथ्य की पुष्टि भी होती है कि मन आत्मा के सदृश महान् या सर्व शरीर व्यापी नहीं है, अपितु अणु रूप है। अणुरूप होने के कारण वह एक ही समय में समस्त इन्द्रियों में संचार नहीं कर सकता। यही कारण है कि वह एक काल में केवल एक ही इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से भी स्पष्ट है। कई बार हमको ऐसी प्रतीति भी होती है कि पाँचों इन्द्रियों द्वारा एक साथ ही ज्ञान हो रहा है। जैसे भोजन करते समय हाथ के स्पर्श द्वारा भोजन के शीतत्व–उष्णत्व का ज्ञान होता है। रसना द्वारा रस ज्ञान भी होता है। घ्राण द्वारा गन्ध की अनुभूति होती है। चक्षु द्वारा उसे सतत देखते रहते हैं। साथ में वार्तालाप करते रहने पर शब्द श्रवण भी होता है। अतः उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त ज्ञानों का अनुभव एक साथ हो रहा है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। मन की चंचलता एवं तीव्र गतिशीलता के कारण वह समस्त इन्द्रियों के साथ क्रमशः सम्पर्क बनाता है। अर्थात् एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी तीसरी के बाद चौथी, चौथी के बाद पांचवीं इस प्रकार क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है। इन्द्रियों के साथ उसका संयोग इतनी शीघ्रता और तीव्र गति से होता है कि एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने के बीच के व्यवधान या अन्तर की प्रतीति नहीं हो पाती। अतः ऐसा लगता है कि मन समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ संयुक्त है। इन्द्रियों के साथ मन के संयोग की यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार सम्पादित होती है जिस प्रकार से कमल के पत्तों को एकत्र कर उन्हें

एक के ऊपर एक रख दिया जाय। तदनन्तर उन समस्त पत्तों का वेधन एक सुई द्वारा किया जाय। सुई द्वारा पत्तों का वेधन करने पर ऐसा लगता है कि समस्त पत्तों का वेधन एक साथ ही हो गया है, किन्तु ऐसा नहीं होता। अर्थात् उन पत्तों का वेधन तो क्रमशः एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा इस प्रकार होता है किन्तु यह वेधन इतनी तीव्र गति से होता है कि क्रमशः उनके वेधन का ज्ञान नहीं हो पाता और हम यह समझते हैं कि सभी पत्तों का वेधन एक साथ ही हो गया है। ठीक यही स्थिति इन्द्रियों के साथ मन के संयोग की है। इस सन्दर्भ में एक अन्य उदाहरण अलात चक्र का भी दिया जा सकता है। अर्थात् एक पतली लोह शलाका के दोनों सिरों पर थोड़ा सा कपड़ा बांध कर उसे मिट्टी के तेल में भिगो कर उसमें आग लगा दी जाती है। उसके बाद उसे जोरों घुमाया जाता है जिससे प्रज्जवलित अग्नि के चक्र की भांति प्रतीति होती है। यही अलात चक्र कहलाता है। इसमें शलाका के केवल दो सिरों में आग लगी रहती है किन्तु उसके घूमने की गति अत्यन्त तीव्र होने के कारण चक्र के समान अनुभव होता है। इसी प्रकार मन भी तीव्र गति से शरीर में इतस्ततः घूमता है और क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन अणु परिमाण वाला तथा एक है। मन के अणुत्व तथा एकत्व की सिद्धि में युगपत् ज्ञान की उत्पत्ति न होना विशेष महत्वपूर्ण है। इसी आधार पर अन्य विद्वानों एवं आचार्यों ने भी मन के अणुत्व तथा एकत्व को सिद्ध किया है। महर्षि गौतम ने मन के एकत्व की सिद्धि के लिये कहा है– **'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः"** इति न्या० द० ३/२/६० अर्थात् ज्ञान के एक साथ न होने से मन एक है। इसी का समर्थन महर्षि कणाद ने भी किया है। उन्होंने अपने वैशेषिक दर्शन में इस सन्दर्भ में कहा है—**"प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानयौगद्याच्चैकं"** इति-वै० द० ३।२।३ अर्थात् एक समय में एक ही प्रयत्न तथा ज्ञान होने से अथवा प्रयत्न तथा ज्ञान के अयौगपद्य से मन एक होता है। आचार्य विश्वनाथ ने कारिकावलि में ज्ञानों के एक कालिक न होने के कारण मन को अणु परिमाण वाला कहा है। यथा—**"अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते"** इति विश्वनाथ कारिका ३८५

कभी कभी एक समय में ही दीर्घ शष्कुली भक्षण में गन्ध, रस, रूप, आदि अनेक विषयों का ज्ञान होने की भ्रान्ति होती है। वह मन के अति तीव्र संचार के कारण होती है। इस प्रकरण को शत कमल पत्र भेदन के उदाहरण से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

मन के विषय तथा कर्म

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च ।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः ।
ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धि प्रवर्तते ॥

—च० शा० १

अर्थ--चिन्ता के योग्य, गुणागुण का विचार के योग्य, तर्क के योग्य, ध्यान के योग्य और संकल्प के योग्य भाव या पदार्थ तथा मन द्वारा अनुभव किए जाने वाले अन्य सुख दुःख आदि भाव ये सब मन के विषय हैं। समस्त इन्द्रियों को अपने अपने विषय में प्रेरित करना तथा अहित विषयों में उनकी प्रवृत्ति को रोकना अर्थात् इन्द्रियों का नियन्त्रण करना अथवा अपना नियमन करना, किसी विषय में तर्क करना, हिताहित का विचार करना ते सब मन के कर्म हैं।

चिन्त्य--मन के द्वारा चिन्तन किए जाने योग्य विषय जैसे यह करने योग्य है या नहीं। विचार्य-उपपत्ति या अनुपपत्ति (तर्क) द्वारा यह करने से लाभ होगा और यह करने से हानि होगी अथवा किसी विषय के गुण दोष का ज्ञान करना विचार कहलाता है। इस प्रकार क विचार योग्य विषय को विचार्य कहा जाता है। ऊह्य-सम्भावना के द्वारा जैसे यह कार्य इसी प्रकार होगा अथवा शास्त्रानुकूल तर्कों द्वारा किसी विषय के संशय, पूर्वपक्ष आदि का निवारण और उत्तर पक्ष के स्थापन आदि के निर्णय के लिये परीक्षण को ऊहा कहते हैं। उस ऊहा के योग्य विषय ऊह्य कहलाते हैं। ध्येय-भावना ज्ञान का विषय ध्येय कहलाता है। अथवा एकाग्र मन से किसी वस्तु स्वरूप का अनुचिन्तन करना ध्यान कहलाता है और ध्यान के योग्य विषय को ध्येय कहते हैं। संकल्प्य-अमुक विषय या वस्तु गुण युक्त है अथवा दोषयुक्त इसका निश्चय करना अथवा कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर अभीष्ट प्राप्ति (सिद्धि) के लिये यही करना है-ऐसे निर्णय को संकल्प कहते हैं। संकल्प के योग्य जो विषय होता है वह संकल्प्य कहलाता है।

ऊपर जिन विषयों का उल्लेख या प्रतिपादन किया गया है ये सब विषय मन के होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी विषय मन के होते हैं जो मन द्वारा ग्राह्य होते हैं अथवा मन की सहायता से जिनका ग्रहण होता है। इस दृष्टि से मन के विषयों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। अर्थात् मन के विषय दो प्रकार के होते हैं–प्रथम प्रकार के विषय वे हैं जो पांच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से मन द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ये विषय यद्यपि मुख्य रूप से इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं। तथापि इन्द्रियों की सहायता से मन ही इनका ग्रहण

करता है। दूसरे प्रकार के विषय इन्द्रिय निरपेक्ष होते हैं। ये मन के स्वतन्त्र विषय होते हैं। अत: मन के विषयों से मुख्यत: इन्हीं इन्द्रिय निरपेक्ष स्वतन्त्र विषयों का ग्रहण किया जाता है। इन चिन्त्य आदि विषयों के ग्रहण में इन्द्रियां सर्वथा असमर्थ रहती हैं। अत: मन द्वारा इन्द्रियातीत विषयों का ग्रहण किए जाने से वह अतीन्द्रिय कहलाता है।

इन्द्रियों के विषय नियत हैं। "प्रतिनियतविषयैकाणीन्द्रियाणि" अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय प्रतिनियत है वह इन्द्रिय मात्र उसी विषय का ग्रहण करती है, अन्य का नहीं। जैसे चक्षु इन्द्रिय द्वारा केवल रूप विषय का ही ग्रहण होता है, अन्य शब्द आदि विषयों का नहीं। किन्तु मन सब इन्द्रियों के साथ समस्त विषयों का ग्रहण करता है। इतना ही नहीं, इन्द्रियों के विषयों के अतिरिक्त विविध विषयों का चिन्तन, किसी विषय के गुणागुण का विचार, शास्त्रों के अनुकूल तर्क करना, एकाग्र मनसा वस्तु विशेष का ध्यान, कर्तव्याकर्तव्य का विचार कर किसी विषय का संकल्प, सुख-दु:ख आदि आभ्यन्तरिक भावों का अनुभव करना इत्यादि भी मन के विषय हैं। इस प्रकार इन्द्रिय ग्राह्य और इन्द्रियातीत दोनों प्रकार के विषयों का ग्रहण मन के द्वारा होता है।

मन के उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट कर्म भी होते हैं। मन चूंकि एक द्रव्य है। अत: द्रव्यत्व की दृष्टि से उसमें गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहना चाहिए। गुण और कर्म के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं रहता। अत: मन के कर्मों का भी निर्देश किया गया है। मुख्य रूप से मन के दो कर्म होते हैं-एक है इन्द्रियों को नियन्त्रित करना अथवा उन्हें अहित विषयों से पराङ्मुख करना और स्वविषयों में प्रवृत्ति। मन का दूसरा कर्म है धृति की सहायता से स्वय अपना निग्रह अथवा नियन्त्रण करना। इसके अतिरिक्त विभिन्न तथ्यपूर्ण व युक्तिसगत तर्क प्रस्तुत करना तथा हिताहित या गुणागुण का विचार करना भी मन का ही कर्म है।

मन का स्थान

"सत्वादिधामहृदयं स्तनोर:कोष्ठमध्यगम्" —अष्टांग हृदय, शा०, अ० ४

"हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्" —सुश्रुत, शारीर, अ० ३

षडगमंगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थ पचमम्।
आत्मा च सगुणश्चेत: सर्व च हृदि संस्थितम्॥ —चरक संहिता

अर्थ--सत्व (मन) आदि का स्थान हृदय है, जो दोनों स्तनों और उर:कोष्ठ (वक्षस्थल) के मध्य में स्थित है। (अष्टांग हृदय)

हृदय में बुद्धि और मन का निवास होने से गर्भ में प्रथम हृदय का निर्माण होता है—ऐसा कृतवीर्य का मत है। (सुश्रुत)

शरीर के छओं अंगों (दो हाथ, दो पैर, मध्य भाग तथा शिरोग्रीवा) का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) और उनके पांचों अर्थ (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) सगुण आत्मा और चित्त (मन) ये सब हृदय में अवस्थित रहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मन और चेतना का स्थान हृदय है। यहां पर कुछ लोग हृदय शब्द के अर्थ में भ्रम उत्पन्न करते हैं। उनका कथन है कि हृदय शब्द से यहां वक्ष प्रदेश में स्थित मांसपेशीमय हृदय का ग्रहण न करके शिरोगत मस्तिष्क का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि "बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य" इत्यादि वाक्यों द्वारा बुद्धि का निवास स्थान हृदय को शिरः कपाल (प्रदेश) में स्थित मस्तिष्क मानने की पुष्टि होती है। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। अष्टांग हृदय के उपर्युक्त वचन द्वारा प्रथम ही मन के स्थान रूप हृदय की स्थिति वक्ष प्रदेश में दोनों स्तनों के मध्य में निरुपित की गई है। अतः हृदय शब्द से सर्व सामान्य में प्रचलित मांसपेशीमय हृदय का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त "हृदस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च" इत्यादि सुश्रुत वचन द्वारा वक्ष प्रदेश में स्थित हृदय का ही बोध होता है। अतः शिरः कपाल में स्थित मस्तिष्क को हृदय मानना उपयुक्त नहीं है।

कुछ लोगों ने मन का स्थान हृदय की अपेक्षा जो मस्तिष्क निरुपित किया है, एक दृष्टि से यह भी मान्य हो सकता है। क्योंकि समस्त इन्द्रियों का आधार शिर ही है। चरक ने शिर को समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठान निरुपित करते हुए शिर का महत्व निम्न रूप से प्रतिपादित किया है—

> प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
> यदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते ॥ —च० सू० १७

अर्थ--जिसमें प्राणियों के प्राण आश्रित रहते हैं, जिसमें समस्त इन्द्रियां आश्रित हैं और जो शरीर के समस्त अंगों में उत्तमांग (श्रेष्ठ) है वह शिर कहलाता है।

इसी प्रकार भेल संहिता में भी मन का स्थान शिर में प्रतिपादित किया गया है—

> शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
> तत्र तद्विविषयानिन्द्रियान् रसादिकान् ॥
> समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति।
> तन्मनः प्रभावं चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ॥

कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम् ।
क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम् ॥

अर्थात् समस्त इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन शिरः तालु में स्थित रहता है। वह वहां पर समीपस्थ इन्द्रियों के रसादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा तीन भावों का नियन्त्रण करता है। वह मन समस्त इन्द्रिय रूप, प्रभावशाली और बलयुक्त होता है। सभी प्रकार की बुद्धियों का कारण रूप चित्त हृदय में स्थित रहता है। वह समस्त क्रियाओं का भी कारण है।

इस प्रकार सिर भी मन का स्थान स्वीकृत किया गया है। समस्त ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठान सिर होने के कारण मन का अधिष्ठान भी शिर स्वतः प्रतिपादित होता है। क्योंकि मन स्वय एक इन्द्रिय है। इसके अतिरिक्त शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे बड़ा केन्द्र शिर ही है। समस्त इन्द्रियाँ वहां केन्द्रित, नियन्त्रित और उपस्थित रहती हैं। अतः दीर्घ अवधि तक मन का भी वहां उपस्थित रहना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से शिर को मन का स्थान माना गया है। संक्षेप में मन का स्थायी निवास, नियन्त्रण केन्द्र और कार्य क्षेत्र की दृष्टि से मन के स्थान को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता हैं। मन का मूल स्थायी निवास स्थान हृदय है--इस तथ्य को समस्त आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों का केन्द्र मस्तिष्क है जहां विषय स्वरुप का निर्णय एवं इन्द्रियों को प्रवृत्ति या निवृत्ति हेतु आज्ञा प्राप्त होती हैं। मन हृदय से मनोवह स्रोतों द्वारा मस्तिष्क में आता है और वहां से समस्त इन्द्रियों का निग्रह या नियन्त्रण करता है। अतः मन का नियन्त्रण केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्क है। मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। सर्व शरीर में मनोवह स्रोतों की व्याप्ति होने के कारण शरीर के किसी भी सूक्ष्मतम परमाणु भाग में मन त्वरित गति से पहुँच जाता है। अतः कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। केवल हृदय में स्थित रहता हुआ मन इन्द्रियों का नियन्त्रण, वस्तु स्वरूप का ग्रहण एवं सर्व शरीर परिभ्रमण नहीं कर सकता। अतः वह हृदय से मनोवह स्रोतों द्वारा शिर और सम्पूर्ण शरीर में सतत भ्रमण करता हुआ हृदय में स्थित आत्मा को ज्ञान कराता है। इस प्रकार कार्य विभाजन की दृष्टि से मन का स्थान भिन्न भिन्न समझना चाहिए। किन्तु मूल रूपेण मन का स्थान हृदय है।

तम का द्रव्यत्व खन्डन

कुछ आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार पृथ्वी आदि नौ द्रव्य माने गए हैं उसी प्रकार तम (अंधकार) को भी दसवां द्रव्य मान लेना चाहिये। क्योंकि द्रव्य का जो लक्षण बतलाया गया है, वह इसमें पूर्णतः घटित हो जाता है पूर्वोक्त द्रव्य लक्षण के अनुसार जो गुण और कर्म का आश्रय होता है तथा जो गुण और कर्म का समवायी कारण होता है वह द्रव्य कहलाता है। द्रव्य का यह लक्षण तम में पूर्णतः प्रतिघटित होता है। क्योंकि 'नीलं तमश्चलति' इस वाक्य में तम का नीलत्व (कृष्णत्व वर्ण) उसका गुण है तथा चलन रूप क्रिया उसका कर्म है। तम में गुण और कर्म दोनों होने से वह भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है। पूर्वोक्त नौ द्रव्यों में से किसी में भी इसका (अन्तर्भाव) नहीं किया जा सकता। यथा—(१) पृथ्वी में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि पृथ्वी की भांति इसमें न तो गन्ध है और न ही इसमें स्पर्श है। अतः गन्धाभाव एव स्पर्शाभाव होने से यह पृथ्वी नहीं हो सकता।

(२) जल में इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। जल मे जिस भांति रस, शीत स्पर्श एवं शुक्ल रूपत्व पाया जाता है, उसी भांति इसमें इन गुणों का अभाव होने से जलान्तर्गत भी इसे नहीं माना जा सकता।

(३) तेज में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। तेज में उष्ण स्पर्श एवं भास्वर स्वरूप होता है। किन्तु तम में इसका अभाव होने से इसे तेज या तेजोऽन्तर्गत भी नहीं मान सकते।

(४) वायु में इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। क्योंकि वायु का प्रत्यात्मनियत गुण स्पर्श है। इसके अतिरिक्त सदागतिमत्व भी उसका गुण है। तम में इन दोनों गुणों का सर्वथा अभाव है। अतः वायु के अन्तर्गत इसे नही माना जा सकता।

(५) आकाश विरोधी गुणधर्मी होने के कारण तम को आकाश के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि आकाश एक रूप विहीन द्रव्य है जबकि तम एक रूपी द्रव्य है। इसके अतिरिक्त आकाश एक व्यापक द्रव्य है जबकि तम व्यापक नहीं। अतः आकाश में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

(६) अन्य आत्मा, मन, काल और दिशा मे इसका अन्तर्भाव नही किया जा सकता। क्योंकि ये चारों द्रव्य भी रूप विहीन हैं। इनके विपरीत तम में रूप गुण का सद्भाव है। इस प्रकार उपर्युक्त नौ द्रव्यों में तम का अन्तर्भाव न होने से इसे अतिरिक्त स्वतन्त्र दसवां द्रव्य मानना चाहिये।

आचार्यों ने तम के द्रव्यत्व का खण्डन करते हुए उपर्युक बातों का उत्तर निम्न प्रकार से दिया है—तम कोई द्रव्य नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें द्रव्यत्व का

अभाव है। तम कोई द्रव्य नहीं है, वह तो प्रकाश का अभाव मात्र है। यदि यह कहा जाय कि तम का अभाव ही प्रकाश है तो यह कहना अयुक्ति युक्त है। क्योंकि प्रकाश तेज रूप है। तेज का अनुभव स्पष्ट है। यह चक्षु एवं त्वग् इन्द्रिय ग्राह्य है। तेज के दहन पचन आदि कर्म प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। इसके विपरीत तम चक्षु इन्द्रिय मात्र ग्राह्य है। तम की गतिमान (चलन) क्रिया का निराकरण करते हुये महर्षि कणाद ने कहा है कि तम स्वतः कभी नहीं चलता। तेज को आवृत करने वाला कोई द्रव्य जब चलता है तब हमें यह प्रतीति होती है कि छाया चल रही है। वस्तुतः गति छाया की नहीं, अपितु जिस द्रव्य की वह छाया है उस द्रव्य की गति होती है। तम में गति की जा प्रतीति होती है वह भ्रम मात्र है। अतः तमाश्रित कोई कर्म नही है।

दूसरी बात यह है कि तम जब चक्षु इन्द्रिय ग्राह्य है तो इसे रूपवान् द्रव्य माना जा सकता है। क्योंकि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा केवल रूपवान् द्रव्य का ही ग्रहण होता है। इसके समाधान में कहा गया है कि चक्षु इन्द्रिय रूपवान् द्रव्य का ग्रहण केवल प्रकाश की उपस्थिति मे ही करती है। यदि तम वस्तुतः रूपवान् द्रव्य है तो प्रकाश को उपस्थिति में उसका ग्रहण या ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रकाश की उपस्थिति में तत्काल तम का विनाश या अभाव हो जाता है। अतः इसे रूपवान् द्रव्य भी नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त तम में नीलत्व (कृष्णत्व) वर्ण की प्रतीति होने के कारण यह रूप विहीन द्रव्य भी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में तेज (प्रकाश) का अभाव मात्र ही तम मानना उपयुक्त है। वस्तुतः तम में नील (कृष्ण) रूप एवं चलन क्रिया का ज्ञान भ्रान्ति मात्र है। वास्तविक रूप से तो केवल दीपक की अपसरण क्रिया के कारण ही तम की चलन क्रिया का भान होता है। अतः तम स्वतन्त्र अस्तित्ववान् दसम द्रव्य नहीं हो सकता। प्रस्तुत प्रसंग में न्याय मुक्तावलि का निम्न उद्धरण दृष्टव्य है—आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणोपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादि कल्पनागौरवं च स्याद्।"

— न्यायमुक्तावलि।

तृतीय अध्याय

गुण निरूपण

द्रव्य वर्णन के पश्चात् गुण का वर्णन किया जा रहा है। गुण का परिगणन पदार्थ के अन्तर्गत किया गया है। अर्थात् गुण भी एक पदार्थ है। द्रव्य के पश्चात् गुण का वर्णन उसके महत्व के कारण किया जा रहा है। गुण सामान्यतः द्रव्य का उपकरण माना जाता है। अर्थात् गुण के अभाव में द्रव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में कोई न कोई गुण अवश्य ही विद्यमान रहता है। अतः द्रव्य के अस्तित्व के लिये तदन्तर्गत स्थित गुण का विशेष महत्व है। द्रव्य और गुण ये दोनों यद्यपि भिन्न भिन्न पदार्थ हैं तथापि दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण ही दोनों का अस्तित्व विद्यमान रहता है। अर्थात् दोनों ही पदार्थ अपनी सत्ता के लिए एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। द्रव्य से पृथक् हुए गुण का कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता। उसकी अनुभूति द्रव्याश्रित होने पर ही होती है। इसी भाँति द्रव्य का अस्तित्व भी बिना गुण के नहीं रहता। अर्थात् द्रव्य के अस्तित्व के लिये गुण का संयोग नितान्त अपेक्षित है।

द्रव्य और गुण परस्पर आधार आधेय भाव अथवा आश्रय आश्रयी भाव से स्थित रहते हैं। गुण सदा द्रव्य के आश्रित होकर रहता है। अतः द्रव्य आधार या आश्रय होता है तथा गुण आधेय या आश्रयी होता है। गुण हमेशा द्रव्य की विशेषता बतलाने वाला होता है। अतः वह विशेषण भी कहलाता है। गुण द्रव्य के आश्रित होकर रहता है। अतः द्रव्य प्रधान होता है और गुण अप्रधान। जो दूसरों का आश्रय तथा कर्ता होता है वह प्रधान या मुख्य होता है और जो अन्याश्रित, उपकरण या विशेषण होता है वह अप्रधान या गौण होता है। प्रस्तुत प्रकरण का अभिधेय पदार्थ गुण अन्याश्रित (प्रत्याश्रित) उपकरण तथा द्रव्य की विशेषता का प्रतिपादक होता है, अतः वह गौण होता है और गौण होने के कारण उसकी 'गुण' संज्ञा है। इस प्रकार गुण की गुण संज्ञा पूर्णतः सार्थक है जो अपने आप में उपयोगी महत्त्वपूर्ण एवं परिपूर्ण है। अपना प्रमुख विशेषताओं एवं महत्व के कारण गुण का समावेश किसी अन्य पदार्थ में नहीं किया जा सकता। अतः इसे एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है।

गुण का लक्षण

"समवायी तु निश्चेष्टं कारणं गुणः।" —चरक, सू० १/५१

"अथ द्रव्याश्रिता, ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः।" —कारिकावलि।

"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्व कारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।"

—वै० द० १/१/१६

"गुणत्वजातिमत्वमिति गुणसामान्य लक्षणम्।"—प्रशस्तपाद

"विश्व लक्षणा गुणाः।" —रस वैशेषिक सूत्र १/१६

गुण सम्बन्धी उपर्युक्त परिभाषाओं में आचार्यों ने स्वकीय दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से गुण का लक्षण कहा है। इन लक्षणों में यद्यपि विशेष अन्तर नहीं है किन्तु फिर भी कुछ भिन्नता अवश्य है।

जो द्रव्य में समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) से रहता हो, चेष्टा रहित हो, स्वयं भी चेष्टा (क्रिया या कर्म) रूप न हो, स्वयं निर्गुण (गुण रहित) हो तथा स्वसमान गुणान्तर (अन्य गुण) की उत्पत्ति में कारणभूत हो वह 'गुण' कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जो द्रव्य में आश्रय करके रहता (द्रव्याश्रयी) हो, गुण रहित हो, कर्म रहित या कर्म से भिन्न हो और जो स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति में असमवायी कारण हो उसे 'गुण' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से गुण का जो लक्षण किया गया है उसमें प्रत्येक पद सकारण अपेक्षित एवं महत्वपूर्ण है। क्योंकि जिस प्रकार द्रव्य से गुण का नित्य सम्बन्ध है। उसी प्रकार द्रव्य से कर्म का भी नित्य सम्बन्ध है। इसलिये कर्म से भिन्न जो पदार्थ समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहता हो वह गुण कहलाता है। किन्तु गुण की यह परिभाषा भी निर्दोष एवं समीचीन नहीं है। क्योंकि द्रव्य में द्रव्यत्व भी समवाय सम्बन्ध से रहता है और वह द्रव्यत्व कर्म से भिन्न भी है। अतः गुण की यह परिभाषा द्रव्य में भी संघटित हो जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। इसलिये गुण की यह परिभाषा समुचित एवं उपयुक्त नहीं है।

गुण की सामान्य परिभाषा करने के लिये यह कहना पड़ेगा कि जो पदार्थ कर्म से भिन्न हो समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहता हो तथा गुण और कर्म का आश्रय न हो वह गुण कहलाता है। इस प्रकार की परिभाषा करने पर गुण का लक्षण द्रव्य में अतिव्याप्त नहीं होता। क्योंकि द्रव्य तो मुख्य रूप से गुण और कर्म का ही आश्रय है। जबकि गुण स्वयं निर्गुण एवं कर्मरहित होता है। इसीलिये गुण के लक्षण में "निष्क्रिया निर्गुणाः गुणाः" कहा गया है।

किन्तु गुण का इस प्रकार का लक्षण करने पर भी यह लक्षण सामान्य-विशेष में घटित हो जाता है। क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों ही कर्म से भिन्न हैं, दोनों ही गुण व कर्म से रहित हैं तथा दोनों ही द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः गुण का उपर्युक्त लक्षण सामान्य विशेष में अतिव्याप्त होने से निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। गुण का निर्दुष्ट एवं सर्वमान्य लक्षण बनाने के लिये उसकी परिभाषा निम्न प्रकार से करनी होगी, जो पदार्थ कर्म से भिन्न हो, गुण और कर्म से रहित हो, समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहता हो तथा कार्य के प्रति असमवायि कारण हो अर्थात् स्वसमानगुणान्तर की वृद्धि करने वाला हो उसे 'गुण' कहते हैं। गुण की उपर्युक्त परिभाषा करने पर सामान्य और विशेष में गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि कारणत्व सामान्य-विशेष में नहीं होता। अतः गुण का यह लक्षण पूर्णतः निर्दुष्ट एवं परिपूर्ण है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गुण एक स्वतन्त्र पदार्थ है। गुण को स्वतन्त्र पदार्थ होने का कारण यह है कि गुण का जो लक्षण बतलाया गया है वह लक्षण किसी अन्य में घटित नहीं होता। इसके अतिरिक्त गुण में स्वतन्त्र गुणत्व जाति रहती है। गुणत्व जाति वाला होने से गुण एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जैसे द्रव्य में द्रव्यत्व जाति और कर्म में कर्मत्व जाति होती है उसी भांति गुण में भी गुणत्व जाति होती है। गुणत्व जाति के बिना कोई पदार्थ गुण नहीं कहला सकता।

एक अन्य आचार्य ने गुण का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है। उनके मतानुसार **"विश्वलक्षणा गुणाः"** अर्थात् जिनका लक्षण विश्व रूप में हो। विश्व की भांति फैले हुए विकीर्ण या भिन्न भिन्न लक्षण वृत्ति वाले पदार्थ को गुण कहते हैं। आचार्य भदन्त-नागार्जुन के मतानुसार संसार में भिन्न भिन्न प्रकार के गुण विद्यमान रहते हैं। उन सब को एक श्रेणी में या एक लक्षण में बांध कर रखना सम्भव नहीं है। भिन्न भिन्न गुण होने के कारण उनका लक्षण भी भिन्न भिन्न ही होगा। जैसे शीत-उष्ण आदि गुण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं, स्निग्ध और रूक्ष गुण चक्षुर्ग्राह्य और स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। इस प्रकार समस्त गुण भिन्न भिन्न लक्षण वाले होने से उनका एक ऐसा लक्षण नहीं बन सकता जिसमें सब गुणों का अन्तर्भाव होता है। अतः गुण विश्व लक्षण अर्थात् भिन्न भिन्न लक्षण वाले हैं। इसी कारण से उनका एतद्विध लक्षण किया गया है।

गुण-लक्षण का विमर्श करने के उपरांत निष्कर्ष यह निकलता है कि जिसमें निम्न बातें पाई जावें वह गुण कहलाता है।

१—द्रव्याश्रयी (द्रव्य के आश्रित) हो।

२—निर्गुण (गुण से रहित) हो।

३—निष्क्रिय (कर्म से रहित) हो।
४—स्वयं कर्म रूप न हो।
५—कार्य के प्रति असमवायि कारण अथवा स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति करने वाला हो। सयोग विभाग में अनपेक्ष कारण न हो।
६—गुणत्व जाति वाला हो।
उपर्युक्त छः लक्षणों वाला गुण होता है।

गुण सख्या

आयुर्वेद में गुणों की सख्या इकतालीस स्वीकार की गई है। किन्तु वैशेषिक मतानुसार केवल चौबीस गुण ही माने गये हैं। आयुर्वेद में जो ४१ गुण माने गये हैं उनको चार श्रेणी में विभक्त कर दिया गया है। यथा वैशेषिक गुण सामान्य गुण, तथा आध्यात्मिक या आत्म गुण। पुनः सामान्य गुण दो प्रकार के होते हैं—कर्मण्य सामान्य गुण (ये शारीर गुण भी कहलाते हैं) तथा परादि सामान्य गुण। इनमे वैशेषिक गुण पांच, कर्मण्य सामान्य गुण बीस, आध्यात्मिक या आत्म गुण छः तथा परादि सामान्य गुण दस, इस प्रकार कुल इकतालीस गुण होते हैं।

कुछ आचार्यों ने गुणों की संख्या छियालीस मानी है। वे उपर्युक्त ४१ गुणो के अतिरिक्त ५ अन्य गुणो को और मानते हैं। इसमें तीन महागुण होते हैं और दो निमित्त गुण होते हैं।

आयुर्वेदोक्त ४१ गुण निम्न प्रकार हैं—

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ता परादयः।
गुणाः प्रोक्ताः— — — — — —॥ —चरक, सूत्र. १।४९

अर्थ—पांचों इन्द्रियों के अर्थ (विषय) अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच को वैशेषिक गुण कहा गया है। क्योंकि ये प्रत्येक महाभूत के अपने विशेष गुण हैं। एक महाभूत के गुण अन्य महाभूतों में भी उपलब्ध होते हैं। वे भूतान्तरानुप्रवेश से (अन्य महाभूतो के संयोगवश) आते हैं। गुरु, लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल,, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव ये २० गुण कर्मण्य सामान्य गुण कहलाते हैं। आचार्य श्री गंगाधर जी ने इन्हें "शारीर गुण" की संज्ञा दी है। शरीर मे इन गुणों के आधार पर ही कर्म होता है अर्थात् शरीर में द्रव्य का प्रयोग करने के पश्चात् सूक्ष्म से सूक्ष्म जितनी भी क्रियाएं होती हैं वे सब इन गुणों पर ही आधारित रहती हैं, अतः इन्हें कर्मण्य गुण कहा जाता है। ये गुण सामान्यतया पृथिव्यादि महाभूतों में वर्तमान रहते हैं, अतः इन्हें "सामान्य गुण" भी कहा जाता है। शरीर के लिए विशेषतः इन्हीं गुणों की उपयोगिता होने से इन्हें "शारीर गुण" भी कहा जाता है। बुद्धि (ज्ञान) जिसके अन्तर्गत स्मृति, चेतना,

धृति, अहंकार आदि आत्मा के गुणों का भी समावेश है, अर्थात् बुद्धि शब्द से उपर्युक्त इन गुणों का ग्रहण भी कर लेना चाहिए; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये छः आत्मा के विशेष गुण होने से "आध्यात्मिक" या "आत्म गुण" कहलाते हैं। परत्वादि दस गुण भी सामान्य गुण ही कहलाते हैं। इन्हें साधारण गुण भी कहा जाता है। ये गुण मुख्यत: द्रव्य के आभ्यन्तरिक न होकर बाह्य होते हैं। अतः इनकी साधारण संज्ञा है। परत्वादि दस गुण निम्न हैं—परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, सयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास। इस प्रकार कुल ४१ गुण होते हैं। इन ४१ गुणों में से गुर्वादि द्रवान्त २० गुणों का उपयोग आयुर्वेद में मुख्य रूप से होता है।

अन्य आचार्यों ने इन ४१ गुणों के अतिरिक्त पांच गुणों को और भी माना है, जिससे गुणों की कुल संख्या ४६ हो जाती है। अतिरिक्त ५ गुणों में सत्व, रज और तम ये तीन महागुण होते हैं। जैसा कि वाग्भट् ने कहा है—

सत्व रजस्तमश्चेति त्रयो प्रोक्ता महा गुणाः। —अ. सं. सू. १

इनके अतिरिक्त धर्म और अधर्म ये दो गुण और होते हैं जो तिर्यञ्च, मानुष और देवयोनि में आत्मा के परिभ्रमण में निमित्त बनते है। अतः ये "निमित्त गुण" कहलाते हैं।

आयुर्वेद में इन पांचों गुणों की विशेष उपयोगिता न होने से गुण गणना में इनका परिगणन नहीं किया गया।

वैशेषिक मतानुसार गुणो की संख्या २४ मानी गई है। उन्होंने अन्य गुणों का समावेश इन्हीं २४ गुणो में कर लिया है। वैशेषिक मत समस्त २४ गुण निम्न लिखित होते हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, द्रवत्व गुरुत्व, स्नेह, सस्कार, धर्म, अधर्म, और शब्द। यहां यह स्मरणीय है कि कारिकावलि में धर्म और अधर्म गुण के लिए अदृष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः अदृष्ट शब्द से धर्म और अधर्म दोनों ही गुणों का ग्रहण कर लेना चाहिये। यहां पर ध्यान रखना चाहिये कि इन चतुर्विंशति गुणों का उल्लेख वैशेषिक दर्शन के मतानुसार किया गया है। अर्थात् वैशेषिक दर्शन के मतानुयायी केवल २४ गुणो को ही मानते हैं किन्तु इसके पहले गुण संख्या प्रकरण के प्रारम्भ में गुणों का जो श्रेणी विभाजन किया गया है और उसमें जिन पांच वैशेषिक गुणों का निर्देश किया गया है वे इन गुणों से भिन्न हैं। अर्थात् पांच महाभूतों के विशेष गुण होने से उन्हें वैशेषिक गुण की संज्ञा दी गई है।

वैशेषिक गुण

इनकी संख्या पांच होती है। ये पांच गुण महाभूतों के होते हैं। प्रत्येक महाभूत का पृथक् पृथक् विशेष गुण होता है। अतः इन्हें वैशेषिक गुण कहा जाता है। यथा—

> महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
> शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्चतद्गुणाः ।—चरक, शा. १।२७
> अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः। —चरक, शा. १।३१
> पंचेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। —चरक सूत्र० ८।३१

पांच महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी होते हैं। इनके विशेष गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध होते हैं। अर्थात् आकाश महाभूत का विशेष गुण शब्द, वायु महाभूत का विशेष गुण स्पर्श, अग्नि महाभूत का विशेष गुण रूप, जल महाभूत का विशेष गुण रस और पृथ्वी महाभूत का विशेष गुण गन्ध होता है। इन विशेष गुणों का ग्रहण एक एक ज्ञानेन्द्रिय द्वारा होता है। अतः ये इन्द्रियार्थ या इन्द्रियों के विषय भी कहलाते हैं। जिस ज्ञानेन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है वह ज्ञानेन्द्रिय उसी महाभूत के विशेष गुण का ग्रहण करती है। जैसे आकाशीय होने से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा केवल शब्द गुण का ग्रहण होता है, वायव्य होने से स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा केवल स्पर्श गुण का ग्रहण होता है, आग्नेय होने से चक्षु द्वारा केवल रूप गुण का ग्रहण होता है, जलीय होने से रसनेन्द्रिय द्वारा केवल रस गुण का ग्रहण होता है और पार्थिव होने से घ्राणेन्द्रिय द्वारा केवल गन्ध गुण का ग्रहण होता है। इस प्रकार महाभूतों के विशेष गुण का ग्रहण या ज्ञान नियत इन्द्रियों द्वारा होता है। इन्हें अर्थ, विषय, ज्ञेय और गोचर संज्ञा द्वारा भी व्यवहृत किया जाता है।

इन पांचों वैशेषिक गुणों का स्वतन्त्र उल्लेख वैशेषिक दर्शनोक्त चतुर्विंशति गुणों में भी किया गया है। अर्थात् इनकी स्वतन्त्र सत्ता होने से किसी अन्य गुण में इनका या इनमें से किसी एक का भी अन्तर्भाव नहीं किया गया है।

कर्मण्य सामान्य गुण

आयुर्वेद में इन गुणों की विशेष उपयोगिता है। उन्हें कर्मण्य गुण कहने का कारण यह है कि शरीर में जब किसी द्रव्य का प्रयोग किया जाता है तो उनके द्वारा शरीर में किसी न किसी प्रकार का कर्म अवश्य होता है। वह कर्म पूर्णतः गुण पर आधारित रहता है। अर्थात् द्रव्य में जिस प्रकार का गुण होता है उसी प्रकार के कर्म का सम्पादन होता है। यथा स्निग्ध द्रव्य घृतादि के प्रयाग से उसके स्नेह गुण के कारण शरीर में स्नेहन कर्म होना। इसी भाँति अन्य गुणों के विषय में भी समझना चाहिए।

इन कर्मण्य गुणों को 'शारीर गुण' की संज्ञा भी गई है। यह कविराज गंगाधर जी का मत है।

इन गुणों की संख्या २० होती है। यथा—

"गुर्वादयस्तुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिल श्लक्ष्णखरस्थूलसूक्ष्मसान्द्रद्रवा विंशतिः। एते च सामान्यगुणाः पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्।"

—चक्रपाणि

अर्थात् गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध–रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव ये बीस गुण होते हैं। पृथ्वी आदि में ये सामान्यतः रहते हैं, अतः इन्हें सामान्य गुण कहा जाता है। इन गुणो के आधार पर ही शरीर में क्रिया होती है।

रस वैशेषिक सूत्र में आचार्य भदन्त नागार्जुन ने कर्मण्य गुणों की संख्या केवल दस बतलाई है। यथा—"शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष–विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्ण गुणाः कर्मण्याः।" बतलाया गया है कि चिकित्सा कर्म में इन गुणों की विशेष उपयोगिता होने के कारण इन्हें कर्मण्य गुण कहा गया है। किन्तु अन्य दस गुण जिनका परिगणन यहां नहीं किया गया है, चिकित्सा कर्म में उपयोगी होते हैं। अतः उनका भी ग्रहण कर लेना चाहिए। आयुर्वेद में कर्मण्य गुण २० ही माने गए हैं। जैसा कि चक्रपाणि के उपर्युक्त वचन से एवं अष्टांग हृदय के निम्न वचन से स्पष्ट है—

गुरु मन्द-हिम-स्निग्ध–श्लक्ष्ल-सान्द्र–मृदु-स्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशति सविपर्ययाः॥ —अ० हृ० सू०

ऊपर जिन गुरु आदि बीस गुणो का उल्लेख किया गया है, चिकित्सा कर्म में इन गुणों की ही अधिक उपयोगिता है। यद्यपि गुरु आदि शब्द का व्यवहार सामान्यतः द्रव्यों के विशेषण के रूप में किया जाता है। जैसे अमुक द्रव्य गुरु है, अमुक द्रव्य लघु है आदि। किन्तु गुणों के प्रसंग में इन्हें भाव वाचक समझना चाहिए। अर्थात् गुरु शब्द से गुरुता या गौरव, लघु से लघुता या लाघव, स्निग्ध से स्निग्धता आदि का ग्रहण करना चाहिए। जैसाकि निर्देश भी दिया गया है।

"रूक्षादयो भाव प्रधानाः, तेन रूक्षत्वादयो गुणा मन्तव्याः।" —चक्रपाणि

विभिन्न द्रव्यों में रुक्षत्व आदि जो गुण होते हैं उन्हीं के आधार पर शरीर में विभिन्न प्रकार की क्रियाए होती हैं। उन क्रियाओं को देखकर ही गुण के विषय में अनुमान लगाया जाता है कि अमुक गुण के कारण शरीर में अमुक प्रकार की क्रिया हुई। अतः गुण के अस्तित्व का अनुमान तज्जनित कम के आधार पर होने का प्रमाण शास्त्रों में भी उपलब्ध होता है। जैसा कि सुश्रुत के निम्न वचन से स्पष्ट है—

"कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ।" —सु सू. ४६/११४

इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य व्यवहार में जिन द्रव्यों को गुरु (भारी) लघु (हल्का), स्निग्ध (चिकना), आदि कहा जाता है, आयुर्वेदीय द्रव्य गुण शास्त्र के प्रसग में उनको गुरु लघु आदि नहीं माना गया है, किन्तु द्रव्यों के सेवन के पश्चात् शरीर में जाकर य गौरव (गुरुता), लाघव (लघुता) आदि गुणों को उत्पन्न करते हैं। अतः इस आधार पर इनमें गुरु, लघु आदि का अनुमान किया जाता है ।

गुरु–लघु आदि गुण द्रव्यों में कभी स्वभावतः ही होते हैं । यथा माष (उड़द) में जो गुरुता होती है वह स्वभाव सिद्ध है । ऐसे द्रव्यों को प्रकृति-गुरु कहते हैं। ये गुण कभी संस्कार वश भी द्रव्य में समुत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् द्रव्यों को सेवन योग्य बनाने के लिए जो पाक आदि प्रक्रियाएं की जाती हैं उन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरुप गुणों की उत्पत्ति या न्यूनाधिकता होती रहती है । संस्कार प्रायः गुणान्तराधान के लिए ही किया जाता है । कहा भी है—'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते ।" यथा अत्य–धिक पाक करने से दूध गुरु हो जाता है, खील के रूप में चावल हल्का और वमनहर हो जाता है । कभी कभी ये गुण मात्रा की न्यूनाधिकता से भी हो जाते हैं । जैसे लघु गुणवाली वस्तु भी यदि अधिक मात्रा में सेवन की जाय तो गुरु हो जाती है और गुरु वस्तु भी मात्रावत् सेवन करने से लघु सिद्ध होती है ।

आध्यात्मिक गुण

इनकी संख्या ६ होती है । यथा–बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न । आत्मा में इन गुणों की विशेष सवित्ति होने के कारण ये अध्यात्म गुण कहलाते हैं। इन्हें आत्मगुण भी कहा जाता है । यद्यपि स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार आदि गुण भी आत्मा के ही होते हैं, किन्तु ये बुद्धि की ही अवस्था विशेष होने के कारण इनका समा-वेश बुद्धि के अन्तगत ही कर लिया गया है । प्रकरणान्तर से आत्मा के निम्नलिखित गुण बतलाए गए हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धि स्मृत्यहंकारो लिंगानि परमात्मनः ।। —चरक, शा. १

अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति अहंकार ये आत्मा के लक्षण (गुण) हैं ।

आचार्य शिवदास सेन ने धृति, चेतना, स्मृति और अहंकार को बुद्धि के अन्त-र्गत ही समाविष्ट कर लिया है । यथा—"बुद्धि ज्ञानम् अनेन च स्मृति-चेतना धृत्यहं-कारादीना बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम् ।" अर्थात् अध्यात्म गुण संग्रह में जिन ६ गुणों का

परिगणन किया गया है उनमें बुद्धि शब्द से स्मृति, चेतना, धृति और अहंकार का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि ये चारों गुण बुद्धि विशेष होने से इनका स्वतन्त्र परिगणन नहीं किया गया।

परादि सामान्य गुण

पर गुण है आदि में जिसके ऐसे परादि गुण हैं। इन्हें सामान्य गुण भी कहा जाता है। पूर्वोक्त कर्मण्य सामान्य गुणों से सर्वथा भिन्न होने के कारण इन परादि गुणों का स्वतन्त्र पाठ किया गया है। इसके अतिरिक्त गुर्वादि २० गुणों की अपेक्षा आयुर्वेद में इन गुणों की कम उपयोगिता होने से इनका परिगणन अन्त में किया गया गया है। इनकी सख्या दस होती है। ये दस गुण निम्नलिखित हैं—

परापरत्वे युक्तिश्च सख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वंच परिमाणमथापि वा ॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः ॥

—चरक, सूत्र स्थान, अ० २६

परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये परादि सामान्य गुण कहलाते हैं।

ये परादि दश गुण गुर्वादि गुणों की भांति द्रव्यों के अन्तः स्थित नहीं होते इनका प्रयोग बहिरंग के रूप में होता है। अतः ये साधारण गुण होते हैं और साधारण होने से इन्हें सामान्य गुण कहा है। इन गुणों का ज्ञान प्राप्त कर चिकित्सा कार्य में सुविधा होती है, अतः आयुर्वेद में इन गुणों का वर्णन किया गया है।

गुणों का परिचय

आयुर्वेद में गुणो की कुल संख्या ४१ बतलाई गई है। यहां उन्हीं गुणों का क्रमशः परिचय दिया जायगा।

वैशेषिक गुण

संख्या में ये गुण ५ होते हैं। यथा--शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध। इन गुणों का सामूहिक परिचय इसी गुण प्रकरण में पहले दिया जा चुका है। यहां उनका क्रमशः वर्णन किया जा रहा है।

शब्द

"श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यो गुणः शब्दः।"
'श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दो ध्वनिवर्ण इति द्विधा।

'आकाशादि पंचवृत्तिराकाशस्य गुणो मतः ॥"

"शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः ।" —प्रशस्तपाद

"श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलति आकाशदेशः शब्दः"

—महाभाष्य

जिस गुण का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है वह शब्द कहलाता है । यह शब्द आकाश महाभूत का विशेष गुण है । श्रोत्रेन्द्रिय आकाश महाभूत प्रधान होती है, अतः वह केवल शब्द का ही ग्रहण करती है अन्य का नहीं । इसी भांति शब्द का ज्ञान भी अन्य किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं होता । क्योंकि अन्य इन्द्रियों में आकाश महाभूत की प्रधानता नहीं होती । यह शब्द क्षणिक होता है । कार्य-कारण दोनों का विरोधी है । यह संयोग और विभाग तथा शब्द से उत्पन्न होने वाला है; एक देश में रहने वाला अर्थात् अव्याप्य वृत्ति वाला होता है । भूतान्तरानुप्रवेश होने के कारण यह पांचों महाभूतों में सामान्यतः पाया जाता है ।

महाभाष्य के अनुसार शब्द उसे कहते हैं जो कान से सुना जाय, बुद्धि जिसका भली भांति ग्रहण करे, वाणी द्वारा बोलने से (प्रयोग करने) से जो जाना जाय तथा आकाश जिसका स्थान हो ।

उत्पत्ति और भेद

"संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्द निष्पत्तिः"

"तत्रवर्णलक्षणस्योत्पत्तिः-आत्ममनसः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा, तदनन्तर प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद्वायौ कर्म जायते स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः ।"

"अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदन्डसंयोगापेक्षाद् भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते । वेणुपर्वविभागात् वेण्वाकाशविभागाच्च शब्दाच्च सयोगविभागनिष्पन्नाद् वीचिसन्तानवच्छद्वसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य ग्रहणं नास्ति परिशेषात् सन्तानसिद्धिरिति ।"

—प्रशस्तपाद

अर्थात् संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है । भेरी दण्ड आदि के संयोग, वेणु-पर्व (बांस की गांठ) का विभाग तथा वीचीतरंग न्याय द्वारा शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है । इनमें वर्ण लक्षणात्मक (अकरादि तथा कवर्गादि) शब्द की उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है—आत्मा और मन के संयोग से स्मृति की अपेक्षापूर्वक वर्ण के उच्चारण की इच्छा होती है । तत्पश्चात् प्रयत्न आरम्भ होता है । इस प्रयत्न की अपेक्षा से आत्मा और वायु का संयोग होने से वायु में कर्म की उत्पत्ति होती

है। तब वायु ऊपर की ओर जाता हुआ कण्ठ (स्वरयन्त्र) आदि प्रदेश को आहत करता है, जिसके फलस्वरूप स्थानीय वायु के संयोग से वर्णोत्पत्ति होती है।

अन्य अवर्ण (ध्वनि) लक्षणात्मक शब्द भेरी (वाद्ययन्त्र) और दण्ड के संयोग से तथा भेरी आकाश के संयोग से उत्पन्न होता है। वेणु पर्व के विभाग से तथा वेणु आकाश के विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती है। एतद्विध संयोग तथा विभाग से समुत्पन्न हुआ शब्द बीचीतरंग न्याय से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। क्योंकि शब्द स्वयं श्रोत्र प्रदेश में नहीं जाता और न श्रोत्र ही शब्द के पास आता है, अपितु वीचीतरंग न्याय से श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण होता है। जिस प्रकार एक तरंग से दूसरी तरंग की दूसरी से तीसरी की तीसरी से चौथी की उत्तरोत्तर तरंग से तरंग की उत्पत्ति होती है उसी भांति आकाश प्रदेश में समुत्पन्न हुए शब्द की क्रमिक तरंगों द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय को शब्द-ज्ञान होता है। यही 'वीची तरंग न्याय' कहलाता है।

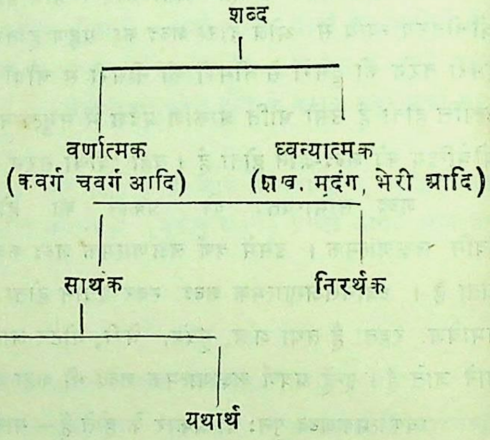
शब्द सामान्यतः दो प्रकार का होता है—वर्ण लक्षणात्मक और ध्वनि लक्षणात्मक। इसमें वर्ण लक्षणात्मक शब्द कवर्ग, चवर्ग आदि पांच वर्गों वाला होता है। ध्वनिलक्षणात्मक शब्द स्वर प्रधान होता है। इसमें अकारादि स्वरों का समावेश रहता है तथा शंख, मृदंग, भेरी, मोटर आदि के स्वर (वर्ण रहित) शब्द जाने जाते हैं। इन्हें अवर्ण लक्षणात्मक शब्द भी कहा जाता है।

वर्णात्मकशब्द पुनः दो प्रकार के होते हैं—सार्थक और निरर्थक। सार्थक शब्द राम, नदी, वृक्ष, पर्वत वाराणसी आदि संज्ञा रूप में तथा अस्ति, भवति, पचति, गच्छति आदि क्रिया रूप में होते हैं। ये शब्द अर्थ विशेष का ज्ञान कराते हैं। अतः अर्थ युक्त होने से सार्थक कहलाते हैं। निरर्थक शब्द वे होते हैं जिनसे किसी अर्थ विशेष का बोध नहीं होता या जो अर्थ रहित होते हैं। जैसे दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले खाना वाना, गाय वाय, रोटी ओटी आदि। इनमें वाना, वाय, ओटी आदि ऐसे शब्द हैं जो अर्थ शून्य हैं अर्थात् उन शब्दों से किसी अर्थ विशेष का बोध नहीं होता। व्याकरण के नियम के अनुसार निरर्थक शब्द पद नहीं बन सकते और उनके समूह से न वाक्य रचना ही सम्भव है।

सार्थक शब्द पुनः दो प्रकार के होते हैं—मिथ्या और यथार्थ। मिथ्या शब्द शठतापूर्ण अज्ञान युक्त, असत्य भाषण, आडम्बर पूर्ण, मिथ्या ज्ञान युक्त, निःसार या तथ्य हीन तथा असंगति युक्त होते हैं। ऐसे शब्द मनुष्यों का सही मार्ग दर्शन एवं सम्यक् ज्ञानोपलब्धि कराने में असमर्थ रहते हैं, अतः उन्हें प्रमाण स्वरूप नहीं माना जाता।

इसके विपरीत यथार्थ शब्द प्रमाण की कोटि में लिये जाते हैं। यथार्थ शब्दों में ही सम्यक् ज्ञान की निधि का संचय रहता है। निर्मल ज्ञान से युक्त आप्त पुरुषों द्वारा जिन वचनों या शब्दों का प्रयोग किया जाता है वे ही यथार्थ शब्द कहलाते हैं। "आप्त व वयं प्रमाणम्" आप्त पुरुष जिन वाक्यों का प्रयोग करते हैं वे वाक्य शब्द समूह से निर्मित होते हैं, वे शब्द यथार्थ होते हैं, उन यथार्थ शब्दों से जो ज्ञान समुत्पन्न होता है वह सम्यक् ज्ञान कहलाता है और वही सम्यक् ज्ञान प्रमाण होता है।

इस प्रकार शब्द के उपर्युक्त भेद होते हैं। शब्द के उपर्युक्त भेदों को निम्न तालिका द्वारा सरलता पूर्वक समझा जा सकता है—



स्पर्श निरूपण

"स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यो वायोर्वैशेषिको गुणः।
"अनुष्णशीतशीतोष्णकाठिन्यादिप्रभेदवान् ॥"

"स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्य : । क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः, त्वग् सहकारी, रूपानुविधायी, शीतोष्णानुष्णशीतभेदात–त्रिविधः।
— प्रशस्त पाद

"त्वगिन्द्रियमात्र ग्राह्योगुणः स्पर्शः।"

अर्थात् केवल स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) द्वारा जिस गुण का ज्ञान होता है वह स्पर्श कहलाता है। यह स्पर्श वायु महाभूत का विशेष गुण होता है। त्वगिन्द्रिय में वायु महाभूत की प्रधानता रहती है। अतः उसके द्वारा केवल स्पर्श का ही ग्रहण होता है। अन्य गुण का नहीं। इसी भांति स्पर्श गुण का ज्ञान केवल त्वगिन्द्रिय द्वारा होता है, अन्य इन्द्रिय द्वारा नहीं। सामान्यतः स्पर्श गुण वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में होता है। अन्य में नहीं। यह बोधगम्य एवं रूपानुविधायी होता है।

स्पर्श गुण के उपर्युक्त लक्षण में त्वचा मात्र से न कह कर यदि ऐसा कहा जाय कि त्वचा द्वारा जिस गुण का ज्ञान होता है वह स्पर्श कहलाता है तो संख्या, संयोग गुण का भी त्वचा और नेत्र द्वारा ग्रहण होता है, इससे संख्या, संयोग में भी स्पर्श का लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। अत: संख्या संयोग गुण में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया। इसी प्रकार यदि गुण पद का प्रयोग नहीं किया जाता तो त्वचा मात्र द्वारा स्पर्शत्व जाति में अतिव्याप्ति वारणार्थ गुण पद का तथा रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'त्वगिन्द्रियामात्रग्राह्य' पद का सन्निवेश किया गया।

स्पर्श तीन प्रकार का होता है—उष्ण, शीत और अनुष्णशीत। अग्नि में उष्ण स्पर्श, जल में शीत स्पर्श और पृथ्वी तथा वायु में अनुष्णशीत स्पर्श रहता है। इस प्रकार पृथिवी, जल, तेज और वायु त्रिविध रूप स्पर्श के आधार हैं।

रूप निरूपण

"चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्"

"तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्। पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति द्रव्याद्युपलम्भकं नयनसहकारि शुक्लाद्यनेकप्रकारं सलिलादिपरमाणुषु नित्य पार्थिवपरमाणुष्वग्निसयोगविरोधि सर्व कार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशादेव विनश्यात।" —प्रशस्तपाद

"रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यं तेजसस्तु गुणः स्मृतः।
तच्च सप्तविध नोलं पीतं रक्तादि भेदतः॥"

अर्थ—जिस गुण का ग्रहण केवल चक्षु इन्द्रिय द्वारा होता है वह रूप कहलाता है। यह रूप अग्नि महाभूत का विशेष गुण होता है। चक्षु इन्द्रिय अग्निमहाभूत प्रधान होती है। अत: चक्षु के द्वारा केवल अग्नि के विशेष गुण रूप का ही ग्रहण होता है। अन्य का नहीं।

यह पृथिवी, उदक और अग्नि में रहता है। द्रव्य आदि का उपलम्भक है अर्थात् जिस द्रव्य में यह रहता है उस द्रव्यगत गुण कर्म और सामान्य (जाति) का बोधक होता है। यह नयनसहकारी है अर्थात् नेत्र की सहायता से इसका ज्ञान होता है। यह शुक्ल आदि अनेक प्रकार का होता है। जल आदि (जल और तेज) के परमाणुओं में यह नित्य रूप रहता है। (कार्यभूत जल और तेज में अनित्य रूप होता है। पृथ्वी के परमाणु तथा महापृथ्वी में भी अनित्य और पाकज रूप होता है।) पृथ्वी के परमाणुओं में अग्नि सयोग का विरोधी है। सभी कार्य द्रव्यों में कारण गुण के अनुसार रहता है। आश्रय के विनाश से इसका भी विनाश हो जाता है।

ऊपर रूप का जो लक्षण किया गया है उसमें यदि 'मात्र' पद का सन्निवेश नहीं किया जाता तो संख्या, संयोग आदि गुणों का ग्रहण चक्षु व त्वगिन्द्रिय से भी होता है। इसमे रूप का लक्षण अतिव्याप्ति दोष युक्त हो ज ता। इस दोष के निवारण के लिए ही 'मात्र' पद का प्रयोग किया गया। संख्या, संयोग आदि गुण चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं है। 'मात्र' पद के प्रयोग से केवल चक्षु ही अभिप्रेत होता है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। उपर्युक्त लक्षण में 'गुण' पद का सन्निवेश भी महत्वपूर्ण है। चक्षुमात्र के द्वारा केवल रूप गुण का ही ग्रहण नहीं होता अपितु रूपत्व जाति का भी ग्रहण होता है। "चाक्षुर्मात्रग्राह्यो रूपम्" ऐसा लक्षण करने से यह लक्षण रूपत्व जाति में भी अतिव्याप्त हो जाता है। अत: इस अतिव्याप्ति दोष के निवारण के लिए गुण पद का सन्निवेश किया गया। यदि केवल 'गुणो रूपम्' इतना हो लक्षण किया जाय तो अन्य रसादिगुणों में भी अतिव्याप्ति हो जाती है। इसके निवारण के लिए "चक्षुर्मात्रग्राह्य" पद का सन्निवेश किया गया। इस प्रकार रूप का 'चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्" यह एक निर्दुष्ट लक्षण बना।

यह रूप सात प्रकार का होता है। यथा—नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, शुक्ल और चित्र। इन सातों ही प्रकार के रूप का आश्रय पृथ्वी, जल और तेज है। पृथिवी में सातों प्रकार का रूप रहता है। तेज का रूप भास्वर शुक्ल होता है। भास्वर शुक्ल रूप उसे कहते हैं जो स्वयं प्रकाश रूप हो और जो वस्तुएं उसके सम्पर्क में आवें उनको भी वह प्रकाशित करे। सूर्य, विद्युत्, दीपक आदि का भास्वर शुक्ल रूप होता है। जो रूप श्वेत तो होता है किन्तु उसमें चमक नहीं होती उसे अभास्वर शुक्ल रूप कहते हैं। इस प्रकार का रूप जल मे पाया जाता है। जल में प्रकाश हीन शुक्ल रूप होता है।

रस निरूपण

"रसनाग्राह्यो गुणो: रस:"

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमाप: क्षितिस्तथा।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्यया: खादयास्त्रय: ॥ -- चरक, सू. १/६३

"रसो रसनाग्राह्य: । पृथिव्युदकवृत्ति:; जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तम्, रसना सहकारी, मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभेदभिन्न: । अस्यापि नित्यानित्यत्वान्निष्पत्तयो रूपवत्।"

—प्रशस्तपाद

रसस्तु रसनाग्राह्यो जलस्यैव गुणो मतः।"
अव्यक्तो मूनससर्गात्स च षोढा विभिद्यते ॥"
"रस्यते आस्वाद्यते इति रस:"

अर्थ—रसना इन्द्रिय (जिह्वा) के द्वारा जिस गुण का ग्रहण किया जाता है

वह रस कहलाता है। रस जल महाभूत का विशेष गुण होता है। रसना इन्द्रिय जल महाभूत प्रधान होती है, अतः वह केवल रस का ही ग्रहण करती है। अन्य का नहीं।

जल और पृथिवी उसके आधार कारण हैं। रस की उत्पत्ति और उसके मधुर आदि भेद में आकाश, वायु और तेज ये तीन निमित्त कारण हैं।

रसना ग्राह्य गुण रस कहलाता है। वह पृथिवी और जल में रहता है। वह जीवन, पुष्टि, बल और अरोग्य को देने वाला है। रसना की सहायता से उसका ज्ञान होता है। मधुर, अम्ल लवण, कटु, तिक्त और कषाय भेद से वह विभक्त है। वह भी रूप के समान ही नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है।

रस गुण के उपर्युक्त लक्षण में गुण पद का सन्निवेश रसत्व जाति में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण हेतु किया गया है। क्योंकि रसना द्वारा रस गुण के अतिरिक्त रसत्व जाति का भी बोध होता है। इससे गुण पद न देने से रस का लक्षण रसत्व जाति में भी अतिव्याप्त हो जाता। अतः गुण पद दिया गया है। 'रसना ग्राह्य' पद का सन्निवेश रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति के वारण के लिए किया गया है। क्योंकि 'रसना ग्राह्य' पद न देने से अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य गुणों में भी लक्षण अतिव्याप्त हो जाता। इसके निवारण के लिए 'रसना ग्राह्य' पद दिया गया है। इस प्रकार "रसनाग्राह्यो गुणो रसः" यह एक निर्दुष्ट लक्षण है।

यह रस छः प्रकार का होता है। यथा—

रसाः स्वाद्वम्ललवणाः तिक्तोषणकषायकाः।
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः॥

—अ० हृ० सू० १

"रसास्तावत् षट् मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः।" —चरक, वि. १

मधुर-अम्ल–लवण-कटु-तिक्त-कषाय ये छः रस हैं जो द्रव्यों के आश्रय करके रहते हैं। इनमें अन्त से पूर्व-पूर्व रस अधिक बल देने वाला है। जैसे- कषाय से कटु, कटु से तिक्त, तिक्त से लवण, लवण से अम्ल और अम्ल से मधुर रस विशेष बल देने वाला होता है।

उपर्युक्त षड् विध रस की अभिव्यक्ति महाभूतों के उत्कर्षापकर्ष से होती है। यद्यपि रस का आधार जल और पृथ्वी महाभूत है, तथापि मधुरादि भेद विभक्त विशेष रसों की अभिव्यक्ति में आकाश, वायु और तेज महाभूत भी सहायक होते हैं। अर्थात् पृथ्वी और जल महाभूत की अधिकता से मधुर रस, पृथ्वी और अग्नि महाभूत की अधिकता से अम्ल रस, जल और अग्नि महाभूत की अधिकता से लवण रस, वायु और अग्नि महाभूत की अधिकता से कटु रस, वायु और आकाश महाभूत की अधिकता

से तिक्त रस तथा वायु और पृथ्वी महाभूत की अधिकता से कषाय रस की अभिव्यक्ति होती है।

जल के परमाणु में नित्य रस और कार्य रूप जल में अनित्य रस रहता है। पृथिवी में अनित्य रस ही रहता है।

गन्ध निरुपण

"घ्राण ग्राह्यो गुणो गन्धः"।

"गन्धो घ्राणग्राह्यः। पृथिवीवृत्तिः घ्राणसहकारी सुरभिरसुरभिश्च। अस्यापि पूर्ववदुत्पत्यादयो व्याख्याताः।" —प्रशस्तपाद

घ्राणग्राह्यो गुणोगन्धः क्षितेरेव गुणो मतः।
स चापि द्विविधो ज्ञेयः सौरभासौरभत्वतः॥

अर्थ--घ्रणेन्द्रिय द्वारा जिस गुण का ग्रहण होता है वह गन्ध कहलाता। यह गन्ध गुण पृथ्वी में रहता है और नासिका की सहायता से इसका बोध होता है। यह सुरभि और असुरभि भेद से दो प्रकार का होता है। इसकी उत्पत्ति भी पूर्ववत् रस के समान ही है। यह पृथ्वी महाभूत का विशेष गुण होता है। घ्राणेन्द्रिय में पृथिवी महाभूत की प्रधानता रहती है। अतः वह केवल गन्ध गुण का ही ग्रहण करती है, अन्य का नहीं। इसी भांति गन्ध गुण भी केवल घ्रणेन्द्रिय ग्राह्य विषय है, अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं।

गुण के उपर्युक्त लक्षण निर्वचन में गुणपद का प्रयोग लक्षण की गन्धत्व जाति में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु किया गया है। अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध गुण के अतिरिक्त गन्धत्व जाति का भी ग्रहण होता है, इससे गन्धत्व जाति में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारण के लिए गुण पद का सन्निवेश किया गया। इसी भांति रूपादि गुणों में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु 'घ्राणग्राह्य' पद दिया गया है।

सामान्यतः गन्ध दो प्रकार की होती है—सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)। पुनः यह दो प्रकार की होती है—उद्भूत (व्यक्त) और अनुद्भूत (अव्यक्त)। मिट्टी, लोहा आदि को सूंघने पर सामान्यतः गन्ध की अनुभूति नहीं होती। किन्तु उसे यदि तपा लिया जाय पश्चात् उसे सूंघा जाय तो गंध की अनुभूति होने लगती है। अतः लोहा मिट्टी आदि में स्थित इस प्रकार की गंध अनुद्भूत या अव्यक्त गंध कहलाती हैं। इसके विपरीत पुष्प आदि की जो गंध होती है वह दूरसे ही बिना प्रयत्न द्वारा प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार की गंध उद्भूत या व्यक्त गन्ध कहलाती है।

गन्ध पृथिवी महाभूत का विशेष गुण होने के कारण यह केवल पृथ्वी में ही रहता है। अन्यत्र नहीं। अतः पृथिवी महाभूत की उपस्थिति रहने से गन्ध की अनुभूति होती है तथा उसकी उपस्थिति न रहने से गन्ध की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा गन्ध की पृथिवी में सिद्धि होने से जल आदि में गन्ध का जो भान होता है उसे पृथिवी की ही गन्ध समझना चाहिए। इसी भांति वायु में प्रतीत होने वाली गन्ध भी पृथिवी के कारण ही होती है।

कर्मण्य सामान्य गुण

गुरु-लघु

"आद्यपतनासमवयिकारणं गुरुत्वम्"
"यदाद्यपतने हेतुर्गुरुत्वं तदुदाहृतम्"

गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम्। अप्रत्यक्षं पतनकर्मानुमेयं संयोग-प्रयत्न-संस्कारविरोधी। अस्य चाबादि परमाणुरूपादिवन्नित्यत्वानित्यत्वनिष्पत्तयः।"

—प्रशस्तपाद

"सादोपलोपबलकृद् गुरुस्तर्पणबृंहणः।"

—सु० सू० ४६/

"गुरु वातहरं पुष्टिश्लेष्मकृच्चिरपाकि च"

—भावप्रकाश

अर्थ---प्रथम पतन के असमवायिकारण को गुरुत्व कहते हैं। अर्थात् वृक्ष से फल का जो प्रथम पतन होता है उसके असमवायि-कारण गुण का नाम 'गुरूत्व' है। जल और भूमि के पतन कर्म का कारण 'गुरूत्व' है। यह अप्रत्यक्ष गुण है जो पतन कर्म के द्वारा अनुमान से जाना जाता है। यह संयोग-प्रयत्न-संस्कार इन तीनों का विरोधी है। जिस प्रकार जल आदि के परमाणु के रूप नित्य और अनित्य होते हैं उसी प्रकार गुरूत्व भी नित्य और अनित्य होता है। अर्थात् परमाणु रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य (आश्रय के नाश होने से नाश होने वाला) है।

आयुर्वेद के अनुसार गुरू गुण के कारण शरीर में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं एवं परिणाम होते हैं। गुरू गुण के कारण शरीर में अंगमर्द, उपलेप (मलवृद्धि) तथा बल की वृद्धि होती है। गुरू गुण तर्पण और बृंहण करने वाला होता है। जिस गुण के कारण शरीर पुष्ट होता है, कफ, पुरीषादि मल तथा बल की वृद्धि होती है; वायु का क्षय और तृप्ति का अनुभव होता है—द्रव्यों में विद्यमान वह गुण गुरू कहलाता है।

गुरू गुण से विपरीत लघु गुण होता है। गुरू और लघु ये दोनों ही परस्पर विपरीत एवं सापेक्ष्य गुण होते हैं। लघु गुण शरीर में निम्न क्रियाओं का सम्पादक होता है।

"लघुस्तद्विपरीत: स्याल्लेखनो रोपणस्तथा" —सुश्रुत, सू० ४६

"लघु पथ्य परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च" — भावप्रकाश

अर्थात् गुरू से विपरीत लघु गुण लेखन (कफ को शिथिल करना तथा रोपण (घावों को भरना) करने वाला होता है। यह पथ्य होता है, कफ का नाश करने वाला तथा शीघ्रपाकि (शीघ्र पचने वाला) होता है।

गुरू द्रव्यों में पृथिवी और जल तत्व की अधिकता रहती है तथा लघु द्रव्य आकाश वायु और अग्नि तत्व की अधिकता वाले होते हैं।

शीत--उष्ण

ल्हादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषःत ।।

—सु० सू० ४६/५१५

शीत गुण सामान्यतः शीतल क्रिया एवं शीत स्पर्श का द्योतक है। शीतगुण उष्णताभिभूत व्यक्ति को तृप्ति एवं आनन्द देने वाला होता है। शीतगुण के कारण ही शरीर तथा बाह्य जगत् की उष्णता का शमन होता है। यह आल्हाद अर्थात् प्रसन्नता कारक तथा स्तम्भक अर्थात् वमन, अतिसार रक्तस्राव आदि वहनशील (बहने वाले) भावों को रोकता है अथवा उनकी गति को मन्द कर देता है, किंवा शरीर में संचार करने वाले (गतिशील) द्रव पदार्थों की गति को मन्द कर देता है। इसके अतिरिक्त जो मूर्च्छा, पिपासा, स्वेद और दाह का शमन करता है, द्रव्य में स्थित उस गुण को शीत कहते हैं।

इसके अतिरिक्त जो गुण शीत के नितान्त विपरीत होता है, कष्टकारक स्वेद, मूर्च्छा, पिपासा और दाह को उत्पन्न करने वाला, वमन आदि क्रियाओं को उत्पन्न करने अथवा बढाने वाला होता है वह उष्ण कहलाता है। उष्ण गुण पाचन करने वाला अर्थात् खाए हुए अन्नपान को पका कर रस रूप में और रस को रक्तादि रूप में परिणत करने वाला, पाचन क्रिया को बढ़ावे वाला तथा आम (अपक्व) व्रणों का पाक करने वाला होता है।

शीत गुण वाले द्रव्यों में जल महाभूत एवं उष्ण गुण वाले द्रव्यों में अग्नि महाभूत की अधिकता होती है।

स्निग्ध-रूक्ष

स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा ।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद् विशेषात् स्तम्भनः खरः ।।

—सु० सू० ४६।५१६

स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम् ।
रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम् ।।

—भाव प्रकाश पूर्वखन्ड

"स्नेहोऽपां विशेषगुणः । संग्रहमृजादिहेतुः । अस्यापि गुरुत्ववन्नित्यानित्यत्व निष्पत्तयः ।"

—प्रशस्तपाद

जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में स्निग्धता, मृदुता, बल और वर्ण (कान्ति) की वृद्धि करता है, जिस गुण से शरीर में वृष्यता होती है, वायु का शमन और कफ का पोषण (वृद्धि) होता है तथा बल की वृद्धि होती है वह स्निग्ध गुण कहलाता है।

स्निग्ध गुण वाले द्रव्यों में जल महाभूत की अधिकता रहती है। स्नेह जल का विशेष गुण है। पिण्डीभाव के हेतु (कारण) का नाम स्नेह है तथा वस्तु में मृदुता आदि भी स्नेह के कारण ही होती है। स्नेह भी गुरुत्व के समान नित्य और अनित्य हैं। सामान्यतः लोक भाषा में चिकनापन ही स्नेह कहलाता है। यह स्नेह या चिकनापन ही वस्तुओं के फैले हुए कणों का संग्राहक अथवा पिण्डीभूत करने वाला होता है। धूल (मिट्टी) आटा आदि का पिण्ड जो जल डालकर बनाया जाता है उसको पिण्डी भाव कहते हैं। आटे या मिट्टी का एतद्विध पिण्डी भाव जलगत स्नेह के कारण होता है।

इसके विपरीत रूक्ष गुण होता है। रूक्ष गुण वाले द्रव्य शरीर में रूक्षता, कठिनता आदि उत्पन्न करने वाले, वायु को बढ़ाने वाले तथा कफ का शमन करने वाले होते हैं। रूक्षगुण वाले द्रव्यों में पृथिवी और वायु महाभूत की अधिकता होती है।

मन्द- तीक्ष्ण-

मन्दो यात्राकरः स्मृतः । —सु० सू० ४६/५२२

जिस गुण के कारण द्रव्य अपनी समस्त क्रियायें मन्द गति से अल्पता, शिथिलता और चिरकाल पूर्वक करता है वह मन्द कहलाता है। मन्द गुण वाले द्रव्य पृथ्वी महाभूत की अधिकता वाले होते हैं।

"तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत् ।" — भाव प्रकाश

"दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो..........।" —सु० सू० ४६/५१६

तीक्ष्ण गुण प्रायः पित्त का प्रकोप करने (बढ़ाने) वाला, लेखन क्रिया करने वाला तथा कफ व वायु नाशक होता है । जिस गुण के कारण द्रव्य दाह, पाक अथवा स्राव उत्पन्न करता है वह तीक्ष्ण कहलाता है । तीक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों में अग्नि महाभूत की अधिकता रहती है ।

आयुर्वेद के आचार्यों में इस गुण-युग्म (मन्द-तीक्ष्ण) के विषय में किंचित् विरोधाभास प्रतीत होता है । मन्द गुण के विषय में तो सभी आचार्य एकमत हैं, किन्तु तीक्ष्ण गुण के विषय में कुछ मत भिन्नता है । महर्षि चरक ने मन्द का विरोधी गुण तीक्ष्ण माना है तथा सुश्रुत और भावमिश्र ने मन्द गुण का विरोधी आशु या आशुकारी माना है । यद्यपि सुश्रुत ने भी तीक्ष्ण गुण का वर्णन किया है, किन्तु वह भिन्न अर्थ वाला है । जैसे कि सुश्रुतोक्त उपर्युक्त तीक्ष्ण गुण के लक्षण से स्पष्ट है । व्यवहारिक रूप से तीक्ष्ण शब्द सुश्रुतोक्त अर्थ में ही प्रचलित है । सुश्रुत ने तीक्ष्ण का विरोधी गुण 'मृदु' बतलाया है । चरक ने भी मृदु गुण का उल्लेख किया है, किन्तु सुश्रुतोक्त अर्थ में नहीं । चरक ने इसे कठिन-विरोधी गुण के रूप में वर्णित किया है । इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सुश्रुत ने मन्द विरोधी गुण व्यवायी, विकासि और आशुकारी माना है । इन तीनों गुणों को भिन्न भिन्न मानने से गुणों की संख्या बाइस हो जाती है, जबकि गुण संख्या प्रकरण में उन्होंने बीस गुणों का ही निर्देश किया है । यदि व्ययायी और विकासि गुणों को आशुकारी गुण के ही अन्तर्गत मानकर उन्हें आशुकारी का ही भेद मान लिया जाय तो विंशति सख्या का निर्वाह हो जाता है और सुश्रुत ने गुणों की संख्या अनेक स्थलों पर बीस लिख कर भी जो बाइस गुणों के नाम और लक्षणों का निर्देश किया है, उसका भी समुचित समाधान हो जाता है । सुश्रुत ने व्यवायी, विकासी और आशुकारी गुणों के निम्न लक्षण बतलाये हैं—

व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ।
विकासी विकसन्नेव धातुबन्धान् विमोक्षयेत् ।
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत् ।।

—सु० सू० ४६।५२२–२३

अर्थ–जिस गुण के कारण द्रव्य परिपाक होने के पूर्व ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर फैल जाय और बाद में वह पाक को प्राप्त हो वह 'व्यवायी' गुण कहलाता है । जिस गुण के कारण द्रव्य व्यवायी द्रव्य की भांति अपक्वावस्था में ही प्रथम शरीर में व्याप्त होकर धातुओं और धातु बन्धों को शिथिल (स्थानच्युत) करे उसे 'विकासी'

कहते हैं। जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में उसी भांति फैल जाय जैसे पानी में तैल, शरीर में फैलने के बाद शीघ्रतापूर्वक अपनी क्रिया करे उसे 'आशु' या 'आशुकारी' कहते है।

महर्षि चरक ने जिन विंशति गुणों का उल्लेख किया है, उनमें व्यवायी, विकासी और आशुकारी गुणों का निर्देश नहीं किया। किन्तु अन्य प्रकरण में इन गुणों का निर्देश करते हुए वहां मद्य में उक्त तीनों गुण बतलाए हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सा स्थान के ही अ. २३ २४ में उन्होंने विष के लक्षणों में भी इन तीनों गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया है। चरक ने बीस गुणों का निर्देश आहार के गुणों के रूप में किया है और उपर्युक्त तीनों गुण सामान्यत: आहार द्रव्यों में नहीं होते। ये तीनों गुण मुख्यत: औषध के गुण होते हैं। अत: चरक में विंशति गुणों के अन्तर्गत इन गुणों का उल्लेख न होना मौलिक मतभेद का ज्ञापक नहीं माना जा सकता।

स्थिर-सर

"स्थिरो वातमलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तक:।" —भा. प्र. पू खं.

"सरोऽनुलोमन: प्रोक्त:" —सु० सू० ४६।५२२

अर्थ–जिस गुण के कारण आहार द्रव्य अथवा औषध द्रव्य वायु और मल का स्तम्भन करते हैं अर्थात् उन्हें अधोमार्ग से निकलने से रोकते हैं, वह स्थिर गुण कहलाता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण अधोमार्ग द्वारा वायु और मल की प्रवृत्ति होती है वह सर गुण कहलाता है।

गतिशील अथवा चलायमान द्रव्य जिस गुण के कारण बाधित गति होकर रुक जाय वह गुण स्थिर कहलाता है। स्थिर गुण मुख्य रूप से पृथ्वी महाभूत का है। अत: स्थिरता कारक द्रव्य पृथ्वी महाभूत प्रधान होते हैं। आयुर्वेद में स्थिर गुण स्तम्भन का द्योतक होता है। जब शरीर में से मल, मूत्र या अन्य किसी द्रव्य की अति मात्रा में प्रवृत्ति होने लगती है तो उसकी गति अवरुद्ध करने के लिये स्थिर गुण वाले किसी पार्थिव द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, जिससे वहि नि:सरण बन्द हो जाता है। आयुर्वेद में यह क्रिया स्तम्भन कहलाती है। अतिसार, ग्रहणी, प्रवाहिका, रक्तपित्त आदि व्याधियों में तथा शुक्र का विकृति रूप में अथवा अधिक मात्रा में स्खलन होने पर मल, रक्त, शुक्र आदि के बहिर्नि:सरण को रोकने के लिए स्तम्भन क्रिया करने वाले स्तम्भक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। ये स्तम्भक द्रव्य स्थिर गुण प्रधान होते हैं।

इसके विपरीत गुण का नाम 'सर' है। आयुर्वेद के कुछ विद्वज्जन स्थिर के विपरीत गुण को 'चल' मानते हैं। वस्तुत: 'सर' और 'चल' में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों एक ही गुण के पर्यायवाची नाम हैं। 'सर' गुण के कारण द्रव्य जिस कर्म

को करता है वही कर्म 'चल' गुण के कारण भी होता है। 'सर' या 'चल' गुण अप महाभूत प्रधान द्रव्यों में पाया जाता है। इस गुण के कारण अवरुद्ध गति वाले पदार्थ (मल, मूत्र, शुक्र आदि) गतिशील हो जाते हैं और शरीर के बाहर उनका निःसरण होने लगता है। जो द्रव्य सर अथवा चल गुण प्रधान होते हैं वे स्रंसक सारक रेचक, भेदक आदि पर्यायों द्वारा व्यवहृत होते हैं। सर गुण के कारण मल द्रव्य अधिक तीव्रगति से गुदमार्ग की ओर प्रवाहित होता है। इसी भांति अन्य द्रव्य भी सर गुण के कारण अत्यन्त तीव्रगति वाले हो जाते हैं।

मृदु-कठिन

"यस्य द्रव्यस्य श्लथने कर्मणि शक्तिः स मृदुः दृढने कठिनः"

—अ. हृ. सू. १।१८ पर हेमाद्रि

अर्थ—जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर के एकांग अथवा सर्वांग को (बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा) शिथिल करे वह 'मृदु' कहलाता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य एकांग अथवा सर्वांग को (बाह्य या आभ्यान्तर प्रयोग द्वारा) दृढ़ करे वह कठिन कहलाता है।

व्यवहारिक रूप से मृदु और कठिन दोनों गुण स्पर्शन इन्द्रियगम्य भाव हैं। किसी भी वस्तु की मृदुता अथवा कठिनता का ज्ञान त्वचा द्वारा स्पर्श करने पर ही होता है, जैसे स्पर्श द्वारा ही ज्ञात होता है कि स्पंज एक मृदु द्रव्य है तथा पत्थर एक कठिन द्रव्य है। किन्तु आयुर्वेद में शरीर के अन्दर तत्तत् गुणों द्वारा होने वाला प्रभाव ही यहां ग्राह्य है। जब कोई आहार द्रव्य अथवा औषध द्रव्य ग्रहण किया जाता है तब वह द्रव्य अपने गुणों के आधार पर विशिष्ट क्रिया करता है और तज्जनित परिणाम ही तदनुकूल गुण की ओर संकेत करता है। इसी भांति मृदु और कठिन गुण भी स्वानुकूल परिणाम के प्रति उत्तरदायी हैं। अर्थात् मृदु गुण वाले आहार या औषध द्रव्यो का सेवन करने पर शरीर में अथवा शरीरगत मलादिकों में शिथिलता आ जाती है। जिस प्रकार सूखी मिट्टी का ढेला जल का संयोग पाकर शिथिल (मृदु) हो जाता है, उसी भांति शरीर अथवा शरीरगतभाव मृदु गुण वाले द्रव्यों के संयोग से शिथिल (मृदु) हो जाते हैं। मृदु गुण वाले द्रव्यों में आकाश और जल महाभूत के गुणों की अधिकता रहती है।

इसके विपरीत कठिन गुण वाले द्रव्यों में पृथ्वी महाभूत के गुणों की अधिकता रहती है। कठिन गुण वाले द्रव्यों का आम्यन्तरिक प्रयोग करने पर शरीर के अवयवों तथा मल आदि द्रव्यों में कठिनता उत्पन्न होती है। शरीर में अनेकबार ग्रन्थि या अर्बुद (उभार) की प्रतीति होती है जो स्पर्श करने पर कठिन लगती है। कठिन गुण

वाले द्रव्य के प्रयोग का ही यह परिणाम होता है जो उससे ग्रन्थि अथवा अर्बुद की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त अनेक बार शरीर के किसी एक भाग में कुछ काठिन्य का अनुभव होता है जो वैकारिक परिणाम होता है। वह भी कठिन गुण के कारण ही होता है। मल (पुरीष) का कठिन हो जाना, अवयवों का कठिन हो जाना, अथवा मांस पेशियों की कठिनता 'कठिन' गण के कारण होती है।

सुश्रुत ने मृदु का विरोधी गुण कठिन न बतला कर तीक्ष्ण बतलाया है। उन्होने तीक्ष्ण को क्षार स्वभावी गुण माना है। अतः उसका विपरीत गुण मृदु बतलाया है। महर्षि चरक एवं वाग्भट मृदु एवं कठिन को ही परस्पर विरोधी गुण मानते हैं। यहां इन्हीं के मत का प्रतिपादन किया गया है।

पिच्छिल-विशद

पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः॥

—सु० सू० ४६/५१७

पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः सधानः श्लेष्मलो गुरुः।
क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः॥

—भावप्रकाश, पूर्वखन्ड

अर्थ—जिस गुण के कारण द्रव्य जीवन कारक (प्राणों को धारण करने वाला) बल्य (बल देने वाला), सधान कारक (भग्न अस्थि को जोड़ने वाला), कफ वर्धक गुरु और तन्तुमान् (जो शक्कर की चासनी के समान तार युक्त होता है) हो, वह पिच्छिल कहलाता है। इसके विपरीत विशद गुण होता है। विशद गुण के कारण द्रव्य क्लेद (त्वचा, व्रण, शरीरावय आदि में स्थित द्रवांश) का शोषण तथा व्रण का रोपण करने वाला होता है, जिससे शरीर में आर्द्रभाव का विनाश होता है।

पिच्छिल गुण वाले द्रव्य सामान्यतः जल महाभूत की प्रधानता वाले होते हैं। बाह्य रूप से पिच्छिल गुण वाले द्रव्य साधारणतः वे होते हैं जो देखने में गीले, कुछ चिकने और स्पर्श करने में चिपचिपे से लगते हैं। जैसे—आर्द्र गोंद या भिन्डी के अन्दर स्थित लेसदार पदार्थ। पिच्छिल गुण वाले द्रव्यो में सामान्यतः तन्तुलाता पाई जाती है। अर्थात् उनका छेदन या विभक्तीकरण करने पर उनमें तार का सा निर्माण होने लगता है और उनमें चिपकने या चिपकाने का वैशिष्ट्य पाया जाता है।

आभ्यन्तरिक रूप से पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग करने पर ये जीवन-दायी अर्थात् जीवन को स्थिर रखने वाले होते हैं। आयुर्वेद में जो द्वादश (अग्नि,

सोम, वायु, सत्व, रज, तम, पांच इन्द्रियां और भूतात्मा) प्राण होते हैं इनके प्रीणन-कर्म में पिच्छिल गुण सहायक होता है। यह गुण शरीर में बल कारक होता है। अर्थात् पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों का सेवन करने से शरीर में बल की वृद्धि होती है। शरीर में सदैव टूट-फूट की क्रिया होती रहती है। इसकी पूर्ति भी पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों के द्वारा होती है। जल महाभूत की अधिकता के कारण पिच्छिल गुण वाले द्रव्य प्रायः कफ को बढ़ाने वाले एवं गुरू गुण युक्त होते हैं।

इसके विपरीत विशद गुण के द्वारा आर्द्रता या क्लिन्नता का विनाश होता है। विशद गुण वाले द्रव्यों में पृथ्वी एवं वायु महाभूत की प्रधानता होती है, जिससे क्लेद का शोषण होता है। इसके द्वारा शरीर के विभिन्न भागों मे स्थित द्रवांश का आचूषण (शोषण) होने के कारण यह व्रण का रोपण करने वाला होता है। क्योंकि क्लेद के अभाव में व्रण में पूय का निर्माण नहीं हो पाता, जिससे शीघ्रता पूर्वक व्रण का रोपण होता है।

श्लक्ष्ण-खर

"श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः कर्कशो विशदो यथा।"

—सु० सू० ४६। २१

यस्य द्रव्यस्य रोपणे शक्तिः स श्लक्ष्णः। लेखने परः॥

—**अ. ह. सू. १।१८ पर हेमाद्रि**

श्लक्ष्णः स्नेहं बिनाऽपि स्यात् कठिनोऽपि हि चिक्कणः।

—**भावप्रकाश पूर्वखण्ड**

अर्थ–श्लक्ष्ण गुण पिच्छिल के समान ही होता है। अर्थात् पिच्छिल गुण वाले द्रव्यों द्वारा जो कर्म सम्पादित किए जाते हैं वे ही कर्म श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों द्वारा भी किए जाते हैं। किन्तु अन्तर केवल इतना है कि पिच्छिल द्रव्य आर्द्रता या क्लेद युक्त स्निग्ध होता है तथा श्लक्ष्ण द्रव्य स्नेह रहित होता हुआ भी कठिनता युक्त चिकना होता है। श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्य में रोपण शक्ति होती है। अर्थात् वह व्रण का रोपण करने वाला होता है।

इसके विपरीत खर गुण होता है। उसे कर्कश भी कहा जाता है। खर या कर्कश गुण वाले द्रव्य विशद गुण के समान ही होते हैं और विशद की ही भांति क्रिया करते हैं। खर या कर्कश गुण वाले द्रव्य अपने खरत्व गुण के कारण व्रण आदि के उभरे हुए भाग के लेखन (छीलने) का कार्य करते है।

यहां पर श्लक्ष्ण गुण को पिच्छिल गुण के ही समान बतलाया गया है। आभ्यन्तरिक प्रयोग की दृष्टि से दोनों गुण तथा दोनों गुण वाले द्रव्य समान ही होते हैं। किन्तु बाह्य दृष्टि से दोनों गुणों में अन्तर होता है। पिच्छिल गुण क्लिन्नता एवं स्निग्धता लिए हुए चिकना होता है। इस गुण वाले द्रव्य प्राय: द्रव या द्रवांश युक्त होते हैं। किन्तु श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्य प्राय: द्रवांश एवं स्नेहांश (स्निग्धता) से रहित कठिनता युक्त चिकने होते हैं। जैसे पालिश की हुई लकड़ी, मणि, सगमरमर आदि। स्निग्धता के अभाव में भी इनका स्पर्श चिकना ही प्रतीत होता है। मछली श्लक्ष्ण गुण का ही एक उत्तम उदाहरण है। उसमें श्लक्ष्णता इतनी अधिक मात्रा में होती है कि हाथ में रखते ही तत्काल फिसल जाती है।

श्लक्ष्ण गुण के विपरीत खर गुण होता है जो खुरदुरेपन की ओर संकेत करता है। इसमें वायु और पृथ्वी महाभूत के गुणों की प्रधानता होती है। आभ्यन्तरिक प्रयोग करने पर खर गुण वाले द्रव्य शरीर में संचित श्लेष्मा, वसा अथवा दोष संघात का छेदन भेदन कर उसे खुरच कर कणश: रूप में विभक्त कर देता है ताकि वे कणश: किए गए अंश शरीर के बाहर निकाले जा सकें। खर गुण द्वारा खुरचने का यह कार्य ही लेखन कहलाता है। अनेक व्याधियों में लेखन कर्म की उपयोगिता रहती है। जिस प्रकार शरीर में लगे हुए मैल को खुरदुरे पत्थर से खुरच कर निकाला जाता है, उसी प्रकार अन्त: शरीर में स्थित दोष संघात को खुरचना खर गुण वाले द्रव्य का ही कार्य है।

सूक्ष्म—स्थूल

'सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतस्वनुसरः स्मृतः।"

—सु० सू० ४६।५२४

स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत्।
देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेत् यत् सूक्ष्ममुच्यते॥

—भावप्रकाश

यस्य द्रव्यस्य विवरणे शक्तिः सःसूक्ष्मः, संवरणे स्थूलः।

—अ. हृ. सू. १।१८ पर हेमाद्रि

अर्थ--जिस गुण के कारण द्रव्य सूक्ष्म (बारीक) स्रोतों में भी प्रविष्ट हो जाता है, उसे सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म गुण वाले द्रव्यों में स्रोतों के विवरण का—उन्हें विस्तृत करने का सामर्थ्य होता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य स्रोतों को अवरुद्ध करे (और द्रव्य को उनमें प्रविष्ट होकर अपना कर्म करने से रोके) वह स्थूल कहलाता है।

सूक्ष्म और स्थूल गुण सामान्यतः अन्य गुणों की भांति इन्द्रिय ग्राह्य अथवा प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। जिस प्रकार स्निग्ध,-रूक्ष, मृदु-कठिन, श्लक्ष्ण-खर आदि गुणों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कर जाना जा सकता है, उस प्रकार सूक्ष्म-स्थूल गुण बोधगम्य नहीं हैं। इन गुणो के आधार पर द्रव्य द्वारा जो कर्म किया जाता है, तज्जनित परिणाम द्वारा ही इन गुणो का बोध होता है। जैसे तैल सूक्ष्म गुण वाला होता है। किन्तु उसकी सूक्ष्मता सामान्यतः प्रतीत नहीं होती। जब शरीर पर उसका अभ्यंग (मालिस) किया जाता है तब वह अपने सूक्ष्म गुण के कारण ही शरीर के सूक्ष्म स्रोतों (रोमकूपों) में प्रविष्ट होकर अपना कर्म करता है। इसी भांति सूक्ष्म गुण वाले जिन द्रव्यों का आभ्यन्तरिक प्रयोग किया जाता है, वे अपने गुण के कारण सूक्ष्म स्रोतो में प्रविष्ट होकर स्रोतों के द्वार को खोल देते हैं। सूक्ष्म गुण वाले द्रव्य आकाश और वायु महाभूत प्रधान होते हैं।

इसके विपरीत स्थूल गुण वाले द्रव्य स्रोतों के मुख को अवरुद्ध करने वाले होते हैं। जैसे ज्वर उत्पन्न होने के पूव दोष स्थूल गुण के कारण सम्पूर्ण शरीर के त्वचान्तर्गत समस्त रोम छिद्रों में व्याप्त होकर स्थित हो जाते हैं, जिससे रोमकूपों का मार्गावरुद्ध हो जाता है और उस मार्ग से निकलने वाला स्वेद एवं ताप बाहर नहीं निकल पाता है। परिणामतः ज्वर प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त स्थूल गुण सामान्यतः स्थूलता कारक भी होता है। स्थूल गुण वाले द्रव्यों में प्रथ्वी जल महाभूत के गुणों की प्रधानता रहती है। स्थूल गुण में पार्थिव एवं आप्य महाभूतों के गुणों की प्रधानता होने से तद्गुण वाले द्रव्य धातु पुष्टिकर धातुवर्धक एवं देह पुष्टिकर भी होते हैं। किन्तु मुख्य रूप से वे स्रोतों में अवरोध ही उत्पन्न करते हैं।

सूक्ष्म गुण युक्त द्रव्य सामान्यतः विवरण शक्ति प्रधान एवं स्थूल गुण युक्त द्रव्य संवरण शक्ति प्रधान होते हैं।

द्रव—सान्द्र

"द्रवः प्रक्लेदनः सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः।"

—सु० सू० ४३।५२०

"द्रव प्रक्लेदनो व्यापी शुष्कः स्याद् बन्धकारकः।"

—डल्हण निर्दिष्ट पाठान्तर

"द्रव क्लेदकरो व्यापी शुष्कस्तद्विपरीतकः।"

—भावप्रकाश पूर्वखण्ड

"द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्।" **—प्रशस्तपाद**

अर्थ- जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में आर्द्रता उत्पन्न करे और व्याप्त होने की प्रवृत्ति रखे वह द्रव कहलाता है। द्रव मुख्यतः स्यन्दन (बहना) कर्म में कारण

होता है। जहां द्रवत्व गुण विद्यमान रहता है वहां स्यन्दन कर्म प्रवृत्ति अवश्यहोती है।

द्रव गुण के विपरीत सान्द्र गुण होता है जो अवयवों में शुष्कता अथवा आर्द्रता का अभाव उत्पन्न करने वाला होता है। सान्द्र गुण को कहीं कहीं शुष्क गुण भी पढ़ा गया है। किन्तु दोनों के अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है।

द्रव गुण प्रधान द्रव्यों में सामान्यत: जल महाभूत की प्रधानता होती है। जल महाभूत वाले द्रव्य ही स्यन्दन कर्म में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ द्रव्य ऐसे भी हैं जिनमें द्रवत्व गुण दृष्टि गोचर नहीं होता। जैसे बर्फ, ओला आदि। अत: इस आधार पर द्रवत्व गुण दो प्रकार का होता है—१ सांसिद्धिक तथा २ नैमित्तिक। स्वत: सिद्ध द्रवत्व का नाम 'सांसिद्धिक' है और (तेजोरूप) निमित्त के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले का नाम 'नैमित्तिक' है। जल में द्रवत्व गुण स्वत: सिद्ध होने से सांसिद्धिक है और पृथ्वी तथा तेज में तन्निमित्त होने से नैमित्तिक है। जैसे सुवर्ण आदि धातु।

इसके विपरीत सान्द्र गुण बतलाया गया है। महर्षि सुश्रुत ने सान्द्र को ही द्रव का विरोधी गुण बतलाया गया है। किन्तु टीकाकर आचार्य डल्हण एवं भावमिश्र ने द्रव का विरोधी गुण 'शुष्क' निर्दिष्ट किया है। द्रव गुण की विपरीतता के कारण सान्द्र या शुष्क गुण बन्धकारक होते हैं। बन्धकारक का अभिप्राय स्रोतो विबन्धकारक या स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करने वाला समझना चहिए। सान्द्र गुण भी स्थूल के समान ही कार्यकारी होता है। सान्द्र गुण वाले द्रव्य प्राय: पृथ्वी महाभूत प्रधान होते हैं। यदि उनमें नितान्त शुष्कता व्याप्त हो तो तेज का अंश एवं कुछ क्लिन्नता व्याप्त हो तो आप्य अंश की विद्यमानता समझना चाहिए।

उपर्युक्त गुर्वादि बीस गुण (गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव) सामान्य गुण कहलाते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र में इन गुणों की उपयोगिता मुख्यत: चिकित्सा कार्य के लिए होती है। अत: इसी दृष्टि से यहां इन गुणों का विवेचन किया गया है। प्रायोगिक रूपेण ये गुण अत्यन्त उपयोगी होते हैं। इन गुणों में प्रारम्भ के आठ गुणों (गुरु-लघु, शीत-उष्ण स्निग्ध-रूक्ष, विशद-पिच्छिल) को रस वैशेषिक में कर्मण्य गुण कहा गया है। क्योंकि ये आठ गुण ही विशेष उपयोगी एवं अपेक्षित होते हैं। इन आठ गुणों के आधार पर ही द्रव्य अपनी क्रियाओं को करने में समर्थ होता है, अथवा द्रव्य में अन्य गुणों के रहने या न रहने पर भी इनमें से कोई एक या अधिक गुण अवश्य होते हैं। इसीलिए चरक सुश्रुत आदि संहिता ग्रन्थों में नागार्जुनोक्त इन अष्ट विध कर्मण्य गुणों को 'वीर्य' भी कहा गया है। इसी आधार अष्टविध वीर्यवादी मत प्रचलित हुआ है। अर्थात् जो विद्वान अष्टविध वीर्य का प्रतिपादन करते हैं वे इन्हीं आठ गुणों के आधार पर अष्टविध वीर्य की कल्पना करते हैं। वैसे आयुर्वेद में सामान्यत: द्विविध (शीत-उष्ण) वीर्य ही सर्व सम्मत है।

आध्यात्मिक गुण

बुद्धि विरूपण

"सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः, अनुव्यवसायगम्यं ज्ञानत्वमेव लक्षणं"

—तत्व दीपिका

व्यवहारमात्रहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः प्रकीर्तिता ।
सा चापि द्विविधा ज्ञेया ह्यनुभूतिः स्मृतिस्तथा ॥

अर्थ–समस्त व्यवहार के कारण भूत ज्ञान को बुद्धि कहते हैं । अथवा अनुव्यवसाय गम्य ज्ञान बुद्धि है—ऐसा दीपिकाकार का मत है । पदार्थ मात्र का ज्ञान प्राप्त करना व्यवसाय है और उस व्यवसाय का ज्ञान अनुव्यवसाय है । जैसे यह घट है, घट का एतद्विध प्रथम चाक्षुष प्रत्यक्ष व्यवसाय कहलाता है । तत्पश्चात् मुझे घट का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, इस प्रकार का जो पुनः ज्ञान होना है वह अनुव्यवसाय कहलाता है । यह अनुव्यवसाय रूप जो ज्ञान होता है वही बुद्धि कहलाती है । श्री शिवादित्य ने आत्मा का आश्रय करके स्थित रहने वाले प्रकाश को बुद्धि संज्ञा द्वारा संबोधित किया है । सांख्य दर्शन के आचार्य प्रकृति के प्रथम परिणाम रूप अहंकार तत्व के परिणाम महत्तत्व रूप अन्तःकरण विशेष को बुद्धि मानते हैं और निर्मल बुद्धि जनित परिणाम ही उनकी दृष्टि में ज्ञान कहलाता है । इस प्रकार बुद्धि विषयक अनेक मत होते हुए भी उनमें कोई मौलिक एवं स्थूल मतभिन्नता परिलक्षित नहीं होती ।

सांख्य दर्शन के मतानुसार बुद्धि की उत्पत्ति बिना किसी रूप वाली, अव्यक्त नामधेय समस्त सृष्टि की कारणभूत प्रकृति से होती है । सत्व, रज और तम इन तीन गुण वाले प्रकृति तत्व से तद्गुण युक्त महत्तत्व की उत्पत्ति होती है । यह महत्तत्व ही बुद्धि कहलाता है । यह बुद्धि अध्यवसायात्मिक होती है । इसके अनुसार अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है । अध्यवसान को अध्यवसाय कहते हैं । जैसे बीज में उत्पन्न होने वाला अंकुर विद्यमान रहता है, उसी प्रकार यह घट है, यह पट है, इत्यादि रूप से जो अध्यवसाय करती है उसको बुद्धि कहते हैं । निर्मल बुद्धि का विशेष परिणाम ही ज्ञान कहलाता है । अर्थात् अन्तःकरण रूप मन एवं बाह्यकरण रूप ज्ञानेन्द्रिय द्वारा विषय देश में पहुंचकर घट, पट आदि विषय रूप में परिणाम को प्राप्त हुई बुद्धि ही ज्ञान कहलाती है । एतद्विध रूपेण ज्ञान रूप में परिणत हुई बुद्धि जब चैतन्य रूप पुरुष से स्वयं को भिन्न न मानते हुए अपने ज्ञानमय स्वरूप को व्यक्त करती है तब अभिमानात्मक भाव उत्पन्न होना है । यही भाव "अहं जानामि" (मैं जानता हूं) इस रूप में प्रकट होता है । जिससे स्वच्छ बुद्धि में रहे हुए ज्ञान से चैतन्य पुरुष के भेद का ज्ञान न होने से उपर्युक्त प्रकार की उपलब्धि होती है । इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार

बुद्धि प्रकरण में मुख्यतः तीन बातें हमारे समक्ष आती हैं। प्रथम महत्तत्व नामधेयात्मक बुद्धि, द्वितीय अध्यवसाय के परिणाम स्वरूप घट पट आदि विषय के रूप में परिणत ज्ञान रूपात्मक बुद्धि और तृतीय चैतन्य पुरुष से अभेद ज्ञानात्मक प्राप्त हुई अभिमानात्मक उपलब्धि।

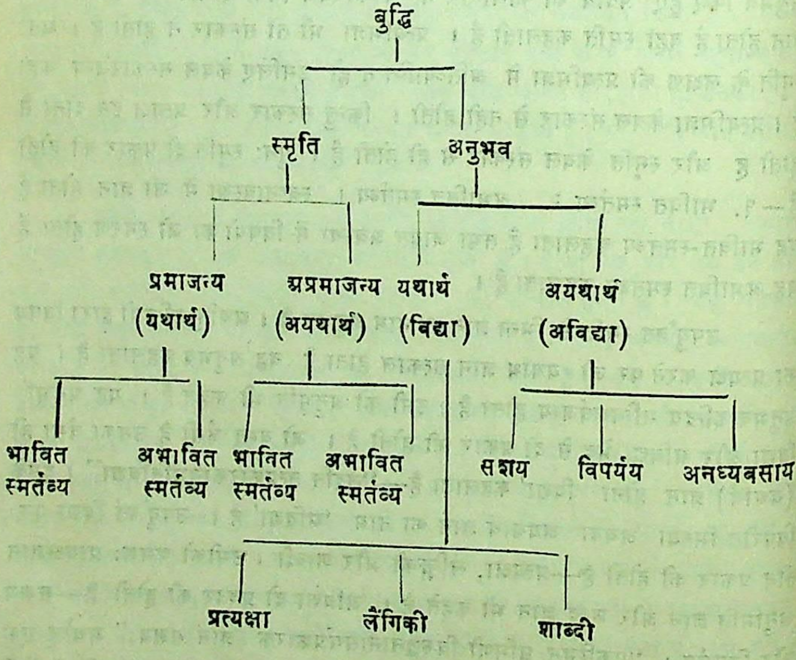
इसके विपरीत न्याय और वैशेषिक दर्शन ज्ञान और उपलब्धि को सांख्य की भांति बुद्धि का परिणाम न मान कर उन्हें बुद्धि का पर्याय ही मानते हैं। बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि और प्रत्यक्ष ये चारों ही पर्यायवाची शब्द हैं। आयुर्वेद के अनुसार बुद्धि पांच प्रकार की मानी गई है। यथा–धी (प्रज्ञा) धृति (धैर्य) स्मृति (स्मरण) अहंकार और चेतना।

सामान्यत: बुद्धि के दो भेद होते हैं—अनुभव और स्मृति। अनुभव का अनुभूति और स्मृति का स्मरण पर्याय है। "**संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः**"—यह स्मृति का लक्षण है। अर्थात् केवल संस्कार से उत्पन्न हुए ज्ञान को स्मृति कहते हैं तथा अनुभवजन्य भावना को संस्कार कहते हैं। अथवा इसे यों भी कहा जा सकता है कि पूर्व में अनुभव किए हुए पदार्थ का कालान्तर में संस्कारवश बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के जो ज्ञान होता है वही स्मृति कहलाती है। प्रत्यभिज्ञा भी तो संस्कार से होती है। अत: स्मृति के लक्षण की प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति न हो इसलिए केवल संस्कारजन्य कहा है। प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार से नहीं होती। किन्तु संस्कार और प्रत्यक्ष इन दोनों से होती है और स्मृति केवल संस्कार से ही होती है। पुनः स्मृति दो प्रकार की होती है—१. भावित स्मर्तव्य २. अभावित स्मर्तव्य। स्वप्नावस्था में जो ज्ञान होता है वह भावित-स्मर्तव्य कहलाता है तथा जाग्रत अवस्था में विषयों का जो स्मरण होता है वह अभावित स्मर्तव्य कहलाता है।

उपर्युक्त स्मृति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषय का प्रत्यक्ष करने पर जो यर्थाथ ज्ञान तत्काल होता है वह अनुभव कहलाता है। यह अनुभव इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य होता है। इसी को अनुभूति भी कहते हैं। यह अनुभूति विद्या और अविद्या भेद से दो प्रकार की होती है। जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही (यथार्थ) ज्ञान होना 'विद्या' कहलाता है—"**तद्वति तत्प्रकारकानुभूतिर्विद्या**"। इसके विपरीत मिथ्या अथवा अयथार्थ ज्ञान का नाम 'अविद्या' है। उपर्युक्त विद्या पुनः तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्षा, लैङ्गिकी और शाब्दी। उसीको क्रमशः प्रत्यक्षज्ञान अनुमिति ज्ञान और शब्द ज्ञान भी कहते हैं। अविद्या दो प्रकार की होती है—संशय और विपर्यय। "एकस्मिन् धर्मिणी विरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं संशयः" अर्थात् एक धर्मी में उसके विरुद्ध नाना धर्मों को बताने वाले ज्ञान का नाम 'संशय' है। किसी ऐसी

वस्तु को देखकर जिसमें अन्य वस्तु के भ्रम होने की भी संभावना रहती है, उसका निश्चय नहीं कर पाना ही 'संशय' कहलाता है। जैसे सायंकालीन झुरमुट मे दूर स्थित किसी स्थाणु (ठूंठ) को देख कर यह निश्चय नहीं हो पाता कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष। इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान ही संशय कहलाता है। महर्षि चरक ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। यथा--"संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्व-निश्चयः"-अर्थात् सन्देह उत्पन्न करने वाले लक्षणों से युक्त पदार्थों में निश्चय न होना 'संशय' कहलाता है। अविद्या का दूसरा भेद विपर्यय है। इसका सामान्य अर्थ होता है विपरीत ज्ञान। एक वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान होना। जैसे अंधकार में रस्सी को देखकर उसमें सर्प का भ्रम (ज्ञान) होना विपर्यय कहलाता है। यह मिथ्या ज्ञान होता है। यथा-'मिथ्या ज्ञानं विपर्ययः।" विपर्यय का एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है-"तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं विपर्ययः" अर्थात् किसी स्थान पर एक वस्तु का अभाव होने पर भी वहा उस वस्तु का मिथ्या ज्ञान होना 'विपर्यय' कहलाता है।

बुद्धि के उपरि वर्णित भेदों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—



सुख निरुपण

"अनुग्रहलक्षणं सुखम् ।" "अनुग्रहस्वभावं तु सुखम् ।"

"धर्मजन्यमनुकूलवेदनीयं गुणः सुखम् ।" —प्रशस्तपाद

"इष्टोपलब्धीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् धर्माद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगादनुग्रहाभिषंगनयनादिप्रसादजनकमुत्पद्यते तत्सुखम् ।" —प्रशस्तपाद

अर्थ--अनुकूल संवेदना के कारण को सुख कहते हैं अथवा अनुकूल स्वभावात्मक सुख होता है। धर्मजन्य अनुकूल ज्ञान विषय का गुण सुख कहलाता है। धर्म आदि की अपेक्षा से इष्ट विषय की उपलब्धि एवं तद्विषय रूप ज्ञान होने पर तथा इन्द्रिय, इष्ट विषय, मन और आत्मा का संयोग होने से अनुकूल प्रतीति, अनुराग और नेत्र आदि की प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाले गुण का नाम सुख है।

प्रसन्नता अथवा अनुकूल विषय की अनुभूति का नाम ही सुख है। अर्थात् जो समस्त प्राणियों को अनुकूल प्रतीत हो वह सुख कहलाता है। इसकी प्राप्ति धर्म से होती है। सुख और धर्म परस्पर कार्य कारण भाव से सम्बन्धित हैं। अपने वश में होने वाले सभी कार्य सुखदायी होते हैं। इसीलिए जो अन्य की इच्छा के वश में (पराधीन) न होकर स्वाधीन होता है वह सुख कहलाता है।

सुख के लिए अनेक विषय हो सकते हैं। अनेक बार भूत कालीन विषय के स्मरण से और भविष्य कालीन विषय के संकल्प से भी सुख होता है। ज्ञानी पुरुष इन दोनों की ही अपेक्षा नहीं रखते हैं। उनको तो विषय स्मरण, इच्छा और संकल्प के न होते हुए भी ज्ञान, शम, सन्तोष और धर्म विशेष जनित सुख होता है। इसमें मैं सुखी हूं, इस प्रकार के अनुव्यवसाय से जिस का ज्ञान होता है वह व्यवसायात्मक ज्ञान ही सुख है। सामान्य रूपेण वास्तविक सुख वह होता है जो इष्टोपलब्धि की इच्छा किसी अन्य इच्छा के आधीन न हो ऐसी इच्छा के विषय को ही सुख कहते हैं। जैसे हम अर्थ प्राप्ति की इच्छा से विविध कार्य करते हैं। कार्य करने की इच्छा अर्थ प्राप्ति की इतर इच्छा के आधीन है। अतः वह सुख या सुख का विषय नहीं हो सकती। अर्थ प्राप्ति ही सुख का विषय है।

दु:ख निरुपण

"अधर्ममात्रासाधारणको गुणः । बाधनालक्षणं दुःखम् ।" —न्या. सू.

"इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्वम्" —न्या. बो.

"उपघातलक्षणं दुःखम् ।"

"अधर्मजन्यप्रतिकूलवेदनीयं गुणो दुःखम् ।"

अर्थ--उपघात लक्षण वाला दुःख होता है। अथवा अधर्म से उत्पन्न प्रतिकूल वेदना (ज्ञान का विषय) रूप गुण का नाम दुःख है।

दुःख भी एक अनुभूति है जो आत्मा को होती है। प्रत्येक प्राणी इससे बचना चाहता है और अपने लिए कभी इसकी कामना नहीं करता। दुःख अनिच्छा का विषय एवं प्रतिकूल प्रतीति रूप होता है। सामान्यतः विषण्णता को दुःख मान सकते हैं। अधर्म आदि द्वारा विषय में अनिष्टता ज्ञान तथा इन्द्रिय और अनिष्ट विषय का सन्निकर्ष होने पर आत्मा और मन के संयोग से असहिष्णुता, दुःखानुभव, दीनता, खिन्नता आदि को उत्पन्न करने वाले गुण का नाम दुःख है। भूतकालीन अनिष्ट विषय के स्मरण से और भविष्य कालीन अनिष्ट विषय की आशंका से दुःख होता है। मैं दुखी हूं, इस प्रकार के अनुव्यवसाय से जिसका ज्ञान होता है वह व्यवसायात्मक ज्ञान ही दुःख है। दूसरे शब्दों में दुःख का लक्षण "इतरद्वेषानधीनद्वेषविषयत्व" होता है। यदि केवल इतना ही लक्षण किया जाय कि दुःख द्वेष का विषय है तो यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित हो जाता है। क्योंकि द्वेष का विषय तो सर्पादि भी हैं, अतः सर्प आदि में यह लक्षण अतिव्याप्त होने से इतरद्वेषानधीनद्वेष विशेषण लगाया गया। हमें सर्प से दुःख होता है, इसलिए हम सर्प से द्वेष करते हैं। वहां सर्प का द्वेष इतर (दुःख) द्वेष के आधीन है। अतः जो द्वेष दूसरे द्वेष के आधीन न हो ऐसे द्वेष का विषय दुःख कहलाता है।

इच्छा निरूपण

"इच्छा कामः" —(तर्क संग्रह)

"स्वार्थं परार्थंवाऽप्राप्त प्रार्थनेच्छा।" — प्रशस्तपाद

अर्थ--किसी विषय वस्तु की कामना करना 'इच्छा' कहलाती है। अपने लिए अथवा किसी दूसरे के लिए अप्राप्त वस्तु की कामना करना 'इच्छा' कहलाती है। आत्मा तथा मन के संयोग से सुख और स्मृति की अपेक्षा पूर्वक यह इच्छा उत्पन्न होती है। इसके लिये इष्ट साधनता ज्ञान कारण बतलाया गया है। इच्छा प्रायः उसी वस्तु की होती है जिसके सम्पादित करने के उपाय का ज्ञान होता है। इसमें इच्छात्व जाति होती है। पुष्पमाला, चन्दन, वनिता इत्यादि विषयों के सेवन से समुत्पन्न सुख से उत्तरोत्तर उसके सजातीय सुख में अथवा सुख के साधन में राग अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है। विषय के निरन्तर सम्बन्ध से उत्पन्न जो दृढ़तर संस्कार होता है वही तन्मयता कहलाती है। उसी तन्मयता से इच्छा होती है। इच्छा से ही धर्म, अधर्म, स्मृति और प्रयत्न में प्रवृत्ति होती है। अतः इन चारों की प्रवृत्ति का हेतु यह इच्छा ही है। काम,

अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा और भाव आदि इच्छा के ही भेद हैं। इन्हें इच्छा के विषय भी कह सकते हैं। इनमें मैथुन की इच्छा को काम, अभ्यवहारेच्छा अथवा भोजन की इच्छा को अभिलाषा, पुनः पुनः एक ही विषय में अनुरंजन अथवा विषयासक्ति की इच्छा को राग, भविष्य में किसी क्रिया को करने की इच्छा को संकल्प, स्वार्थ का परित्याग कर अन्य प्राणियों के कष्ट निवारण की इच्छा को कारुण्य, दोषों को देखकर विषय त्याग की इच्छा को वैराग्य, दूसरों को ठगने की इच्छा को उपधा और अन्तःनिगूढ़ या गुप्त इच्छा को भाव कहते हैं। इसके अतिरिक्त चिकीर्षा, जिहीर्षा इत्यादि क्रियाओं के भेद से भी इच्छा के अनेक भेद हो सकते हैं।

द्वेष निरूपण

"प्रज्वलनात्मको द्वेषः। यस्मिन् सति प्रज्वललितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः।"
क्रोधो द्वेषः– तर्क संग्रह

अर्थ--क्रोध को ही द्वेष कहते हैं। यह ज्वलनात्मक होता है। जिसके होने पर मनुष्य स्वयं को प्रज्वलित की भांति अनुभव करता है वह द्वेष कहलाता है। दुःख अथवा दुःख की स्मृति के कारण आत्मा एवं मन के संयोग से द्वेष उत्पन्न होता है। यह अनिष्ट साधनता ज्ञान जन्य होता है। 'द्वेष करता है' इस प्रकार के अनुभव से सिद्ध जाति वाले अथवा द्विष्टसाधनताज्ञानजन्य गुण को द्वेष कहते हैं। यहां पर द्विष्टसाधनताज्ञान को ही अनिष्ट साधनता ज्ञानत्व समझना चाहिए।

यह द्वेष सामान्यतः दुःख में अथवा दुःख के साधन में होता है। जैसे, सर्प, कण्टक इत्यादि से उत्पन्न दुःख में और उस दुःख के साधन भूत सर्प, कण्टक आदि में द्वेष होता है। यह भी तन्मयता, अदृष्टविशेष और जातिविशेष से उत्पन्न होता है। जैसे **तन्मयताजन्य** —एक बार सर्पदंश होने पर पुनः पुनः उसे सर्वत्र सर्प का ही दिखाई देना। **अदृष्टविशेष** —जिसे कभी सर्प दंशजन्य दुःख का अनुभव नहीं हुआ, उसे भी सर्प से द्वेष होना। **जातिविशेष** —कुत्ते का बिल्ली से, बिल्ली का चूहे से, सर्प का नेवले से द्वेष होना

द्वेष वशात् भी धर्म, अधर्म, स्मृति एवं प्रयत्न में प्रवृत्ति होती है। अतः द्वेष भी इन चारों का हेतु या मूल होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा, अमर्ष आदि द्वेष के विषय अथवा प्रकार होते हैं।

व्यवहारिक रूप से द्वेष घृणा का परिचायक होता है। क्योंकि किसी वस्तु अथवा किसी विषय में अनिच्छा रखना या उससे घृणा करना ही द्वेष कहलाता है। इच्छा सामान्यतः अनुकूल विषयों में होती है। इसके विपरीत प्रतिकूल विषयों में

द्वेष होता है। यह एक प्रकार से मानस दोष है जो आत्मा के लिये अशुभ परिणाम कारक अथवा अशुभ बंध का हेतु होता है।

प्रयत्न निरूपण

"कृतिः प्रयत्नः।" —तर्क संग्रह

"प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः। स द्विविधः जीवनपूर्वकः, इच्छाद्वेषपूर्वकश्चेति।" —प्रशस्तपाद

अर्थ--कृति को ही प्रयत्न कहते हैं। कार्यारम्भक गुण विशेष का नाम प्रयत्न है, अर्थात् कार्य प्रारम्भ करने वाले गुण को प्रयत्न कहते हैं। दूसरे शब्दों में चेष्टा का नाम प्रयत्न है। अर्थात् किसी कार्य का सम्पादन करने के लिए जो चेष्टा विशेष की जाती है वही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये प्रयत्न के पर्याय-शब्द हैं। यह सामान्यतः दो प्रकार का होता है— १ जीवनपूर्वक और २ इच्छा —द्वेषपूवक।

१. जीवन पूर्वक प्रयत्न--जब मनुष्य निद्रावस्था में होता है तब भी उसकी श्वास, प्रश्वास की क्रिया सतत होती रहती है। अतः स्वप्नावस्था में जो प्राण-अपान का प्रेरक (श्वास, प्रश्वास की क्रियात्मक परम्परा को चालू रखने वाला) होता है तथा जाग्रत अवस्था में अन्तःकरण (मन) का इन्द्रियों के साथ संयोग कराने में हेतु अथवा मन को एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय में पहुँचाने वाला होता ह और जो आत्मा मन तथा इन्द्रियों का संयोग कराता है वह जीवन पूर्वक प्रयत्न कहलाता है। यह प्रयत्न स्वतः सम्पादित होता है तथा जीवन के लिये अपेक्षित है।

२. इच्छा-द्वेषपूर्वक प्रयत्न—यह प्रयत्न हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए समर्थ होने वाले (योग्य) व्यापार का हेतु और शरीर को धारण करने वाला होता है। यह प्रयत्न इच्छा और द्वेष के कारण होता है। अपने या पर के हित साधन के लिए जो प्रवृत्तिमूलक चेष्टा की जाती है वह इच्छा पूर्वक प्रयत्न तथा अपने या पर के अहित का परिहार करने के लिए जो निवृत्तिमूलक चेष्टा की जाती है वह द्वेष पूर्वक प्रयत्न कहलाता है। यह इच्छा-द्वेष पूर्वक प्रयत्न आत्मा और मन के संयोग होने पर इच्छा और द्वेष से समुत्पन्न होता है।

प्रकारान्तर से प्रयत्न को तीन प्रकार का भी बतलाया गया है। यथा--प्रवृत्ति रूप प्रयत्न, निवृत्ति रूप प्रयत्न और जीवन योनि रूप प्रयत्न। इच्छाजन्य गुण प्रवृत्ति कहलाती है। द्वेषजन्य गुण का नाम निवृत्ति है तथा जीवन रूप अदृष्टजन्य गुण को जीवनयोनि कहते हैं। यह जीवनयोनि ही शरीर में प्राण-संचार का कारण है। इसके अभाव में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

परादि सामान्य गुण

परत्वापरत्व निरूपण

"परत्वापरत्वं च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम् । तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च । तत्र दिक्कृतं दिग्विशेषप्रत्यायकम् । कालकृतं च वयोभेदप्रत्यायकम् ।"

—प्रशस्तपाद

देशकालवयोमानपाकवीर्यरसादिषु ।
परापरत्वे—————————————॥ —च. सू. २६/३१

परत्व और अपरत्व क्रमशः पराभिधान् अपराभिधान तथा परप्रत्यय, अपर प्रत्यय के कारण हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—दिक्कृत और कालकृत। इनमें दिक् प्रत्यय दिग्विशेष के और कालकृत वयोभेद के बोधक हैं।

परत्व और अपरत्व का व्यवहार देश, काल, वय, परिमाण, पाक, वीर्य, रसादि के उत्कृष्ट-निकृष्ट के निर्देश के लिए होता है। जैसे कोई स्थान (देश) किसी व्यक्ति के स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रेष्ठ होने से पर है तथा अन्य स्थान अपर। शीतकाल सामान्यतः स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी एवं उत्तम होने से पर तथा अन्य ग्रीष्म काल आदि अपर। वय (अवस्था) की दृष्टि से तरुण अवस्था पर एवं बाल्य व वृद्ध अवस्था अपर है। किसी व्यक्ति के लिए मधुर विपाक अनुकूल होने से पर तथा अन्य अम्ल या कटु विपाक अपर होता है। इसी प्रकार शीतवीर्य अनुकूल होने से पर एवं उष्ण वीर्य अपर होता है। मधुरादि षट् रसों में जो अनुकूल हो वह पर तथा अन्य अपर होते हैं। यहां पर परत्व का अभिप्राय उत्कृष्ट एवं अपरत्व का अभिप्रायः निकृष्ट होता है।

दूर और समीप अथवा बड़े और छोटे व्यवहार के प्रधान कारण को परत्व और अपरत्व कहते हैं। यह परत्व एवं अपरत्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पांच द्रव्यों में रहता है। दिशा और काल की अपेक्षा यह दो प्रकार का होता है। यथा दिक्कृत परत्व एवं दिक् कृत अपरत्व। इसमें देश से सम्बन्ध होने के कारण यह दैशिक परत्व-अपरत्व भी कहलाता है। दिक्कृत परत्व अथवा दैशिक परत्व का व्यवहार दूरदेशीय अथवा दूरस्थ वस्तु में तथा दिक्कृत अपरत्व अथवा दैशिक अपरत्व का व्यवहार निकटदेशीय अथवा समीपस्थ वस्तु में होता है।

इसी भाँति काल की अपेक्षा से कालकृत परत्व एवं कालकृत अपरत्व होता है। इसमें काल का सम्बन्ध होने से यह कालिक परत्व एवं कालिक अपरत्व कहलाता है। कालकृत परत्व का व्यवहार ज्येष्ठ में तथा कालकृत अपरत्व का व्यवहार कनिष्ठ में होता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार "यह विप्रकृष्ट (दूर) है" और "यह सन्निकृष्ट (समीप) है"—ऐसा प्रयोग जिन गुणों के कारण होता है, उनको क्रमशः परत्व और अपरत्व कहते हैं। आयुर्वेद के मनीषियों ने सन्निकृष्ट अर्थात् उपयोगिता में समीप (प्रधान या उत्कृष्ट) और विप्रकृष्ट अर्थात् उपयोगिता में दूर (अप्रधान या निकृष्ट) ऐसा अर्थ ग्रहण कर के देश, काल, वय, मान, विपाक, वीर्य, रस आदि में परत्वापरत्व सम्बन्ध बतलाया है।

युक्ति निरूपण

"युक्तिश्च योजना या तु युज्यते।" —च० सू० २६/३१

"या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते। अयौगिक तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते, पुत्रोऽपुत्रवत्।"

अर्थ--दोष, देश, काल, प्रकृति, बल आदि को ध्यान में रखते हुए औषधि, आहार-विहार आदि का विचार पूर्वक यथा योग्य निर्णय करके जो निर्देश दिया जाता है—इसी का नाम 'योजना' है और यही योजना 'युक्ति' कहलाती है।

जो कल्पना यौगिकी (युक्तियुक्त या विधिपूर्वक) होती है वही 'युक्ति' कहलाती है। किन्तु जो कल्पना अयौगिक (अयुक्त या बिना विधिवत्) होती है तो कल्पना के होने पर भी 'युक्ति' नहीं कहलाती। जैसे षड् धातुसंयोग से गर्भोत्पत्ति; मथ्य, मन्थनक और मन्थान के योग से अग्नि की उत्पत्ति; वैद्य, परिचारक, औषधि और रोगी के समुचित संयोग से रोग निवृत्ति तथा ऋतु, क्षेत्र, अम्बु एवं बीज के संयोग से शस्य (अनाज) की उत्पत्ति होती है। यही युक्ति कहलाती है। उपर्युक्त वस्तुओं के विद्यमान रहने पर भी यदि उनकी संयोजना समुचित रूप से नहीं हो पाती है तो अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। वहां युक्ति नहीं होती है।

संख्या निरूपण

"संख्या स्याद् गणितम्" —च० सू० २६।३२

"एकत्वादि व्यवहारहेतु संख्या" —वै. द.

"गणना व्यवहारे तु हेतुः संख्याऽभिधीयते।" —कारिकावलि

"गणनाव्यवहारासाधारणं कारणं संख्या।" —मुक्तावलि

अर्थ--एक, दो, तीन आदि शब्दों से जिस गुण विशेष का बोध होता है अथवा गणना रूप व्यवहार का जो हेतु होता है वह संख्या कहलाती है। एक, दो, तीन इत्यादि यह संख्या गुण कहीं संख्या का वाचक होता है और कहीं संख्येय का। एक संख्या संख्येय वाचक होती है तथा दस के बाद की संख्या, संख्या और संख्येय दोनों की

बाचक होती है। यह संख्या नौ द्रव्यों में स्थित होती है तथा एकत्व इत्यादि से लेकर परार्ध पर्यन्त होती है। यथा—"एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता नवद्रव्यवृत्तिः, एकत्वं तु नित्यगतं नित्यं, अनित्यगतमनित्यं, द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव।" एक से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या निम्न प्रकार होती है—इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, दस हजार, लाख, दसलाख, करोड़, दस करोड़, अरब, दस अरब, वृन्द, दस वृन्द, खर्व, दस खर्व, निखर्व, दस निखर्व, शख, दसस शख, पद्म, दस पद्म, सागर, दस सागर, अन्त्य, दस अन्त्य, मध्य, दस मध्य, परार्ध दस परार्ध। इस प्रकार यथाक्रम दस-दस का गुणन कर के परार्ध पर्यन्त संख्या है। इसमें एकत्व प्रतिपादक संख्या नित्य पदार्थों में नित्य एवं अनित्य पदार्थों में अनित्य होती है। जैसे जीव, (आत्मा) ईश्वर एवं प्रकृति ये तीनों नित्य हैं। अतः एकत्व का व्यवहार होने पर 'एक' संख्या नित्य होती है। अन्य अनित्य पदार्थों जैसे शरीर, वृक्ष, पर्वत आदि में व्यवहृत होने वाली 'एक' संख्या अनित्य होती है। अतः एक संख्या नित्य भी है और अनित्य भी। इसके अतिरिक्त द्वित्व आदि संख्या सर्वथा अनित्य है। क्योंकि दो से लेकर परार्ध पर्यन्त सख्या अपेक्षा बुद्धिजन्य होती हैं। अतः वह अनित्य है। अपेक्षा बुद्धि के नाश होने से उसका भी नाश हो जाता है। अपेक्षा बुद्धि अनेक एकत्व बुद्धि की परिचायक होती है। जैसा कि वैशेषिक दर्शन के निम्न वचन से सुस्पष्ट है—'अयमेकोऽयमेक इत्याकाराबुद्धिरपेक्षाबुद्धिः'। अर्थात् यह एक है यह एक है इस प्रकार के पृथक् पृथक् ज्ञान का नाम अपेक्षा बुद्धि है।

संयोग निरूपण

"योगः सह संयोग उच्यते।"
द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैक कर्मजोऽनित्य एव च। —च० सू० २६।३१
'संयुक्तव्यवहारहेतुसंयोगः सर्वद्रव्यवृत्तिः।" तर्क संग्रह
"अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।"
—कारिकावलि

अर्थ—द्रव्यों के एक साथ मिलने को संयोग कहते हैं, अथवा दो या दो से अधिक द्रव्यों का योग होना संयोग कहलाता है अथवा संयुक्त (मिला हुआ) है इस प्रकार के व्यवहार का कारण सयोग कहलाता है। यह सभी नव द्रव्यों में होता हैं। यह संयोग द्वन्द्व कर्मज, सर्व कर्मज, तथा एक कर्मज होता है। इसके अतिरिक्त अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति को संयोग कहा जाता है।

दो या दो से अधिक द्रव्यों के मिलने हेतु उनका जो पारस्परिक सम्बन्ध (मिलना) होता है वह संयोग कहलाता है। जो पदार्थ पूर्व में परस्पर असम्बद्ध (मिले हुए नहीं) थे उनका किसी स्थान विशेष या समय विशेष में आपस में मिल जाना ही

संयोग होता है। ऊपर जो तीन प्रकार का संयोग बतलाया गया है वह चरक के अनुसार है। कारिकावलि में भी तीन प्रकार का संयोग बतलाया गया है। यथा— 'अन्यतर कर्मज' 'उभय कर्मज' और 'संयोगकर्मज'। इसमें चरकोक्त द्वन्द्व कर्मज और एक कर्मज कारिकावलि के क्रमश: उभय कर्मज एवं अन्यतर कर्मज से मेल खा जाता है। किन्तु चरक का सर्व कर्मज तथा कारिकावलि का 'संयोगकर्मज, अलग कुछ भिन्न प्रतीत होते है। उन्हें दोनों के भिन्न भिन्न उदाहरणों द्वारा निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

१. चरकोक्त एककर्मज तथा कारिकावलि का अन्यतरकर्मज दोनों एक हैं। आचार्य श्री चक्रपाणिदत्त वृक्ष पर पक्षी के बैठने को एक कर्मज मानते हैं। क्योंकि इसमें एक पक्षी द्वारा ही चेष्टा होती है। न्यायदर्शन वाले (कारिकावलिकार) बाज का पर्वत पर बैठना रूपी संयोग 'अन्यतर कर्मज' होता है। इसमें दोनों उदाहरण समान हैं।

२. द्वन्द्वकर्मज (चरक) और उभयकर्मज (कारिकावलि) दोनों एक ही हैं। क्योंकि दोनों के उदारहण समान अभिप्राय को प्रकट करते हैं। यथा--चक्रपाणि के अनुसार दो भेड़ों का परस्पर लड़ना और न्यायदर्शन के अनुसार उड़ते हुए दो पक्षियों का परस्पर मिलना ये दोनों समान है। क्योंकि दोनो भेड़ों और दोनों पक्षियो में क्रिया पाई जाती है। अतः दोनों एक हैं।

३. चरक द्वारा प्रतिपादित 'सर्व कर्मज' और कारिकावलि में कथित 'संयोगज संयोग' दोनों परस्पर भिन्न हैं। बहुत से तिलों का योग होने पर उनसे तेल निकालना यह सर्वकर्मज है और वृक्ष की डाल पर कौवे का बैठना संयोगज संयोग है। यहाँ पर वृक्ष से कौवे का संयोग है ऐसा माना जाता है। अर्थात् अवयव संयुक्त होने पर वह अवयवी से भी संयुक्त है। अतः इस प्रकार का संयोगज ज्ञान संयोगज संयोग कहलाता है।

यद्यपि सर्वकर्मज संयोग और संयोगज संयोग परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु वस्तुतः दोनों एक ही हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि सर्वकर्मज संयोग एक काल में ही होता है और संयोगज संयोग उत्तर काल में सभी से संयक्त होता है।

ये समस्त संयोग अनित्य होते हैं। क्योंकि विभाग द्वारा इनका विनाश होता है।

विभाग निरूपण

"विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः।"

—च. सू. २६/३३

"संयोगनाशको गुणो विभागः।"

—तर्क संग्रह

अर्थ—वस्तुओं का पारस्परिक विभजन (अलग-अलग करना) अथवा एक-एक भाग करना 'विभाग' कहलाता है। संयोग नाशक गुण को विभाग कहते हैं।

यह संयोग का विरोधी गुण है। अतः जिस गुण के कारण दो या अधिक द्रव्यों के विषय में यह बुद्धि हो कि ये संयुक्त नहीं (विभक्त) हैं, उसे विभाग कहते हैं। विभाग का ही अपर पर्याय वियोग होता है। वियोग में भागशः ग्रह होता है। किसी संयुक्त औषधि में समस्त औषधियों की नियत मात्रा का ज्ञान करना कि कौनसी औषधि कितनी मात्रा में है—वियोग या विभाग कहलाता है। संयोग की भांति विभाग भी तीन प्रकार का होता है। यथा १. द्वन्द्वकर्मज २. एककर्मज और ३. सर्वकर्मज। संयोग के उदाहरण ही विभाग के उदाहरण के रूप में प्रविघटित समझना चाहिए। जैसे पक्षी वृक्ष का अलग होना, दोनों भेड़ों का परस्पर अलग होना तथा सम्पूर्ण तिलों को परस्पर अलग कर देना।

पृथक्त्व–निरुपण

"पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनकेता।" —च. सू. २६/३३

"पृथकत्वव्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम्।" —तर्क संग्रह

अर्थ—असंयोग का नाम ही पृथक्त्व है। यह इससे अलग है। यह ज्ञान जिस गुण के कारण होता है उसका नाम पृथक्त्व है। जैसे यह 'घट' अमुक 'पट' से पृथक् (भिन्न) है। इस प्रकार की बुद्धि जिसके द्वारा उत्पन्न होती है उसे पृथक्त्व कहते हैं। अथवा पृथक् व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं। यह सब द्रव्यों में होता है।

यह तीन प्रकार का होता है—असंयोग लक्षण–जिसका कभी संयोग होना सम्भव नहीं है। विन्ध्य पर्वत और हिमालय का पृथक्त्व। २. वैलक्षण्य रूप--विलक्षणता (लक्षणों की असमानता) होने के कारण जहाँ संयोग नहीं हो सकता। जसे–गाय, भैंस, बकरी, सुअर में विलक्षणता के कारण पृथक्त्व। ३. अनेकता रूप--समान जाति वाले द्रव्यों में भी अनेक रूपता होने से उनमे पृथक्त्व पाया जाता है। जैसे---गायों में काली सफेद लाल गाय आदि।

परिमाण निरूपण

"परिमाणं पुनर्मानम्" च सू. २६/३४

"मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम्,
तच्चतुर्विधमणु दीर्घं महत् ह्रस्वं च।" —तर्क संग्रह

अर्थ—मान को ही परिमाण कहते हैं। मान (माप-तौल) के असाधारण कारण को 'परिमाण' कहते हैं। जिस गुण के कारण माप होता है वह परिमाण कह-

लाता है। माप या तौल द्वारा जो मान ज्ञात किया जाता है उस मान व्यवहार के हेतु भूत गुण का नाम ही परिमाण है। जिस गुण को माप और तौल के विभिन्न साधनो (किलोग्राम, मीटर, लीटर आदि) द्वारा जाना जाता है वह 'परिमाण कहलाता है।

परिमाण के द्वारा ही वस्तुओं का माप या मानदण्ड नियत किया जाता है। वह सभी द्रव्यों में पाया जाता है। यह चार प्रकार का होता है—अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व।

संस्कार निरूपण

"संस्कार करणं मतम्" —च. सू. २६/३४

"करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः।"

—च. वि. १/२६

"सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान संस्कारः।"

—तर्क.संग्रह

संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।" —च. वि. १।२६

"सम्यक् प्रकारेण क्रियते इति संस्कारः।"

"संस्कारस्त्रिविध: वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च" —प्रशस्तपाद

अर्थ—क्रिया द्वारा गुणाधान करने को संस्कार कहते हैं। औषध या आहार को तैयार करने में अनेक प्रकार की प्रक्रियाएं की जाती हैं। उन प्रक्रियाओं से द्रव्य में अन्य गुण की उत्पत्ति होती है, उसे ही संस्कार कहते हैं। इसका अपर पर्याय 'करण' है।

जिन द्रव्यों में जो गुण स्वभावतः नहीं पाए जाते हैं, उन गुणों को उन द्रव्यों में संस्कार क्रिया विशेष द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यह संस्कार जल, अग्नि, संसर्ग मन्थन, देश, काल, भावना, काल प्रकर्ष एव पात्र संयोग द्वारा किया जाता है। यह संस्कार सामान्यतः तीन प्रकार का होता है—१--वेग २--भावना ३--स्थितिस्थापक। १-वेग—यह पृथ्वी-जल-वायु-अग्नि इन चार मूर्तद्रव्यों में और अमूर्त मन में पाया जाता है। उपर्युक्त इन पांच द्रव्यों में कारण-विशेष से जो गति-प्रवाह उत्पन्न होता है वह 'वेग' नामक संस्कार कहलाता है। इससे द्रव्यों के संयोग और वियोग का नाश होता है। २-भावना--अनुभव प्रत्यक्ष आदि होने के पश्चात् उन अनुभवों का जो कुछ भी अंश मन में रह जाता है उसी के द्वारा उन अनुभूत विषयों का स्मरण होता है और वे वस्तुएं पुनः पहचानी जाती हैं। अतः पूर्वानुभूत विषयों की प्रत्यभिज्ञा जिस संस्कार द्वारा होती है वही भावना संस्कार से अभिप्रेत है। यह संस्कार केवल आत्मा में रहता है। पुनः पुनः अथवा एक बार जिस वस्तु का अनुभव होता है उससे उस वस्तु की भावना मन में अंकित हो जाती है। पश्चात् वही प्रादुर्भूत होती है। ३-स्थिति स्थापक--जिस गुण

के कारण द्रव्यों में लचकीलापन पाया जाता है तथा जिससे द्रव्य को दोनों ओर से खींचने पर द्रव्य फैल जाता है किन्तु छोड़ देने पर पुन: अपनी स्वाभाविक पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जाता है वह 'स्थितिस्थापक' गुण (संस्कार) कहलाता है। जैसे रबर के टुकड़े को खींचने पर वह लम्बा हो जाता हैं या वृक्ष की डाल पकड़ कर खींचने पर वह झुक जाती है, किन्तु छोड़ देने पर पुन: अपनी स्वाभाविक पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जाती है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में पाया जाता है।

अभ्यास निरुपण

"भावाभ्यसनमभ्यास: शीलनं सततक्रिया" —च. सू. २६।३४

अर्थ—किसी भी भाव पदार्थ का पुन: पुन: पालन (सेवन) करने को अभ्यास कहते हैं। शीलन और सतत क्रिया दो अभ्यास के पर्याय शब्द हैं।

जब कोई कार्य लगन के साथ लगातार किया जाता है वही सततक्रिया कहलाता है। इसी भाँति बारम्बार द्रव्यों का अनुशीलन (सेवन करना) शीलन कहलाता ये दोनों ही अभ्यास कहलाते हैं।

इस प्रकार ये परादि १० गुण होते हैं तथा "सार्था गुर्वादयो बुद्धि: प्रयत्नान्ता परादय: के अनुसार कुल ४१ गुण होते है। न्याय दर्शनोक्त धर्म और अधर्म इन दोनों गुणों को आयुर्वेद में नहीं माना गया है। अत: उनका वर्णन यहां नहीं किया गया।

न्यायोक्त चतुर्विंशति गुण—

न्याय दर्शन में आयुर्वेद की भांति ४१ गुणों को नहीं माना गया है। उन्होने केवल २४ गुणों का ही उल्लेख किया है। और उन्हीं २४ गुणों के अन्तर्गत आयुर्वेदोक्त ४१ गुणों को समाविष्ट कर लिया है। न्यायोक्त २४ गुण निम्न प्रकार हैं—

……अथ गुणा रूपं रसो गंधस्तत: परम्।
स्पर्श: सख्या परिमिति पृथक्त्वं च तत: परम्॥
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम्।
बुध्दि: सुखं दु:खमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम्।
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च॥ —कारिकावलि

अर्थात् १ रूप, २ रस, ३ गन्ध, ४ स्पर्श, ५ संख्या, ६ परिमिति (परिमाण) ७ पृथक्त्व, ८ सयोग, ९ विभाग, १० परत्व, ११ अपरत्व, १२ बुद्धि, १३ सुख, १४ दुख, १५ इच्छा, १६ द्वेष, १७ प्रयत्न, १८ गुरुत्व, १९ द्रवत्व, २० स्नेह, २१ संस्कार, २२ धर्म, २३ अधर्म और २४ शब्द ये २४ गुण हैं। यहां अदृष्ट पद से धर्म और अधर्म इन दो गुणों का ग्रहण किया गया है।

वस्तुत: ये २४ गुण ही माने गए हैं। उन्हीं गुणों में आयुर्वेदोक्त ४१ गुणों का समावेश कर लिया जाता है। धर्म और अधर्म ये दो गुण आयुर्वेद में नहीं माने गए हैं। शेष समस्त गुणों को आयुर्वेद में स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद में उपर्युक्त न्यायोक्त गुणों के अतिरिक्त १७ लघुत्वादि गुण तथा युक्ति एव अभ्यास ये दो (परादि) गुण इस प्रकार कुल १९ गुण अधिक माने गए हैं। इन गुणों का समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है—अभ्यास को संस्कार में, युक्ति को संयोग में, गुर्वादि गुणों में गुरुत्व, द्रवत्व और स्नेह इन तीन गुणों को छोड़कर शेष गुणों को संस्कार और धर्म में समाविष्ट किया जा सकता है। आयुर्वेदोक्त गुर्वादि २० गुण दो प्रकार से प्राप्त होते हैं—१--सांसिद्धिक (स्वभाव सिद्ध) २--नैमित्तिक (कारणजन्य)। जब इनकी प्राप्ति स्वभावत: होती है तब यह इस द्रव्य का धर्म है—ऐसा कहा जाता है और औषधि द्रव्य का वह धर्म अदृष्टजन्य होता है। ऐसी स्थिति में इनका समावेश धर्म में किया जाता है। जब निमित्तों के द्वारा इन गुणों की प्राप्ति होती है तब इन गुणों का समावेश संस्कार में कर लिया जाता है। इस प्रकार कुल चौबीस गुण ही माने जाते हैं।

कुछ विद्वान इस प्रकरण में भिन्न मत रखते हैं। उनके मतानुसार चरकोक्त गुणों की संख्या भी २४ मानी जा सकती है। चरक में गुणों का वर्गीकरण एवं संख्या निर्देश "सार्थागुर्वादयो" · · इत्यादि पद से किया गया है। २४ गुण मानने वाले विद्वानों के अनुसार इस पद का अर्थ यदि वैशेषिक सिद्धान्त से किया जाय तो चरक के सिद्धान्तानुसार भी २४ ही गुण होते हैं। जैसे वैशेषिक दर्शन में "रूपरसगन्धस्पर्शसंख्या रिमाणानि पृथक्त्वं सयोगविभागौ परापरत्वे बुद्धय: सुखदुखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च (वैशे १-१-६) ये १७ गुण बतलाए गए हैं। प्रशस्तपाद भाष्य में उपर्युक्त प्रयत्नाश्च पाठ के च पद से ७ और गुण स्वीकार कर लिए गए हैं। यथा चशब्दसमुच्चयास्तु गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्माधर्म-शब्दा: सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशति गुणा: ।" इस प्रकार कुल २४ गुण होते हैं। इसी भांति आयुर्वेदोक्त सार्था शब्द से स्पर्श रूप रस गन्ध ये ४ गुण 'गुर्वादयो' शब्द से गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्म-अधर्म-शब्द ये ७ गुण, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्न ये ६ गुण, 'परादय:' शब्द से संस्कार युक्ति और अभ्यास इन गुणों को छोडकर शेष ७ गुण ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार चरक के अनुसार भी २४ गुण होते हैं। जो लोग इस धारणा के अनुसार सोचते है उनकी कल्पना निराधार एवं अयुक्ति युक्त है। चरक द्वारा वर्णित ४१ गुण चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक गुण का स्वतन्त्र महत्व एवं उपयोगिता है। अत: उन्हें केवल संख्या की दृष्टि से न्यूनाधिक नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सार्था शब्द से सर्वत्र पंचमहाभूतों के शब्द स्पर्शादि ५ गुणों का ही

ग्रहण किया गया है। यथा–'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।' (च, शा. १) गुर्वादि शब्द से आयुर्वेद में सर्वत्र गुरु आदि २० गुण ही ग्रहण किए जाते हैं। यथा–"गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः । गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥" (अ. हृ. सू. १) 'परादि' शब्द से आयुर्वेद में सदा १० गुणों का ही ग्रहण होता है। यथा-'परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च। संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः॥' (च. सू. अ. २६)। इस प्रकार "सार्था गुर्वादयो" इत्यादि चरकोक्त वाक्य से केवल उन्हीं गुणों को ग्रहण करना उपयुक्त है जिनका निर्देश आयुर्वेद के आचार्यों ने अपनी मूल संहिताओं में किया है। इन गुणों को छोड़कर अन्य दर्शनोक्त गुणों के साथ समन्वय हेतु व्यर्थ की खींचातानी पूर्वक प्रयास करना अनुपयुक्त है।

गुणों का साधर्म्य

आयुर्वेद के जिन ४१ गुणों का वर्णन किया गया है वे यद्यपि परस्पर एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। तथापि उनमें कुछ धर्म ऐसे हैं जो सभी में समान रूप से पाए जाते हैं। अतः परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमें जो धर्म समान रूप से मिलता है वही साधर्म्य है। सभी गुणों में समान रूप से मिलने वाले धर्म निम्न है—

१ सभी गुणों में गुणत्व जाति पाई जाती है। गुणत्व जाति के कारण ही वे गुण कहलाते हैं।

२. सभी गुण द्रव्य में आश्रित रहते हैं। अतः आश्रित धर्म वाले हैं।

३. सभी गुण गौणत्व धर्मयुक्त होने से गौण होते हैं।

४. सभी गुण निर्गुण होते हैं। उनमें कोई अन्य गुण नहीं होता।

५. सभी गुण निष्क्रिय होते हैं। वे किसी प्रकार की क्रिया (कर्म) नहीं करते अथवा उनमें कोई क्रिया नहीं पाई जाती है।

६. संयोग और विभाग में सभी गुण अनपेक्ष अकारण हैं।

गुणों का वैधर्म्य

गुणों में पाया जाने वाला वह धर्म जो समस्त गुणों में समान रूप से विद्यमान नहीं रहता अर्थात् कुछ गुणों में पाया जाता है और कुछ गुणों में नहीं पाया जाता वैधर्म्य कहलाता है। गुणों में वैधर्म्य निम्न प्रकार से होता है—

१. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व तथा गुर्वादि बीस गुण मूर्त होते हैं। अर्थात् ये मूर्त गुण केवल स्थूल स्वरूप वाले द्रव्यों में पाये जाते हैं। यथा–पृथ्वी, जल, तेज, वायु में।

२. बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये अमूर्त गुण होते हैं तथा जिनका स्थूल स्वरूप नहीं होता, उनमें ये पाए जाते हैं। जैसे आत्मा और आकाश में।

३. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पांच मूर्तामूर्त गुण हैं तथा समस्त द्रव्यों में पाए जाते हैं।

४. बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये गुण उभयेन्द्रियरूप अन्तःकरण (मन) द्वारा ग्राह्य हैं।

५. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच गुण ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यात्म नियत विषय हैं। अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय ग्राह्य हैं। इसीलिए ये बाह्य गुण भी कह-लाते हैं।

६. धर्म और अधर्म अतीन्द्रिय होते हैं।

७. संयोग और विभाग कभी भी एक द्रव्य में नहीं पाए जाते। किन्तु संख्या एक द्रव्य में और कभी अनेक द्रव्यों में पाई जाती है।

८. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म, संस्कार और गुर्वादि बीस गुण ये विशेष गुण कहलाते हैं। क्योंकि इन गुणों के आधार पर ही वस्तु एक दूसरे से भिन्न समझी जाती है। "विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्" के आधार पर ही ये विशेष गुण हैं।

९. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और द्रवत्व से सामान्य (नैमित्तिक) गुण होते हैं। अर्थात् अनेक द्रव्यों में ये एक साथ ही पाए जाते हैं। इनके द्वारा वस्तु एक दूसरे से पृथक् नहीं जा सकती है। इनके द्वारा अनेक द्रव्य एक साथ समझे जाते हैं। जैसे संयोग के द्वारा दो या अधिक संयुक्त द्रव्यों का ज्ञान होता है।

द्रव्यों में पाए जाने वाले गुण

भिन्न भिन्न द्रव्यों में पाए जाने वाले गुणों की संख्या भिन्न भिन्न है। न्याय दर्शन के अनुसार निम्न द्रव्यों में उपलब्ध होने वाले गुण और उनकी संख्या निम्न प्रकार है—

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयोः पंच षडेवाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥

अर्थात् वायु के नौ, तेज (अग्नि) के ग्यारह, जल, पृथ्वी और जीवात्मा के चौदह-चौदह, दिशा और काल के पांच-पांच, आकाश में छः, परमात्मा तथा मन के आठ आठ गुण होते हैं। द्रव्यों के उपर्युक्त विध वर्णित गुणों का विवरण निम्न प्रकार है—

१. न्यायोक्त चतुर्विंशति गुणों में से स्पश, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेगाख्य संस्कार ये नौ गुण वायु में होते हैं।

२. उपर्युक्त नौ गुणों के साथ रूप और द्रवत्व ये ग्यारह गुण तेज में होते हैं।

३. उपर्युक्त नौ गुणों के अतिरिक्त द्रवत्व, गुरुत्व, रूप, रस और स्नेह ये चतुर्दश गुण जल में होते हैं।

४. उपर्युक्त चतुर्दश गुणों में स्नेह के स्थान पर गन्ध ग्रहण कर लेने से चौदह गुण पृथ्वीगत हो जाते हैं।

५. बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, परिमाण, संख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, भावनाख्य संस्कार, धर्म और अधर्म ये चौदह गुण जीवात्मा में होते हैं।

६. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ये पांच गुण दिक् और काल के होते हैं।

७ संख्या आदि उपर्युक्त तथा शब्द ये छः गुण आकाश में विद्यमान रहते हैं।

८. संख्या आदि उपर्युक्त पांच गुण तथा बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न ये आठ गुण परमात्मा में पाए जाते हैं।

९. संख्या आदि उपर्युक्त पांच गुण तथा परत्व, अपरत्व एवं वेग नामक संस्कार ये आठ गुण मन के होते हैं।

चतुर्थ अध्याय

कर्म निरूपण

कर्म का लक्षण

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् ।
कर्तव्यस्य क्रियाकर्म कर्म नान्यदपेक्षते ।।

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/५२

"प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते ।" —चरक संहिता, सूत्रस्थान १/४१

"द्रव्याश्रितं च कर्म यदुच्यते क्रियेति ।" —चरक संहिता, सूत्रस्थान ८/१३

"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमितिकर्मलक्षणम् ।"

—वैशेषिक सूत्र १।१।१७

अर्थ—जो एक ही साथ संयोग और विभाग में कारण हो तथा द्रव्य में आश्रित हो वह कर्म कहलाता है। कर्तव्य की क्रिया को कर्म कहते हैं। यह कर्म संयोग और विभाग में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करता। अर्थात् कर्म केवल क्रिया की अपेक्षा करता है। यत्नपूर्वक की गई चेष्टा को ही कर्म कहते हैं। द्रव्याश्रित जो क्रिया होती है वही कर्म कहलाता है। इस प्रकार जो एक द्रव्याश्रित गुण से रहित संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में अपने से उत्तरभावी किसी भावपदार्थ (कारण) की अपेक्षा न करता हुआ कारण है वह कर्म कहलाता है। आयुर्वेद में कर्म से प्रवृत्ति का भी ग्रहण होता है। यथा—

"प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था सैव क्रिया कर्म यत्न: कार्य समारम्भश्च ।"

—चरक संहिता, विमान स्थान अ० ८

अर्थात् कार्य के लिए जो चेष्टा की जाती है वह प्रवृत्ति कहलाती है। वही क्रिया, कर्म, यत्न और कार्य समारम्भ भी कहलाती है।

कर्म में सामान्यत: निम्न तथ्य अपेक्षितरूपेण होना चाहिये—

एकद्रव्यम्—कर्म एक द्रव्याश्रित होता है। यद्यपि गुण भी द्रव्य के ही आश्रित रहता है, किन्तु दोनों के आश्रितत्व में अन्तर होता है। सभी गुण एक द्रव्याश्रित नहीं होते। कुछ ऐसे गुण भी हैं जो अनेक द्रव्याश्रित होते हैं। जैसे संयोग गुण एक द्रव्याश्रित कभी नहीं होता। जैसे किसी स्थान पर जन समूह एकत्रित होने पर उनका संयोग

अनेक द्रव्याश्रित होगा। इसी भांति रोटी और घृत का संयोग दो द्रव्य (रोटी और घृत) के आश्रित होगा। अतः वह सर्वनिष्ठ या उभयनिष्ठ गुण हुआ। किन्तु कर्म में ऐसा नहीं होता। वह सदा एक ही द्रव्य के आश्रित रहता है। कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जो दो द्रव्यों या अनेक द्रव्यों के आश्रित हो। एक द्रव्याश्रित होने से कर्म एक निष्ठ या 'एक द्रव्यम्' कहलाता है।

अगुणम्—जिस प्रकार किसी गुण में अन्य गुण आश्रित होकर नहीं रहता, उसी प्रकार कर्म में भी कोई गुण आश्रित होकर नहीं रहता। कर्म किसी गुण का आश्रय अथवा किसी गुण का आधार न होने के कारण वह गुण रहित होता है। अतः उसे "अगुणम्" या "निर्गुणम्" कहा गया है।

संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम्—कर्म के द्वारा संयोग और विभाग दोनों एक ही साथ सम्पादित होते हैं। अर्थात् कर्म जिस द्रव्य के आश्रित होकर रहता है उस द्रव्य का पूर्व देश से विभाग तथा उत्तर देश से संयोग तदाश्रित कर्म द्वारा ही होता है। यद्यपि संयोग भी तो उत्तर देश के संयोग में हेतु होता है, किन्तु वह पूर्व देश के विभाग में हेतु नहीं हो सकता। उसी भांति विभाग भी पूर्व देश के विभाग में हेतु होता है किन्तु वह उत्तर देश के संयोग में हेतु नहीं हो सकता। कर्म एक साथ पूर्व प्रदेश के विभाग एवं उत्तर प्रदेश के संयोग में हेतु होता है। अर्थात् कर्म द्वारा संयोग और विभाग एक साथ होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य भी तो संयोग और विभाग में युगपत् कारण होता है, तथापि उसे कर्म की अपेक्षा रहती है। अर्थात् कर्म के कारण ही द्रव्य संयोग-विभाग करने में समर्थ होता है। जब द्रव्य कर्म से युक्त होता है तब ही वह संयोग विभाग कर सकता है। अभिप्राय यह है कि द्रव्य को संयोग-विभाग करने में कर्म रूप कारणान्तर की अपेक्षा रहती है। किन्तु समुत्पन्न कर्म किसी कारणान्तर की अपेक्षा किए बिना स्वयं ही संयोग-विभाग को युगपत् करता है। यही 'संयोगविभागेष्वनपेक्षकारण' कहलाता है।

इन तीनों (एक द्रव्य, अगुण और संयोगविभागेष्वनपेक्षकारण) के मिलने से कर्म का यह लक्षण निष्पन्न होता है कि जो द्रव्यों के परस्पर संयोग तथा विभाग को उत्पन्न करता है तथा उसके उत्पन्न करने में समवायी द्रव्य एवं सम्पूर्ण संयोगनाश की अपेक्षा करता हुआ भी अपनी उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होने वाले किसी भाव पदार्थ की (कारणान्तर के रूप में) अपेक्षा नहीं करता और सदा नियम पूर्वक एक द्रव्य के आश्रय में रहता तथा स्वयं किसी गुण का आश्रय नहीं होता वह कर्म कहलाता है।

कर्म से सामान्यतः दो प्रकार के कर्म अभिप्रेत हैं—इहलौकिक कर्म और पारलौकिक कर्म इहलौकिक कर्म। उपर्युक्त प्रकार से संयोग तथा विभाग में निरपेक्ष

कारण होता है और पारलौकिक कर्म कर्त्तव्य की क्रिया को कहते हैं। कर्त्तव्य से सामान्यतः सद्वृत्त या सदा चार का ग्रहण किया जाता है। उसकी क्रिया अर्थात् पालन करने से जो कर्म उत्पन्न होसा है वह पारलौकिक कर्म कहलाता है। दोनों कर्म केवल क्रिया की अपेक्षा करते हैं और दोनों संयोग एवं विभाग में युगपत् कारण होते हैं। जैसे—उत्क्षेपण कर्म में उर्ध्व देश से संयोग और उसी क्षण अधः देश से विभाग भी होता है। इसी भांति सद्वृतरूप कर्त्तव्य का पालन करने से जब शुभ कर्म से संयोग होता है उसी क्षण अशुभ कर्म से विभाग भी होता है। इस प्रकार कर्म निमित्तकारण होता है।

चरक संहिता में कर्म का निरुपण करते हुए महर्षि चरक ने लिखा है—

"प्रयत्नादि कर्म चेष्टित मुच्यते"—अर्थात् प्रयत्न याने श्रम पूर्वक की जाने वाली चेष्टा ही कर्म कहलाती है। अथवा ऐसी चेष्टा जो प्रयत्न (जीवनयोनि, प्रवृत्ति और निवृत्ति) का कारण है 'कर्म' कहलाती है। इस कर्म की वृत्ति केवल मूर्त द्रव्यों में ही रहती है। अल्प परिमाण द्रव्य ही मूर्त कहलाते हैं। व्यापी (सर्वत्र व्याप्त रहने वाला) या विभु द्रव्य मूर्त नहीं होता। अतः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पांच मूर्त द्रव्यों में ही कर्म की वृत्ति रहती है। विभु द्रव्य जैसे आकाश काल, दिक्, आत्मा में कर्म की वृत्ति कदापि सम्भव नहीं है। इन द्विविध कर्मों को ही कुछ अन्य विद्वानों ने क्रमशः लौकिक एवं आध्यात्मिक कर्म कि संज्ञा दी है। अर्थात् इहलौकिक कर्म को लौकिक तथा पारलौकिक कर्म को आध्यात्मिक कर्म माना है। दो का अभिप्राय एक ही है।

कर्म के भेद

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुंचनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पंच च॥
भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते॥ **—कारिकावलि**

अर्थ—उत्क्षेपण, आक्षेपण, आंकुचन, प्रसारण और गमन ये पांच कर्म के भेद हैं। भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, उर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन आदि गामनकर्म से समझना चाहिये।

उत्क्षेपण—उपर की ओर गति करना या उपर की ओर फेंकना। जिसके द्वारा पदाथ का उपर के प्रदेश के साथ संयोग हो तथा अधः प्रदेश के साथ वियोग (विभाग) हो वह उत्क्षेपण कर्म कहलाता है। जैसे पत्थर का ऊपर फेकना, गेंद का उपर उछालना, पतंग का ऊपर उड़ाना आदि। **"ऊर्ध्वदेशसंयोग हेतुरुत्क्षेपणम्"** **—तर्क संग्रह**

अपक्षेपण— **"अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम्"** **—तर्क संग्रह**

अर्थात् जो कर्म अधः प्रदेश से संयोग कराने में कारण होता है वह 'अपक्षेपण' कहलाता है। अपक्षेपण कर्म द्वारा द्रव्य का निचले प्रदेश के साथ संयोग तथा ऊर्ध्व प्रदेश के साथ वियोग होता है। साधारणत: नीचे की ओर गति करना अथवा नीचे फेंकना ही अपक्षेपण कर्म होता है। जैसे सीढ़ियों द्वारा नीचे उतरना, पत्थर का नीचे की ओर फेंकना, पेड़ से पत्तों का नीचे गिरना, आदि अपेक्षपण के उदाहरण हैं।

आकुंचन— **शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतु आंकुचनम्** —तर्क संग्रह

अर्थात् जिस कर्म द्वारा द्रव्य का शरीर के सन्निकृष्ट प्रदेश के साथ संयोग हो वह आकुचन कर्म कहलाता है। जिस क्रिया द्वारा सीधे अथवा फैले हुये द्रव्य का अग्र-भाग उस प्रदेश से विभाग अथवा अपने मूल प्रदेश से संयोगरूप सिकुड़कर सकुचित अथवा अल्प देश व्याप्ति होता है वह आकुंचन कर्म कहलाता है। जैसे फैले हुये हाथों को सिकोड़ना, फैले हुये कपडे को समेटना, किसी वस्तु को अपनी ओर खींचना आदि।

प्रसारण— **"विप्रकृष्टसंयोगहेतु प्रसारणम्"** —तर्क संग्रह

अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का विप्रकृष्ट (दूरस्थ) प्रदेश के साथ संयोग हो उसे प्रसारणकर्म कहते हैं। यह कर्म आकुंचन से सर्वथा विपरीत होता है। इस वस्तु का परवर्ती (दूरवर्ती) प्रदेश के साथ संयोग तथा सन्निकृष्ट या समीपवर्ती प्रदेश के साथ विभाग होता है। हाथ का फैलना, कपड़े का फैलना, लताओं का फैलना, पानी का फैलना आदि।

गमन— **"उत्तरदेशसंयोगहेतुर्गमनम्"** —तर्क संग्रह

अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का उत्तर वर्ती प्रदेश से संयोग तथा पश्चात् वर्ती प्रदेश से विभाग होता है वह 'गमन' कर्म द्वारा व्यवहृत होता है। इस संयोग विभाग के कारण रूप कर्म की दिशा तथा प्रदेश अनियत होता है और वस्तु की गति किसी भी प्रदेश की ओर हो सकती है। गमन से गति या चलनात्मक क्रिया का बोध होता है। इसके अतिरिक्त भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, उर्ध्वज्वलन तथा तिर्यगगमन समस्त कर्मों का समावेश गमन कर्म में हो जाता है। आयुर्वेद में कर्म के भेदों के अन्तर्गत उपर्युक्त उत्क्षेपणादि पंचविध कर्मों के अतिरिक्त अन्य पंचविध कर्मों का ग्रहण किया गया है। यथा "तस्य द्रव्यस्य कर्म पंचविधमुक्तं वमनादि" च० सू० २६/२० अर्थात् द्रव्य के पांच प्रकार के कर्म होने है। यथा—१-वमन २- विरेचन ३- निरुह बस्ति ४- अनुवासन बस्ति ५- नस्य (शिरोविरेचन)। ये सभी कर्म उपर्युक्त वैशेषिक कर्म में समविष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सा शास्त्र में (विशेषत: शल्य चिकित्सा में) १ पूर्व कर्म; २. प्रधान कर्म, ३. पश्चात् कर्म इन तीन प्रकार के कर्म को माना गया है। ये समस्त कर्म उपरिनिर्दिष्ट कर्म के लक्षण द्वारा कर्म सिद्ध होते हैं। इन्हीं कर्मों के आधार पर आयुर्वेद में कर्म के लक्षण को प्रतिपादित किया गया है ताकि वह अतिव्याप्त्यादि दोष से रहित हो।

पंचम अध्याय

सामान्य निरूपण

सामान्य का लक्षण

"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्" —च० सू० १।४४

"सामान्यमेकत्वकरम्" —च० सू० १।४५

"तुल्यार्थता हि सामान्यम्" —च० सू० १।४५

"अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु एकमनेकसमवेतं च सामान्यम् । तदेकत्वकरं वृद्धिकरं सादृश्य च —सप्त पदार्थी

"नित्यमनेकानुगतं सामान्यम्, द्रव्य-गुण-कर्मवृत्ति, नित्यतो सत्यनेक समवेतत्व-मिति वा सामान्यलक्षणम्"

अर्थ—सदा समस्त भाव पदार्थों की वृद्धि करने वाला कारण 'सामान्य' होता है । सामान्य एकत्व करने वाला होता है । तुल्यार्थता ही सामान्य कहलाती है, स्व-विषय के समस्त द्रव्यों में रहने वाला आत्मस्वरूपानुगम प्रत्यय का उत्पादक अनुवृति प्रत्यय का कारण सामान्य होता है । सामान्य नित्य एक तथा अनेक में अनुगत समवाय संबध से रहता है । यह एकत्व, वृद्धि तथा सादृश्य को उत्पन्न करने वाला होता है । अर्थात् नित्य होते हुए जो अनेक पदार्थों में समवेत रहता है, उसे सामान्य कहते हैं । यह द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहता है ।

संयोग आदि भी अनेक पदार्थों में समवेत रहते है । अतः उनके निवारणार्थ "नित्यत्व" का सन्निवेश किया गया है । संयोग नित्य नहीं होता है । नित्य होते हुए आकाश परिमाणादि द्रव्यों में समवेत रहते हैं । किन्तु वे एक काल में एक ही वस्तु में समवेत रहते हैं । अर्थात् आकाश परिमाण नित्य है । किन्तु वह मात्र एक आकाश में ही रहता है । अतः अनेक पद लगाया गया । अत्यान्ताभाव में भी नित्यत्व और अनेक वृत्ति दोनों ही गुण हैं । अतः वृत्तित्व सामान्य का परित्याग करके 'समवेतत्व' शब्द लगाया गया । इस प्रकार सामान्य का निर्दुष्ट लक्षण निष्पन्न हुआ ।

सामान्य के उपर्युक्त लक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस पदार्थ के द्वारा भिन्न-भिन्न देश और काल में रहे हुए अनेक द्रव्यों में समानता का ज्ञान होता है उसे सामान्य अथवा जाति कहते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न देश और काल में रही हुई अनेक गायें हैं। उनमें जिस पदार्थ के द्वारा हमें 'यह गाय है' 'यह गाय है' इस प्रकार की समानता का जो ज्ञान होता है, वह है "गोत्व"। जिस-जिस पदार्थ में हमें 'गोत्व' की प्रतीति होती हैं उसे ही हम गाय कहते हैं। अतः सिद्ध है कि समस्त गायों में गोत्व समान रूप से विद्यमान रहता है। जो अनेक द्रव्यों में समान रूप से विद्यमान हो वही सामान्य या जाति कहलाती है। गाय तो उत्पन्न भी होती है, उसका विनाश भी होता है, किन्तु उसमें रहने वाला गोत्व न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट होता है। अर्थात् गोत्व नित्य होता है। गायें अनेक होने पर भी उनमें स्थित गोत्व एक ही होता है और गाय में वह समवाय (अपृथग्भाव) सम्बन्ध से रहता है। तात्पर्य यह है कि अनेक द्रव्यों में रहता हुआ भी जो स्वयं एक और नित्य होता है वह सामान्य कहलाता है। यह केवल द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। सामान्य में सामान्य नहीं होता। क्योंकि सामान्य में सामान्य मानने से अनवस्था होती है। विशेष में सामान्य रह नहीं सकता, क्योंकि विशेष सामान्य से सर्वथा विपरीत होता है। इसीलिए वह असामान्य कहलाता है।

सामान्य के भेद—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥
परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिक जातिस्तु परापरतयोच्यते ॥
व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च ।

कारिकावलि १-८

सामान्य दो प्रकार का होता है—(१) पर सामान्य (२) अपर सामान्य। द्रव्यादि तीन पदार्थों (द्रव्य, गुण और कर्म) में रहने वाली सत्ता को 'पर सामान्य' और पर से भिन्न जाति को 'अपर सामान्य' कहते हैं। द्रव्यत्व आदि जाति तो पर सामान्य भी कहलाती है। सामान्य व्यापक होने पर 'पर' और व्याप्य होने से 'अपर' भी होता है, क्योंकि व्यापकता की दृष्टि से पर सामान्य अधिक देश या अधिक व्यक्तियों में व्याप्य रहता है और "अपर सामान्य" अल्प देश या अल्प व्यक्तियों में ही व्याप्त रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सबसे अधिक व्यक्तियों में रहने वाली अथवा अधिक देश में रहने वाली जाति 'पर सामान्य' और कम व्यक्तियों अथवा अल्प

देश में रहने वाली जाति 'अपर सामान्य' कहलाती है। जो दोनों के बीच में रहने वाली जाति है वह 'अपर सामान्य कहलाती है; जैसे द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पदार्थों में पदार्थत्व जाति 'पर सामान्य' है। इसे 'सत्ता' भी कहते हैं। क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्य समस्त विध सामान्यों का समावेश हो जाता है। जैसे द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, घटत्व, पटत्व आदि। पर सामान्य कभी 'अपर, भी हो सकता है और अपर सामान्य कभी 'पर' भी हो सकता है। अर्थात् सामान्य भाव बुद्धि विशेष के अधीन है। दृष्टि भेद से अथवा प्रकरण वश दोनों प्रकार की स्थिति सम्भव है। जैसे पदार्थत्व द्रव्यत्व की अपेक्षा पर सामान्य है और पदार्थत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर सामान्य है। किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व भी पर सामान्य हो जाता है और पदार्थत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर सामान्य है.

अत: ये दोनों परत्वापरत्व परस्पर सापेक्ष होते हैं। एक-दूसरे की अपेक्षा रखे बिना सामान्य में परत्वापरत्व भाव सम्भव नहीं है।

टीकाकार आचार्य चक्रपाणि द्वारा आयुर्वेद में चरक संहिता में सामान्य तीन प्रकार का माना गया है। यथा—१. द्रव्य सामान्य २. गुण सामान्य ३. कर्म सामान्य। चरक में तीन स्थलों पर सामान्य के लक्षणों का उल्लेख मिलता है। वे तीनों लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार के सामान्य का प्रतिपादन करने वाले हैं। जैसे—(१) द्रव्यत्व सामान्य—**"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्"** (२) गुण सामान्य—**"सामान्यमेकत्वकरम्"** (३) कर्म सामान्य—**"तुल्वार्थता हि सामान्यम्"**।

द्रव्य सामान्य –मनुष्य शरीर में स्थित और बाह्य जगत में स्थित (अन्य प्राणियों के शरीर को छेदन कर लाया गया) मांस समान है। क्योंकि दोनों में मांसत्व सामान्य है। इसी भांति बाह्य जगत में स्थित रक्त, मज्जा, शुक्र और शरीर गत रक्त मज्जा, शुक्र के ही समान है। सामान्य युक्त बाह्य द्रव्य के द्वारा सामान्य युक्त शरीर गत द्रव्य की सर्वोत्तम पुष्टि (वृद्धि) होती है। जैसे मांस से मांस की, रक्त से रक्त की, मज्जा से मज्जा की, शुक्र से शुक्र की इत्यादि। इस प्रकार एक द्रव्य स्वजातीय एवं स्वयोनि द्रव्य की वृद्धि में कारण होता है। यही द्रव्य सामान्य कहलाता है।

गुण सामान्य—जिस गुण वाले द्रव्य का सेवन किया जाता है। शरीर में दोष, धातु एवं मल गत उसी गुण की वृद्धि होती है। जैसे मांस आदि बाह्य द्रव्यों में स्थित गुरु गुण तथा मांस आदि विभिन्न शरीरगत धातुओं में स्थित गुरु गुण परस्पर सामान्य है। बाह्य द्रव्यों का सेवन करने पर तद्गत गुरु आदि गुण शरीरावयवगत गुरु आदि गुणों की वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत आदि गुणों केउदाहरण निम्न प्रकार जानना चाहिए—

"पयशुक्रयोर्भिन्नजातीयोरपि मधुरत्वादिसामान्यं तत्रैकतां करोति" अर्थात् शुक्र से भिन्न होने पर भी दूध माधुर्य गुण से शुक्र की वृद्धि करता है अथवा एकत्व को उत्पन्न करता है। अतः गुणों की समानता होने से यह गुण सामान्य है।

कर्म सामान्य—किसी बाह्यकर्म को करने से शरीरगत तद्रूप कर्म की वृद्धि होती है। एक ही स्थान पर सतत बैठे रहने से या विश्राम करने से स्थैर्य (स्थिरता) करने वाले कफ की वृद्धि होती है। इसी प्रकार अधिक संसरण (तैरना) से चलन कर्म रूप वायु की वृद्धि होती है। इस प्रकार कर्म का सेवन शरीरगत उसी कर्म की वृद्धि करने वाला होता है।

भट्टार हरिश्चन्द्र ने चक्रपाणि दत्त द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त त्रिविध—द्रव्य सामान्य, गुण सामान्य एवं कर्म सामान्य को पृथक्-पृथक् न मानकर तीनों का समावेश **'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'** इस परिभाषा के अन्तर्गत ही कर लिया है। अतः इन्होंने सामान्य के पृथक् तीन भेदों का मानना अयुक्तियुक्त समझा। उन्होंने सामान्य के निम्न तीन भेद स्वीकार किये हैं—(१) अत्यन्त सामान्य (२) मध्य सामान्य और (३) एक देश सामान्य। इसमें 'सर्वदासर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' को अत्यन्त सामान्य, **'सामान्यमेकत्वकरम्'** को मध्य सामान्य और **'तुल्यार्थता हि सामान्यम्'** को एक देश सामान्य माना है। किन्तु चक्रपाणि दत्त ने उक्त त्रिविध सामान्य को कोई विशेष महत्व नहीं दिया है। उन्होंने विशेष प्रयोजन वाला न होने से श्रद्धा योग्य एवं मान्य नहीं समझा। इसके अतिरिक्त उन्होंने आगे कहा है कि अनेक आचार्य सामान्य को दो प्रकार का मानते हैं—उभयवृत्ति सामान्य और (२) एकवृत्ति सामान्य।

उभयवृत्तिसामान्य—उभयवृत्ति सामान्य वह होता है जिसमें वर्धक और वर्धनीय दोनों द्रव्यों में द्रव्यत्व या गुणत्व सामान्य पाया जाता है। जैसे—"मासं मांसवर्धकम्" अर्थात् बाह्य मांस खाने से शरीरगत मांस की वृद्धि होती है। इसमें बाह्य मास पोषक एवं शरीरगत मांस पोष्य होता है। यहां पर पोषक और पोष्य दोनों में मांसत्व सामान्य है। अतः यह उभयवृत्ति सामान्य हुआ।

एकवृत्ति सामान्य—एकवृत्ति वह होता है, जिसमें एक पक्षीय अर्थात् पोषक सामान्य होता है। जैसे "घृतमग्निकरम्" अर्थात् घृत का सेवन करने से अग्नि की वृद्धि होती है। यहां घृत और अग्नि में कुछ भी सामान्य नहीं है। प्रभाववश वह अग्नि की वृद्धि (प्रदीप्त) करता है। वृद्धिकारक होने से सामान्य के उदाहरण के अन्तर्गत उसे लिया गया। घृत में स्थित घृतत्व ही अग्नि की वृद्धि में कारण होता है। अग्नि में घृतत्व का अभाव है। अतः वह एकवृत्ति सामान्य हुआ। इसी भांति (दौड़ना) आदि से वायु की तथा निद्रा से कफ की वृद्धि होना आदि उदाहरण एकवृत्ति सामान्य के ही परिचायक हैं।

इस प्रकार समान और असमान दोनों प्रकार के द्रव्य वृद्धि में कारण होते हैं। इस तथ्य को देखकर महर्षि चरक का लक्षण "सामान्यं वृद्धिकारणम् निरर्थक प्रतीत होता है। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि जहां-जहां द्रव्य, गुण अथवा कर्म की समानता हो वहां-वहां वृद्धि अवश्य होती है। यहां "जहां-जहां सामान्य हो वहां-वहां वृद्धि हो और जहां-जहां वृद्धि हो वहां-वहां सामान्य हो" ऐसी व्याप्ति नहीं बनाई जाती है। पर सामान्य के अभाव में भी वृद्धि होती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जहां सामान्य हो तुल्यार्थता हो अथवा एकत्वकर हो वहीं वृद्धि होती है। अपितु भिन्न द्रव्यत्व, भिन्न गुणत्व एवं भिन्न कर्मत्व होने पर भी प्रभाववश वृद्धि सम्भव है। जैसा कि उपर्युक्त एकवृद्धि सामान्य के अन्तर्गत "घृतमग्निकरम्" के उदाहरण द्वारा स्पष्ट है।

षष्ठ अध्याय

विशेष निरूपण

लक्षण—

"ह्रासहेतुर्विशेषश्च ।" —च० सू०अ० १
"विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।" —च० सू०अ० १
"विशेषस्तु विपर्ययः ।" —च० सू०अ० १
"अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्विशेषः ।"

"सजातीयेभ्यो व्यावर्तनं विशेषः, शिष् असर्वोपयोगे इति धात्वनुसारात्"
—वामनाचार्य

"व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुरनेकः प्रतिद्रव्यसमवेतो विशेषः स ह्रासहेतुः पृथक्त्वकृत् वैसादृश्यं च" ......सप्तपदार्थी

"सामान्यरहितत्वे सति नित्यैकद्रव्यमात्रवृत्तिर्विशेषः ।"
"अजातिरेकवृत्तिश्च विशेष इति शिष्यते ।"

अर्थ—ह्रास का कारण विशेष पृथकत्व करने वाला होता है। सामान्य से ठीक विपरीत (उल्टा) विशेष होता है। एक वस्तु से अन्य समस्त वस्तुओं को अन्ततः पृथक् करने वाला कारण विशेष होता है। सजातीय द्रव्यों से पृथक् करने वाला विशेष होता है और यह शिष् धातु से असर्वोपयोग अर्थ में निष्पन्न हुआ है। व्यावृत्ति प्रत्यय का हेतु प्रति द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से स्थित वह ह्रास का हेतु, पृथकत्व करने वाला तथा वैसादृश्य उत्पन्न करने वाला विशेष होता है। सामान्य के अभाव में (सामान्य से विपरीत) नित्य और एकत्व द्रव्य में रहने वाला विशेष होता है ।

विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विशेष के उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि नित्यद्रव्य में रहने वाले सामान्य से ठीक विपरीत दूसरे द्रव्य को परस्पर व्यावृत्त करने वाला विशेष होता है। संसार के समस्त परमाणु एक-दूसरे से भिन्न हैं। अनेक परमाणु सजातीय होने पर भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता एवं महत्व है। प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र अस्तित्ववान् है। अतः वह दूसरे परमाणु से सर्वथा भिन्न है। परमाणुओं की

इस पृथकता का कारण विशेष है। यदि विशेष नामक स्वतन्त्र पदार्थ न माना जाय तो संसार के समस्त परमाणुओं एवं द्रव्यों में कोई विभेद या पार्थक्य नहीं रह जायगा। प्राणियों के प्रति शरीर में स्थित भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं रह जायगा और सभी आत्मा मिलकर एकरूप हो जायेंगी। अतः वर्तमान में हमें प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा की जो प्रतीति होती है वह विशेष के कारण ही है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का मन एक-दूसरे से पृथक् एवं भिन्न है। मन की भिन्नता के कारण ही हम लोग एक-दूसरे के मन की बात को नहीं जान पाते हैं। इस भिन्नता का कारण भी विशेष ही है। इस प्रकार संसार के समस्त द्रव्यों एवं द्रव्यगत परमाणुओं में पारस्परिक विभेद (पार्थक्य) स्पष्ट करने के लिए षट्पदार्थान्तर्गत स्वतन्त्र रूपेण विशेष नामक पदार्थ को स्वीकार किया गया है।

षड् दर्शनों में कणाद दर्शन का विशिष्ट महत्व है। कणाद दर्शन सामान्यतः वैशेषिक दर्शन के नाम से व्यवहृत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रस्तुत विशेष पदार्थ वैशेषिक (कणाद दर्शन) का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदार्थ है और इसका प्रतिपादन विशेष रूप से किया गया है। अतः कणाद दर्शन में विशेष पदार्थ का वैशिष्ट्य एवं विशिष्ट उपादेयता होने के कारण वह वैशेषिक दर्शन कहलाने लगा।

विशेष पदार्थ की व्याप्ति सामान्यतः नित्य द्रव्यों में जैसे—पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु के परमाणुओं में एवं आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा में है। अतः नित्य द्रव्यों में रहने के कारण विशेष भी नित्य है। विशेष संख्या में अनेक होने के कारण अनन्त है अथवा जिन द्रव्यों में विशेष की व्यापकता (स्थिति) है, उन द्रव्यों की अनन्तता के कारण विशेष भी अनन्त है। विशेष इन्द्रिय गोचर न होने के कारण इन्द्रियातीत अथवा अतीन्द्रिय होते हैं। इनकी व्यापकता अल्प देश में ही होती है। अर्थात् वैधर्म्य तक ही ये सीमित रहते हैं।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है—विशेष ठीक सामान्य से विपरीत होता है। सामान्य की भांति यह भी तीन प्रकार का होता है–द्रव्य विशेष, गुण विशेष और कर्म विशेष। ऊपर विशेष के जो विभिन्न लक्षण बतलाये गए हैं उनमें से "ह्रास हेतुर्विशेषश्च" यह लक्षण द्रव्य विशेष का, "विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्" यह लक्षण गुण विशेष का और "विशेषस्तु विपर्ययः" यह लक्षण कर्म विशेष का स्वीकृत किया गया है। इन लक्षणों के अनुसार विशेष को निम्न उदाहरणों द्वारा समझना चाहिये—

द्रव्य विशेष—वृद्धिगत किसी द्रव्य को अन्य द्रव्यों के प्रयोग द्वारा घटाना या कम करना द्रव्य विशेष कहलाता है। जैसे शरीर में वृद्धिगत मेद को घटाने के लिए उष्ण जल के साथ मधु का सेवन करना, जौ, बाजरा आदि अन्न द्रव्यों का सेवन

करना। इसी प्रकार मांस को कम करने के लिए अस्थि का प्रयोग उपयुक्त होता है। अस्थि प्रयोग के लिए शंख, शुक्ति, कौड़ी की भस्म आदि द्रव्य लिए जा सकते हैं।

गुण विशेष—किसी द्रव्य का प्रयोग करने पर उसके विपरीत गुणों की हानि होना गुण विशेष कहलाता है। शरीर में वायु की वृद्धि होने पर तेल का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि वायु शीत, रुक्ष व लघु गुण प्रधान होता है और तेल उष्ण, स्निग्ध व गुरु होता है। अपने विशेष गुण के कारण निरन्तर अभ्यास करने से तेल वायु के गुणों का शमन करता है और वायु को दूर करता है। इसी प्रकार गुडूची शीत गुण के कारण पित्त के उष्ण गुण का शमन करती है। अतः विपरीत गुणों का ह्रास होने के कारण यह गुण विशेष कहलाता है।

कर्म विशेष—एक कर्म के द्वारा अन्य विपरीत कर्म की हानि होना कर्म विशेष कहलाता है। वायु का कर्म चलन है जब उसकी वृद्धि हो जाती है तो उसके विपरीत रोगी को विश्राम कराया जाता है। अथवा लंघन, जल प्लवन, भ्रमण आदि कर्मों द्वारा स्थिरता कारक कफ के कर्मों का ह्रास या शमन किया जाता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों द्वारा शरीर में वृद्धिगत कर्मों की हानि करना कर्म विशेष होता है।

सप्तम अध्याय

समवाय निरूपण

लक्षण—

समवायोऽपृथग्भावः भूम्यादीनां गुणैर्मतः ।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियता गुणाः ।।

—च० सू० १

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ।।

—कारिकावलि १/१३

"अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः सः समवायः ।" —मुक्तावलि

'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इहेति प्रत्यय हेतु स समवायः ।" —प्रशस्तपाद

'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः ।"

—वैशे० द० ७/२/२४

अर्थ—भूमि आदि आधार द्रव्य के साथ गुर्वादि आधेय गुणों का जो अपृथग्भाव (अलग-अलग न रहने का) सम्बन्ध है उसे समवाय कहते हैं । यह सदा नित्य होता है, जहां भी द्रव्य है वहां नियत रूप से विद्यमान है । —(चरक)

कपाल आदि में घट आदि का, द्रव्यों में गुण और कर्मों का, उन ही द्रव्य, गुण और कर्म में जाति का जो सम्बन्ध है वह समवाय कहलाता है । —(मुक्तावलि)

'इसमें यह है' इस प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) जिसके कारण कार्य-कारण भाव (अवयवावयवी) में होती है वह समवाय है । —(वै० द०)

दो अथवा दो से अधिक तत्वों का पारस्परिक संयोग होने पर उनमें कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होता है । इस सम्बन्ध के कारण ही द्रव्य परस्पर संयुक्त रूप से स्थित रहते हैं । यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—(१) नित्य सम्बन्ध (२) अनित्य सम्बन्ध ।

इसमें प्रथम नित्य सम्बन्ध वह होता है जिसके द्वारा द्रव्य स्थायी रूप में एक दूसरे से संयुक्त रहते हैं। इसमें द्रव्यों का सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता है और संयुक्त द्रव्य कभी एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते। यह स्वतः सिद्ध होता है और किसी बाह्य कर्म द्वारा उसे नियोजित नहीं किया जा सकता है। नित्य सम्बन्ध वाले द्रव्य पहले पृथक्-पृथक् सत्तावान् नहीं होते। अतः किसी भी कर्म द्वारा उन्हें संयुक्त नहीं किया जा सकता और न ही किसी कर्म द्वारा उन्हें पृथक् किया जा सकता है।

द्वितीय अनित्य सम्बन्ध वह होता है जिसमें द्रव्यों का पारस्परिक संयोग अस्थायी होता है और उन्हें कभी भी पृथक् किया जा सकता है। अनित्य सम्बन्ध में संयोजित द्रव्य पहले पृथक्-पृथक् सत्तावान् नहीं होते हैं और संयुक्त होने पर भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान रहती है। उन द्रव्यों को किसी बाह्य कर्म द्वारा संयोजित किया जाता है। यह सम्बन्ध स्वतः सिद्ध नहीं होता।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के सम्बन्धों में प्रथम नित्य सम्बन्ध ही समवाय सम्बन्ध कहलाता है और द्वितीय अनित्य सम्बन्ध साधारण संयोग मात्र होने से संयोग कहलाता है।

समवाय केवल वहीं होता है जहां पदार्थों में अयुतसिद्धिवृत्ति, आधार्याधार भाव एवं कार्य-कारण भाव हो। अयुतसिद्ध पदार्थों में स्वभावतः अपृथग्भाव सम्बन्ध रहता है। अर्थात् वे पदार्थ एक-दूसरे के बिना स्थित नहीं रह सकते और न ही उन्हें एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। जब दो पदार्थों में से एक की स्थिति पर दूसरे की स्थिति तथा एक के विनाश पर दूसरे का विनाश निर्भर हो तो वे पदार्थ अयुतसिद्ध अथवा अयुतसिद्धि वृत्ति होते हैं—जैसे अवयव और अवयवी, गुण और गुणी (द्रव्य) क्रिया और क्रियावान (द्रव्य) जाति और व्यक्ति, नित्य द्रव्य और विशेष इन सब का परस्पर समवाय सम्बन्ध ही होता है। इसमें अवयव अवयवी से, गुण गुणी (द्रव्य) से, क्रिया क्रियावान (द्रव्य) से, जाति व्यक्ति से और नित्य द्रव्य विशेष से कभी पृथक् नहीं हो सकता। अतः इसमें परस्पर समवाय सम्बन्ध है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को निम्न उदाहरण द्वारा भली] भांति समझा जा सकता है। जैसे तन्तु और कपड़े में परस्पर समवाय सम्बन्ध है। क्योंकि कपड़ा शब्द का प्रयोग करने पर कपड़े के निर्माण में तन्तु अपेक्षित हैं। अर्थात् बिना तन्तुओं के कपड़े का निर्माण सम्भव नहीं है और केवल तन्तु पृथक् रहने पर वह कपड़ा नहीं कहलाया जा सकता। इस प्रकार कपड़ा और तन्तु दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। इसे ही अयुतसिद्धि या अयुतभाव कहते हैं।

जिन द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध होता है उनमें अयुतसिद्धि वृत्ति के अतिरिक्त आधार्याधार भाव भी होता है। अर्थात् एक आधार्य (आधेय) एवं दूसरा आधार होता है। तन्तु और पट (कपड़े) में भी यही भाव विद्यमान रहता है। इनमें तन्तु आधार है। और पट (कपड़ा) आधार्य या आधेय है। इसी प्रकार ऊपर जो अनेक दृष्टांत दिये गए हैं उनमें अवयव आधार है और अवयवी आधेय, गुण आधार एवं गुणी आधेय, क्रिया आधार और क्रियावान आधेय, जाति आधार और व्यक्ति आधेय तथा नित्य द्रव्य आधार और विशेष आधेय। इस प्रकार समवाय सम्बन्ध वाले पदार्थ अयुतसिद्ध एवं आधार्याधारभूत होते हैं।

उपर्युक्त समवाय को संयोग नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समवाय नित्य होता है और एक होता है। यह स्वतः सिद्ध होने से किसी प्रक्रिया विशेष द्वारा संयोजित नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत संयोग अनित्य होता है, अनेक होते हैं और क्रिया विशेष द्वारा संयोजित होने के कारण कृत्रिम होता है।

—:o:—

अष्टम अध्याय

अभाव निरूपण

आयुर्वेद में यद्यपि अभाव पदार्थ को स्वीकार नहीं किया गया है और न ही इसकी कोई उपयोगिता ही है। तथापि प्रांरम्भ में द्विविध पदार्थों (भाव पदार्थ और पदार्थों) का परिगणन होने के कारण परिशेष्य न्याय के अनुसार अन्त में अभाव पदार्थ का संक्षिप्त निरूपण कर देना समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से यहां अभाव का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

लक्षण—

"प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वमभावत्वम्।"
"अभावत्वमखण्डोपाधिधर्मविशेष इति केचिन्"
"भावभिन्नत्वमभावत्वमिति परे।"

अर्थ—जिस पदार्थ का ज्ञान उसके प्रतियोगी (विरोध) के ज्ञान के आधीन हो उसे अभाव कहते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि अखण्डोपधि धर्म विशेष का नाम ही अभावत्व है। अन्य विद्वानों के मतानुसार भाव से भिन्नत्व का नाम ही अभावत्व है।

अभाव के उपर्युक्त 'लक्षणों से स्पष्ट है किसी वस्तु का न होना ही अभाव कहलाता है। यह अभाव त्रैकालिक हो सकता है। अर्थात् वर्तमान में वस्तु का न होना या अनुपलब्धि होना, भूतकाल में वस्तु का न होना या अनुपलब्धि होना और भविष्यकाल में वस्तु का न होना या अनुपलब्धि होना। भाव पदार्थ का ज्ञान तो स्वतः होता है। जैसे-घट का ज्ञान घट मे होता है, किन्तु घटाभाव का ज्ञान स्वतः न होकर घट द्वारा होता है अर्थात् घटाभाव का ज्ञान घट के आधीन होता है। जब तक हमें घट का ज्ञान नहीं होता तब तक घटाभाव का ज्ञान भी नहीं हो सकता।

अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हुए आचार्य का कथन है कि द्रव्यादि जिन छः भाव पदार्थों का परिगणन एवं कथन किया गया है वे जिसके विरोधी हों ऐसा अभाव भी सप्तम एक पदार्थ है।

अभाव के भेद—

अभावस्तु द्विधा संगर्गान्योन्याभाव भेदतः ।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते । —(भा० प्र०)

अर्थ—अभाव पदार्थ दो प्रकार होता हैं—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। इसमें संसर्गाभाव पुनः तीन प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव।

कुछ विद्वान अभाव के पुनः दो भेद मानते है—प्रत्यक्षाभाव और अतीन्द्रियाभाव। जो वस्तु किसी भी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष की जा सकती है उसकी अनुपलब्धि होना प्रत्यक्ष अभाव कहलाता है। इन्द्रिय द्वारा जो वस्तु ग्राह्य न हो, वह विद्यमान न होना अतीन्द्रियाभाव कहलाता है।

प्रागभाव—

"उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्याविद्यमानोऽभावः प्रागभाव, अनादिसान्तः।"
"प्रागभावो विनाशी अजन्य उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य योऽभावः सः प्रागभावः।"

किसी भी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसका जो अभाव होता है, उसको प्रागभाव कहते हैं। यह अनादि है, किन्तु कार्य उत्पन्न होने के बाद इसका विनाश हो जाता है, अतः सान्त होता है। अजन्य होने से यह अनादि और विनाश होने से सान्त होता है। कार्य की उत्पत्ति से पूर्व स्वप्रतियोगी समवायिकारण में यह रहता है। अर्थात् यह कार्य की उत्पत्ति के पहले कार्य के समवायि कारण में रहता है और उसके द्वारा इस कपाल में घट होगा—ऐसा ज्ञान होता है।

प्रध्वंसाभाव—

"कार्यस्य विनाशानन्तरमुत्पद्यमानो योऽभावः प्रध्वंसाभावः सादिरनन्तः। प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः ध्वस्त इति प्रतीतिहेतुः।"

"ध्वंसो जन्यः अविनाशी च उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य योऽभावः स ध्वंसः।"

कार्य के विनाश के पश्चात् जो उत्पन्न होता है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यह अभाव उत्पन्न होता है किन्तु इसका कभी विनाश नहीं होता। अतः यह उत्पद्यमान होने के कारण सादि और अविनाशी होने के कारण अनन्त होता है। यह अपने प्रतियोगी (विरोधी) से उत्पन्न होकर उसके समवायिकारण में रहता है। इस अभाव के द्वारा "घट का ध्वंस हुआ" ऐसा ज्ञान होता है। यह जन्य और अविनाशी होता है।

अत्यन्ताभाव—

"त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः।"

"त्रैकालिकसंसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः स चानादिरनन्तो नास्तीत्यनुभवसिद्धो नित्यः।"

जिस अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग से अविच्छिन्न हो और भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों में रहती हो उसको अत्यन्ताभाव कहते है। जैसे "पृथ्वी पर घट नहीं है" इस प्रकार का अभाव अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। यह अजन्य और अविनाशी होता है।

तीनों काल—भूत, भविष्य और वर्तमान में पदार्थ के संगर्ग के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। "नहीं है" एसा अनुभव सिद्ध और नित्य है। जैसे वायु में रूप का संसर्ग नहीं है, न कभी था और न कभी होगा। इस अत्यन्तभाव से पदार्थ का अभाव प्रतिपादित नहीं होता, किन्तु उसके संसर्ग का अभाव प्रतिपादित होता है। जैसे वायु और रूप दोनों पदार्थ विद्यमान है, किन्तु इन दोनों का संसर्ग नहीं है। अतः इसे संसर्गाभाव कहा जा सकता है। यह प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का अप्रतियोगी अन्योन्याभाव से भिन्न होते हुए अभाववान् होता है। इसमें प्रागभाव और प्रध्वसाभाव के निवारणार्थ त्रैकालिक तथा अन्योन्याभाव के निवारणार्थ "संसर्ग" विशेषण पद लगाया है।

अन्योन्याभाव—

"तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽभावोऽन्योन्याभावः।"

जिस अभाव की प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अविच्छिन्न हो, उसको अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे घट पट नहीं है। यहां पर घटात्मा पट नहीं है, अर्थात् इन दोनों में तादात्म्य–ऐक्य नहीं है। इस प्रकार के पारस्परिक अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। यहां पर प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव के निवारणार्थ 'तादात्म्य' शब्द लगाया गया। तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा अत्यन्ताभाव का निवारण भी हो जाता है। यह भी अत्यन्ताभाव की भाँति अजन्य एवं अविनाशी होता है।

—:o:—

नवम अध्याय

प्रमाण निरूपण

पूर्व प्रकरण में षट् पदार्थों का निरूपण किया गया। उन पदार्थों को सम्यक्-तया जाने बिना हमारे जीवन के लिये उनकी कोई उपयोगिता नहीं है। अतः सर्वप्रथम पदार्थों का यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है। पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसे साधन अपेक्षित हैं जो पूर्णतः निर्दुष्ट, अकाट्य एवं अबाधित हों। क्योंकि निर्दुष्ट, अकाट्य एवं अबाधित साधन ही वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराने में सक्षम होते हैं। पदार्थ एवं पदार्थ स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए आचार्यों ने प्रमाण को सर्वाधिक उपयुक्त एक मात्र साधन माना है। अतः प्रस्तुत प्रकरण में अब प्रमाण विज्ञान का निरूपण किया जायेगा।

प्रमाण का लक्षण

"प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानःप्रमाणशब्दः"

—श्रीगंगाधर

"प्रमायाःकरणं प्रमाणम्"

"यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्" —उदयनाचार्य

"प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्" —वात्सायन

"अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्।" —न्यायवार्तिक

"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।" —न्याय दीपिका

अर्थ—जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा जाना जाता है वह करण अर्थ को व्यक्त करनेवाला प्रमाण शब्द है। (गंगाधर) प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहते हैं, उस प्रमा का साधन प्रमाण कहलाता है (उदयाचार्य)। जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है वह प्रमाण कहलाता है। (वात्सायन) अर्थ की उपलब्धि का हेतु प्रमाण कहलाता है। (न्यायवार्तिक) सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। (न्याय दीपिका)

प्रमाण सम्बन्धी उपर्युक्त लक्षणों से प्रमाण का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट होता हैं। प्रमाण को ज्ञान का साधन निरूपित किया गया है। अतः वस्तु स्वरूप अथवा

पदार्थों के स्वरूप के ज्ञान का साधन भी प्रमाण ही है। प्रमाण के द्वारा ही हम पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। प्रमाण के लिए सामान्यत: निम्न पर्याय उपलब्ध होते हैं—"उपलब्धि साधनं ज्ञानं परीक्षा प्रमाणमित्यर्थान्तरं समाख्यानि वचन-सामर्थ्यात्।" इन पर्यायवाची शब्दों में परीक्षा शब्द महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। परीक्षा शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'**परीक्ष्यते यया बुद्ध्या सा परीक्षा**' (गंगाधर) अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा परीक्षा की जाती है वह परीक्षा कहलाती है। परीक्षा शब्द की व्याख्या और अधिक स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार की गई है—**परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा**"—चक्रपाणिदत्त। अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुस्वरूप व्यवस्थित रूप से निरूपित किया जाता है वह परीक्षा कहलाती है। इस प्रकार प्रमाण और परीक्षा दोनों शब्द एक ही अभिप्राय के द्योतक हैं।

प्रमा-प्रमेय-प्रमाता और प्रमाण

वस्तु स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये सामान्यत: प्रमा, प्रमेय, प्रमाता और प्रमाण इन चार अवयवों की अपेक्षा रहती है। ये चारों अवयव सम्मिलित रूप में वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन में समर्थ होते हैं। इनमें से किसी एक का भी अभाव वस्तु स्वरूप प्रतिपादन में बाधक हो सकता है। अत: प्रत्येक की संक्षिप्त जानकारी एवं परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक है।

प्रमा—सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में ज्ञान शब्द का प्रयोग प्रचुर रूप से हुआ है। ज्ञान शब्द में जितना व्यापक अर्थ निहित है, उतना सम्भवत: उसके किसी पर्यायवाची शब्द में नहीं है। ज्ञान शब्द अपने आप में परिपूर्ण होने के कारण उसके क्षेत्र की कोई सीमा निर्धारण नहीं की जा सकती। ज्ञान व्यवहारिक भी होता है और अव्यावहारिक भी। ज्ञान सत्य भी होता है और भ्रमपूर्ण या मिथ्या भी। ज्ञान यथार्थ भी होता है और अयथार्थ भी। किन्तु प्रमा केवल यथार्थ ज्ञान (सत्य ज्ञान) की ही ज्ञापक है। यह अयथार्थ ज्ञान से सर्वथा भिन्न एवं विपरीत होती है। अत: प्रमा शब्द का अभिप्रेतार्थ यथार्थ ज्ञान, यथार्थ अनुभव अथवा सम्यक् ज्ञान ही ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि आचार्यों ने लिखा है—"**यथार्थानुभव: प्रमा**"—उदयनाचार्य। अर्थात् यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहते हैं। इसी भांति—"तद्वति तत्प्रकारकानुभव: प्रमा" अर्थात् जो वस्तु जैसी हो उसमें उसी प्रकार का ज्ञान होना प्रमा कहलाता है। जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम न होकर रस्सी का ही ज्ञान होना एवं सीप में चांदी का भ्रम न होकर सीप का ही ज्ञान होना यथार्थ अनुभव (ज्ञान) कहलाता है। यही प्रमा कहलाती है। रस्सी में सर्प का भ्रम एवं सीप में चांदी का भ्रम अयथार्थ अनुभव होने से अप्रमा कहलाती है।

प्रमेय—प्रमा के विषय को प्रमेय कहते हैं। प्रमा के योग्य अर्थात् जानने योग्य जो होता है वही प्रमेय कहलाता है। यही प्रमेय का साधारण अर्थ होता है। जिस वस्तु के विषय में हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, अथवा जो वस्तु हमारे जानने योग्य होती है, वह प्रमेय कहलाती है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ अनुभव अथवा किसी वस्तु का सम्यक् ज्ञान जब भी होगा वह किसी न किसी विषय का ही होगा। ज्ञान का व्यापार जिस विषय पर फलित होता है अर्थात् जिस विषय का यथार्थ अनुभव या सम्यक् ज्ञान होता है। यथार्थ अनुभव के उस विषय की संज्ञा प्रमेय होती है। इस दृष्टि से प्रमेय के अन्तर्गत पूर्वोक्त आयुर्वेदीय समस्त पदार्थों का समावेश हो जाता है क्योंकि समस्त पदार्थ जानने योग्य अथवा ज्ञान के विषय हैं।

प्रमाता—उपर्युक्त प्रमेय (षट् पदार्थ) की प्रमा को ग्रहण करने वाला कोई अधिकारी अवश्य होगा। बिना अधिकारी के प्रमा का कोई प्रयोजन अथवा लाभ नहीं होता। अतः प्रमा का अधिकारी अथवा जो ज्ञान-प्राप्त करने वाला होता है वही 'प्रमाता' कहलाता है। द्रव्य विज्ञानीय प्रकरण के अन्तर्गत आत्मा निरूपण में यह स्पष्ट किया जा चुका है। "ज्ञानाधिकरणं ह्यात्मा" ज्ञान का अधिकरण आत्मा होता है। अर्थात् ज्ञान अथवा जानने की क्रिया केवल चेतन (आत्मा) में ही हो सकती है। चेतना (आत्मा) युक्त प्राणी (मनुष्य) ही ज्ञान का अधिकारी होने से ज्ञाता कहलाता है। ज्ञाता के बिना ज्ञान नहीं होता। अतः ज्ञाता ही ज्ञान अथवा प्रमा का आधार होने के कारण प्रमाता कहलाता है।

प्रमाण—ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि सामान्यतः ज्ञान का साधन ही प्रमाण कहलाता है। जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है और जिसके अभाव में ज्ञानोपलब्धि सम्भव नहीं है वह प्रमाण कहलाता है। प्रमा, प्रमेय और प्रमाता इन तीनों की सार्थकता एवं उपयोगिता तब ही होती है जबकि 'प्रमाण' विद्यमान हो। क्योंकि 'प्रमाण' वह साधन है जिसके द्वारा प्रमाता विषय (प्रमेय) का यथार्थ ज्ञान (प्रमा) का लाभ करता है। जानने वाला (प्रमाता) एवं प्रमेय पदार्थों के उपस्थित रहने पर भी प्रमा (ज्ञान) का लाभ तब तक नहीं हो सकता जब तक प्रमा का लाभ कराने वाला कोई साधन न हो। क्योंकि प्रमाता में प्रमा का लाभ (ज्ञानोत्पत्ति) तब ही होता है जब उसका कोई साधन होता है। अतः प्रमा का वह साधन जिसके अभाव में प्रमाता एवं प्रमेय के विद्यमान होने पर भी प्रमा का लाभ (ज्ञान की प्राप्ति) न हो 'प्रमाण' कहलाता है। इसलिए प्रमा के करण (साधकतम कारण) को प्रमाण कहा गया है।

कार्यमात्र के अनेक कारण होते हैं। कुछ साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण कारण। इसमें जो असाधारण कारण होता है उसे 'करण' कहते हैं।

असाधारण कारण को साधकतम कारण भी कहते हैं। इस प्रकार असाधारण कारण या साधकतम कारण दोनों ही 'करण' कहलाते हैं और प्रमा का यह करण ही प्रमाण कहलाता है।

प्रमाण का महत्त्व—आयुर्वेद में प्रमाण की अत्यन्त उपयोगिता एवं महत्व है। क्योंकि आयुर्वेदीय पदार्थों का ज्ञान एवं वस्तु स्वरूप का विनिश्चय मात्र-प्रमाणाधीन ही है। प्रमाण केवल पदार्थों के स्वरूप का ही विनिश्चय नहीं कराते अपितु रोगों का ज्ञान प्राप्त करने एवं औषधियों का निर्णय करने में भी सहायक होते हैं। आयुर्वेद में प्रमाण के लिए परीक्षा शब्द का भी व्यवहार किया गया है। जैसा कि महर्षि चरक के निम्न वचन से स्पष्ट है—

"द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा"

यहां पर संसार के समस्त पदार्थों को सत् (भावरूप) एवं असत् (अभावरूप) में निरूपित करते हुए उनके ज्ञान प्राप्ति के साधन चार प्रकार के बतलाये गए हैं।

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में दर्शन शास्त्र का अपना विशिष्ट महत्व है। दर्शनशास्त्र भारतीय संस्कृति के प्राण माने जाते हैं। इन दर्शनशास्त्रों में मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रमाण ही रहा है। क्योंकि संसार के विभिन्न सृष्टि, प्रलय, आत्मा, प्रकृति, स्वर्ग, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि विषयों एवं तत्वों के ज्ञान की कसौटी प्रमाण को ही माना गया है। इन विषयों की सिद्धि प्रमाण के बिना सम्भव नहीं। अतः दर्शनशास्त्रों में सर्वप्रथम प्रमाण का ही विवेचन एवं प्रतिपादन मुख्य रूप मे किया गया है। प्रमाण यथार्थ ज्ञान का साधन होने के कारण उसके द्वारा संसार के विभिन्न तत्वों की वास्तविक समीक्षा में अभूतपूर्व सफलता मिली है। प्रमाण के द्वारा यथार्थ का प्रतिपादन एवं अयथार्थ का निराकरण होने के कारण वह एक ऐसा निष्पक्ष मानदण्ड स्वीकार किया गया है जिसकी समानान्तर श्रेणी का कोई दूसरा साधन नहीं है। प्रमाण ज्ञान की कसौटी है जो पदार्थ के यथार्थ ज्ञान एवं स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। बिना प्रमाण के कोई पदार्थ मान्य नहीं होता। इसीलिए दर्शन शास्त्रों में विशेषतः न्याय शास्त्र में प्रमाण का महत्व सर्वोपरि है। यही कारण है कि न्याय शास्त्र को प्रमाण शास्त्र कहा जाता है। न्याय शास्त्रों में प्रमाणों की महत्ता सर्वोपरि होने से स्वतः उनकी उपयोगिता बढ़ गई है।

प्रमाण का फल—प्रमेय की सिद्धि (पदार्थों का यथार्थ ज्ञान) प्रमाण के द्वारा होती है। अतः प्रमेय की सिद्धि होना ही प्रमाण का फल है। प्रमाण का मुख्य प्रयोजन है—यथार्थ अनुभव या सत्यानुरूपा प्रमा की उपलब्धि कराना। हमें जिस विषय

का यथार्थ ज्ञान होता है, वह ज्ञान अशेष, निःशंक एवं अवाधित होने के कारण प्रामाणिक होता है। प्रामाणिक ज्ञान सदैव उपादेय होता है। यही प्रमाण का फल है।

नैयायिकों के अनुसार प्रमाण फल आत्म संवित्ति है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा जब किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उस ज्ञान के अनन्तर अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। जो निश्चयात्मक होने के कारण वस्तु स्वरूप का विनिश्चय करने वाला होता है। इस ज्ञान सम्बन्ध से आत्मा में संवित्ति उत्पन्न होती है। तदनन्तर वह ज्ञान प्रामाणिक एवं यथार्थ माना जाता है। इसे निम्न उदाहरण द्वारा भली भांति समझा जा सकता है। जैसे, चक्षु इन्द्रिय द्वारा घट का प्रत्यक्ष होने पर आत्मा को यह यथार्थ अनुभव होता है कि "घटमहं जानामि" यहां चक्षु इन्द्रिय द्वारा घट प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यक्षानन्तर "घटमहं जानामि" इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् इस ज्ञान सम्बन्ध से उत्पन्न हुई आत्म संवित्ति के कारण ज्ञान की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यही प्रमाण का फल है।

दार्शनिक विद्वानों के मतानुसार सृष्टि के दृष्ट एवं अदृष्ट सभी प्रकार के पदार्थों का ज्ञान प्रमाणों द्वारा ही होता है। प्रमाणों द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान सर्वथा यथार्थ होता है। किन्तु अनेक बार साधनों के कारण प्रमाण के अभाव में अयथार्थ ज्ञान भी होता है जो वस्तु स्वरूप के विनिश्चय में बाधक होता है। अतः ऐसी स्थिति में प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विनिश्चय करना चाहिए। यही प्रमाणों का फल है।

प्रमाणों की संख्या—पदार्थों के ज्ञान के साधनभूत प्रमाणों की संख्या के विषय में विभिन्न दर्शनों एवं दार्शनिक विद्वानों में मतैक्य नहीं है। अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार जिस दर्शन अथवा दार्शनिक विद्वान को जितने प्रमाणों की आवश्यकता प्रतीत हुई, उन्होंने उतने ही प्रमाणों को स्वीकार किया। अतः विभिन्न दार्शनिक विद्वानों ने स्वशास्त्र सिद्धान्तानुसार प्रमाणों की संख्या एक से दस तक स्वीकार की है। प्रमाणों की संख्या के विषय में विभिन्न दार्शनिक विद्वानों एवं दर्शनों के मत निम्न प्रकार हैं—

१. चार्वाक दर्शन ने केवल एक ही प्रमाण स्वीकार किया है। चार्वाक दर्शन के मतानुसार वस्तु स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का साधन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण में उसकी आस्था नहीं है।

२. जैन, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन पदार्थों एवं तत्वों के सम्यक् ज्ञान के लिए केवल दो प्रमाणों को ही स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों के द्वारा संसार के समस्त प्रमेयों की सिद्धि हो जाती है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है।

३. सांख्य, योग दर्शन एवं रामानुजाचार्य उपर्युक्त दो प्रमाणों के अतिरिक्त तीसरा प्रमाण 'शब्द' भी मानते हैं। इस प्रकार वे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीन प्रमाणों को स्वीकार कर इन्हें ही प्रमेय सिद्धि का साधन स्वीकार करते हैं। नैयायिकों का एक वर्ग जो जरन्नैयायिक के नाम से जाना जाता है वह भी इन्हीं तीनों प्रमाणों का समर्थन करता है।

४. नैयायिकों के शेष दोनों वर्ग अर्थात् अर्वाचीन और प्राचीन नैयायिक प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द के अतिरिक्त चतुर्थ प्रमाण उपमान को स्वीकार कर प्रमाणों की संख्या चार मानते हैं। न्याय दर्शन में स्वीकृत इन चार प्रमाणों का समर्थन माहेश्वर सम्प्रदाय वालों ने भी किया है।

५. मीमांसकों का एक वर्ग जो प्रभाकर मतानुयायी अथवा प्रभाकर मीमांसक समझे जाते हैं उपर्युक्त चार प्रमाणों के अतिरिक्त पांचवां प्रमाण 'अर्थापत्ति' अथवा 'अर्थ प्राप्ति' नामक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार ये विद्वान कुल पांच प्रमाण स्वीकार करते हैं।

६. मीमांसकों का दूसरा वर्ग जो कुमारिल भट्ट के मत का अनुसरण करता हैं या भट्ट मीमांसक के नाम से जाना जाता है उपर्युक्त पांचों प्रमाणों के साथ-साथ छठा प्रमाण "अनुपलब्धि" या "अभाव" को भी स्वीकार करता है। वेदान्ती लोग भी इन्हीं छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।

७. पौराणिक लोग उपर्युक्त छः प्रमाणों का समर्थन करते हुए 'सम्भव' तथा 'एतिह्य' नामक दो प्रमाणों को और जोड़कर कुल आठ प्रमाणों द्वारा वस्तु स्वरूप का विवेचन करते हैं।

८. तान्त्रिक लोग उपर्युक्त आठ प्रमाणों को स्वीकार करते हुए नौवां प्रमाण 'चेष्टा' नामक मानते हैं और इनके द्वारा अपने मत का प्रतिपादन करते हैं।

९. कुछ अन्य विद्वान एवं दार्शनिक उपर्युक्त नौ प्रमाणों के अतिरिक्त दसवां 'परिशेष' नामक प्रमाण भी मानते हैं। उनके मत में प्रमाणों की संख्या दस होती है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनों एवं विद्वानों ने अपने मत और सिद्धान्त के अनुसार प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या एक से दस तक स्वीकार की हैं। जो दर्शन कम से कम प्रमाणों को मानकर उनके द्वारा वस्तु-स्वरूप या पदार्थों का विनिश्चय करते हैं वे दर्शन अन्य दर्शनों या विद्वानों द्वारा स्वीकृत अधिक अन्य प्रमाणों का स्वमत सम्मत प्रमाणों में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं। जैसे सांख्य, योग और आयुर्वेद दर्शन के विद्वान अर्थापत्ति तथा सम्भव नामक प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान में, अभाव का समावेश प्रत्यक्ष और अनुमान में तथा एतिह्य नामक प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण और आप्तोपदेश नामक प्रमाण में कर लेते हैं। इसी प्रकार जैन, बौद्ध एवं

वैशेषिक दर्शन तीन से दस तक सभी प्रमाणों को प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत मान लेते हैं।

आयुर्वेद सम्मत प्रमाण—आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का अपना महत्व एवं उद्देश्य है। यहां संक्षेप में उन साधनों या प्रमाणों की संख्या का उल्लेख किया जायगा जिनके द्वारा वे सिद्धान्त जाने जाते हैं। आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन होने के कारण आयुर्वेद द्वारा सम्मत स्वतन्त्र प्रमाणों की संख्या भी है क्योंकि उन प्रमाणों के द्वारा ही शरीर के विभिन्न अवयवों और उन पर क्रिया करने वाले आहार औषध द्रव्य आदि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हीं प्रमाणों के द्वारा शरीर को विकारग्रस्त करने वाले कारणों, रुग्णावस्था में व्यक्त होने वाले विभिन्न लक्षणों और शरीर में उत्पन्न हुए रोगों का शमन करने वाली चिकित्सा का भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

आयुर्वेदीय ग्रंथों में सामान्यतः त्रिविध प्रमाणों पर ही विशेष जोर दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लिये आयुर्वेद के आचार्यों ने विशेषत: आत्रेय सम्प्रदाय के अनुयायियों ने त्रिविधि प्रमाणों के प्रतिपादन में सांख्य, योग एवं रामानुज के मत का ही अनुसरण किया है। यथा—**त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। तद्यथाआप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानंचेति—(च. वि. अ. ३)**—अर्थात् रोग-विशेष को जानने के तीन उपाय होते हैं। जैसे—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान।

इस अतिरिक्त कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार केवल दो प्रमाण ही स्वीकृत किये गये हैं। किन्तु बाद में वहां भी तीन प्रमाण स्वीकृत कर अपने मत का प्रतिपादन किया गया है। यथा—

> **द्विविध खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति सहाप्तोपदेशेन त्रिविधमपि।**

अर्थात् रोग विशेष के ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष और अनुमान होते हैं। आप्तोपदेश के साथ तीन साधन भी होते हैं। इसी प्रकार—

द्विविधा खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षास्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा त्रिविधा वा सहोपदेशेन। —च. वि. ८/८३

अर्थात् ज्ञानी विद्वानों के लिए परीक्षा दो प्रकार की होती है—१. प्रत्यक्ष और २. अनुमान।

उपर्युक्त दो परीक्षा और आप्तोदेश ये तीन परीक्षाएँ भी होती हैं। इस प्रकार द्विविध परीक्षा अथवा आप्तोपदेश सहित त्रिविध परीक्षा होती है।

आयुर्वेद में अन्यत्र महर्षि चरक ने आवश्यकतानुसार चतुर्विध परीक्षा का अनुमोदन करते हुए चार प्रमाणों को भी स्वीकृत किया है। यथा—

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षम् अनुमानं युक्तिश्चेति।

—च० सू० ११/१७

अर्थात् इस पांच भौतिक जगत में सभी वस्तुएँ दो भागों में विभक्त हैं—१. सत और २. असत्। इन दोनों की परीक्षा चार प्रकार से होती है–१. आप्तादेश १. प्रत्यक्ष, ३. अनुमान और ४. युक्ति।

यहां पर यद्यपि चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं। किन्तु आगे चल कर मुख्य रूप से तीन प्रमाणों को ही स्वीकृत किया गया है। वहां पर चौथे युक्ति प्रमाण को स्वतन्त्र रूप से न मानकर युक्ति प्रमाण को अनुमान का अनुग्राहक होने से पृथक् स्वीकार न कर **"अनुमानं खलु तर्को युक्तायपेक्षः"** अनुमान का यह लक्षण बतलाकर युक्ति को अनुमान के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव कर लिया है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में महर्षि चरक ने एक स्थान पर स्वतन्त्र रूपेण उपमान प्रमाण का लक्षण निर्देश पूर्वक पांचवें प्रमाण के रूप उसके अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। किन्तु उसे भी अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत समाविष्ट कर प्रमाणों की संख्या को केवल तीन तक ही सीमित रखा। इस प्रकार चरक में मुख्य रूप से तीन प्रमाण ही स्वीकृत किये गए हैं। आयुर्वेदीय दृष्टि से यही मत सर्वाधिक ग्राह्य है।

महर्षि सुश्रुत ने प्रमाणों के विषय में यद्यपि अपना कोई स्वतन्त्र मत व्यक्त नहीं किया है। किन्तु एक स्थान पर भगवान धन्वतरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को उपदेश देते हुए चतुर्विध प्रमाण का निर्देश नाम मात्र किया है। यथा "तस्यांगवरमाद्य प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरूध्यमानमुपधारय"—सु. सू. १/१६ अर्थात् उस आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ और आद्य अंग (शल्यतन्त्र) का मैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणों से विरोध न करते हुए जो उपदेश कर रहा हूं उसे तुम लोग धारण करो। यहां सुश्रुत ने जिन चार प्रमाणों का कथन किया है वह सम्भवतः महर्षि गौतम के मत का अनुसरण करते हुए किया है। क्योंकि न्याय सूत्र में "प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि" इन चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है, किन्तु आयुर्वेद में उपमान प्रमाण का पृथक् निर्देश करते हुए भी उसे अनुमान के अन्तर्गत ही माना गया है। अतः मूल रूप से प्रमाणों की संख्या केवल तीन है। इस प्रकार तीन प्रमाणों को स्वीकार कर आयुर्वेद ने स्पष्टतः सांख्य एवं योग दर्शन के मत का अनुसरण एवं समर्थन करते हुए स्वमत का प्रतिपादन किया है। अन्य समस्त प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन प्रमाणों में करते हुए आयुर्वेद ने उसकी पृथक् उपादेयता को स्वीकार नहीं किया।

———

दशम अध्याय

प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण

प्रत्यक्ष ज्ञान का जो कारण या साधन होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष शब्द का निर्माण प्रति+अक्ष इन दोनों शब्दों के योग से हुआ है। उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार "प्रति अक्ष्णोः" अर्थात् जो आंखों के समक्ष हो अथवा अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्" अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् इन इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। उपर्युक्त इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान निश्चयात्मक, निर्विवाद एवं निरपेक्ष होता है। अतः निश्चयात्मक अथवा निर्विवाद ज्ञान जिसका चक्षु आदि के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है। उसमें इन्द्रिय ही व्यापारवद् असाधारण कारण होती है। अतः इन्दिय ही प्रत्यक्ष ज्ञान का साधकतम या प्रधान कारण (करण) होती है। इन्द्रिय और मन का पारस्परिक संयोग होने से ही इन्द्रियों का व्यापार होता है। इसी भांति मानस प्रत्यक्ष के लिये आत्मा और मन का संयोग अपेक्षित है। यही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

लक्षण—

"प्रत्यक्षं तु खलु तद् यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते।"

—च० वि० ४/४

"अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते, तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः।"

—च० वि० ८/३९

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धि प्रत्यक्षं सा निगद्यते॥

—च० सू० ११/२०

ज्ञानं यदिन्द्रियार्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
प्रत्यक्षं षड्विधं तत्तु श्रोत्रजादिप्रभेदतः॥

अर्थ—इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। (चरक)

प्रत्यक्ष वह कहलाता है जो आत्मा और इन्द्रियों के द्वारा स्वयं उपलब्ध होता है। इसमें आत्मा-प्रत्यक्ष सुख, दुख, इच्छा, द्वेष आदि भाव तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भाव होते हैं।

इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषयों) के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह ज्ञान तात्कालिक, निश्चित, यथार्थ और संशय रहित होना चाहिए।

आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के विषय इनका सम्बन्ध जब (एक विशेष क्रम से) होता है और उस काल में जो निश्चयात्मिका बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है। वह 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहलाता है। अर्थात् आत्मादि चतुष्टय के सन्निकर्ष से तत्काल जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। (चरक)

यहां पर आत्मा, मन, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ इनका सन्निकर्ष आवश्यक है। जब तक इनका सन्निकर्ष नहीं होगा तब तक प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि नहीं होगी। इन चारों द्रव्यों का संयोग एक क्रम विशेष के द्वारा होता है। अर्थात् सर्व प्रथम आत्मा का संयोग मन के साथ होता है। आत्मा संयुक्त मन का संयोग इन्द्रिय के साथ और आत्म संयुक्त समनस्क इन्द्रिय का संयोग इन्द्रियार्थ (अपने विषय) के साथ होता है। तदनन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। उपर्युक्त आत्मादि चतुष्टय संयोग क्रम इतनी तीव्र गति से होता है कि सामान्यतः हमें उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। वैसे तो इन्द्रियों के साथ अपने विषय का संयोग सदैव बना रहता है। किन्तु जब तक उस इन्द्रिय के साथ सचेतन मन का संयोग नहीं होता तब तक इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होतीं। इसी तथ्य का प्रतिपादन महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से किया है—**"मनः पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।"—च. सू.** ८/७ अर्थात् मन से संयुक्त इन्द्रियां ही अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय, और विषयों का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय और मन रूप साधन के द्वारा विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है। क्योंकि पदार्थों के ज्ञान का अधिकारी केवल आत्मा ही है। मन और इन्द्रिय नहीं; ये दोनों साधन मात्र हैं। मन तो केवल इन्द्रियों को अपना विषय ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है और इन्द्रियां केवल विषयों का ग्रहण मात्र करती हैं। उन विषयों का यथार्थ ज्ञान केवल आत्मा को ही होता है। इसलिए ज्ञान का अधिकारी केवल आत्मा को ही माना गया है। यथा—
"ज्ञानाधिकरणं ह्यात्मा।"

इन्द्रियों की अविमलता अथवा व्यवधान आदि अनेक कारणों से कई बार भ्रमात्मक या संशयात्मक मिथ्या ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। जैसे-रस्सी में सर्प का ज्ञान (भ्रमात्मक ज्ञान); रेगिस्तान में मृग मरीचिका, समुद्र तट पर पड़ी हुई सीप में रजत ज्ञान (विपरीत ज्ञान); सायंकालीन अन्धकार के कारण नातिदूरस्थ स्थाणु में पुरुष का ज्ञान (संशयात्मक ज्ञान) इत्यादि। इस प्रकार के समस्त मिथ्या ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना गया है। अतः उन मिथ्या ज्ञान का निवारण करने के लिए महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष का निम्न विशेषण विशिष्ट लक्षण बतलाता है—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।"
न्या. द. १-१-४

अर्थात् इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी (व्यभिचार रहित-निर्दोष) और व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है।

शरीर में इन्द्रियां पांच होती है। अतः उनके द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष भी पांच ही प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त एक मन के द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष भी होता है। इस प्रकार छः प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। तथापि कार्य और इन्द्रियों के विषय की दृष्टि से संसार में जितने भी विषय हैं उतने ही प्रकार का प्रत्यक्ष माना जा सकता है। इस तरह प्रत्यक्ष के अनेक भेद हो सकते हैं। किन्तु दार्शनिकों ने मौलिक रूप से दो प्रकार का ही प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। यथा—१. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और २. सविकल्पक प्रत्यक्ष।

१. **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष**—जो ज्ञान नाम, जाति, गुण और क्रिया से शून्य प्रत्यक्ष होता है वह निर्विकल्पक कहलाता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तु का सम विभागात्मक ज्ञान नहीं होता। केवल "यह कुछ है" इस प्रकार का ज्ञान होता है। किस आकार-प्रकार वाली, किस स्वरूप वाली, कौनसी वस्तु है? इसका कुछ ज्ञान नहीं होता। इसको निष्प्रकारक ज्ञान भी कहा गया है। यथा—**"तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्"** अर्थात् प्रकारता से रहित ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। इसमें विशेष्य विशेषण और उसके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। अतः इसमें एक चौथी ही विषमता रहती है। इसको न प्रमा ही कहा जा सका है। और न अप्रमा ही।

श्रीधर स्वामी की कन्दली में प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा माना गाया है। न्यायसिद्धांत मुक्तावलि में भी 'भ्रमभिन्नज्ञानं प्रमा' कह कर इसे प्रमा स्वीकार किया गया है। किन्तु श्रीगंगेशोपाध्याय के मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान भ्रम और प्रमा दोनों से ही भिन्न और विलक्षण है। यथा—'न प्रमा नापि भ्रमं ज्ञानं स्यान्निर्विकल्पकम्। प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्' अर्थात् निर्विकल्पक

ज्ञान न प्रमा है और न भ्रम (अपमा) है। यह प्रकारता आदि से शून्य सम्बन्ध रहित होता है। प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों प्रकारतादि घटित ज्ञान में रहते हैं।

२. **सविकल्पक प्रत्यक्ष**—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् समविभाग एवं विशेषता युक्त जो ज्ञान होता है। वह सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। इसमें वस्तु के स्वरूप, आकार, प्रकार, नाम, जाति, गुण, क्रिया, आदि का सम्पूर्ण ज्ञान होता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए नासा, जिह्वा, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु और मन ये छः इन्द्रियां करण मानी जाती हैं। इन छहों इन्द्रियों का घट, पट, टेवल-कुर्सी आदि विषयों के साथ सन्निकर्ष (संयोग) होने पर प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है। यह सन्निकर्ष अथवा सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—१. लौकिक प्रत्यक्ष अथवा सन्निकर्ष और २. अलौकिक प्रत्यक्ष या अलौकिक सन्निकर्ष। इनमें लौकिक प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का होता है—१. वाह्य लौकिक प्रत्यक्ष और आभ्यन्तर लौकिक प्रत्यक्ष। इनमें प्रथम वाह्य लौकिक प्रत्यक्ष पुनः पांच प्रकार का होता है—१. चाक्षुष प्रत्यक्ष २. श्रौत प्रत्यक्ष ३. घ्राणज प्रत्यक्ष ४. रासन प्रत्यक्ष और ५. त्वाच प्रत्यक्ष। द्वितीय आभ्यन्तर लौकिक प्रत्यक्ष केवल एक प्रकार का होता है, वह मानस लौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार का होता है। इस प्रत्यक्ष का सम्बन्ध छः इन्द्रियों से है। अतः इस लौकिक प्रत्यक्ष के साधक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष भी छः ही हैं। वे सन्निकर्ष निम्नलिखित हैं—

१. संयोग सन्निकर्ष २. संयुक्त समवाय सन्निकर्ष ३. संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष ४. समवाय सन्निकर्ष ५. समवेत समवाय सन्निकर्ष और ६. विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष।

उपर्युक्त छः सन्निकर्षों का वर्णन निम्न प्रकार है—

१. **संयोग सन्निकर्ष—"चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगसन्निकर्षः"**—अर्थात् चक्षु के द्वारा घट के प्रत्यक्ष ज्ञान में संयोग सन्निकर्ष होता है। इसमें चक्षु और घट का जो सन्निकर्ष होता है वह संयोग मात्र होता है। चक्षु और मन ये दो इन्द्रियां द्रव्य का ग्रहण करती हैं, अवशिष्ट श्रोत्र, त्वक्, रसना और घ्राण ये चार इन्द्रियां गुणों को ग्रहण करती हैं। चक्षु द्वारा ग्राह्य विषयों के प्रति द्रव्यों में स्थित लौकिक विषयता से चक्षु का संयोग कारण होता है।

२. **संयुक्त समवाय सन्निकर्ष :**—'घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायसन्निकर्षः' अर्थात् घट और उसके रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। क्योंकि घट में रहने वाला रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है। प्रस्तुत ज्ञान घट के साथ

चक्षु का संयोग रूप सन्निकर्ष हुआ और घट में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूप के साथ समवाय सन्निकर्ष हुआ। इस प्रकार यह संयुक्त समवाय सनिकर्ष कहलाता है।

३-संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्षः—"घटे रूपं समवेतं तत् रुपत्वस्य समवायात्। रुपत्वसामान्यप्रत्यक्षे समवेतसमवायसन्निकर्षः चक्षु संयुक्ते।" अर्थात् घट में रूप समवेत रूपसे रहता है और रूप में रूपत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है। रूपत्व सामान्य का प्रत्यक्ष होने पर अथवा घट में स्थित रूप और रूपत्व का चक्षु के साथ संयोग होने पर संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है। इसमें घट, घट में स्थित रूप और रूप में स्थित रूपत्व इन तीनों का एक साथ प्रत्यक्ष होता है।

४. समवाय सन्निकर्षः—"श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायसन्निकर्षः। कणविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात्, शब्दस्याकाशगुणत्वात्, गुणगुणिनोश्च समवायात्।" अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय के साथ शब्द का साक्षात्कार होने पर समवाय सन्निकर्ष होता है। कर्ण विवर छिद्र का विशेष आकार ही आकाश है और वह आकाशीय भाग ही श्रोत्रन्द्रिय है। उस श्रोत्र या आकाशीय भाग के साथ ही वाद्य ध्वनि अथवा स्वर व्यंजन आदि शब्द का सन्निकर्ष (संयोग) होता है। वह शब्द आकाश का प्रत्यात्म-नियत अथवा अपृथक् भावी गुण है। वह शब्द गुण आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से शब्द और श्रोत्र का भी समवाय सन्निकर्ष होता है।

५. समवेत समवाय सन्निकर्षः—"शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायसन्निकर्षः, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।" अर्थात् श्रोत्र के साथ शब्दत्व का साक्षात्कार होने पर समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है। क्योंकि श्रोत्र (आकाश) के साथ समवेत हुए शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है।

६. विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्षः—"अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः घटाभाववत् भूतलमित्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्।" अर्थात् अभाव का प्रत्यक्ष होने पर विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष होता है। जैसे—वह भूतल घटाभाव युक्त है। ऐसा कहने पर जिस भूतल के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है वह भूतल घटाभाव वाले विशेषण से संयुक्त है। वहां पर 'चक्षु संयुक्तभूतल' विशेष्य है और उनमें 'घटाभाव' उसका विशेषण है।

इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष के साधक सन्निकर्ष ६ प्रकार के होते हैं। ये छः भेद लौकिक प्रत्यक्ष अथवा लौकिक सन्निकर्ष के कहे जा सकते हैं।

इसके पश्चात् अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है। यथा—१. सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति, २. ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति और ३. योगज।

१. **सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति**—जिसके द्वारा किसी वस्तु, जाति अथवा अर्थ के एक देश का प्रत्यक्ष होने पर उस सम्पूर्ण वस्तु, सम्पूर्ण जाति अथवा सम्पूर्ण अर्थ का सामान्यतः बोध होता है उसे सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे—एक 'गाय' का प्रत्यक्ष होने पर उसकी सम्पूर्ण 'गोत्व' जाति का ज्ञान सामान्यतः हो जाता है।

२. **ज्ञान लक्षणा प्रत्यासति**—जिसके द्वारा वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष हुए बिना ही उस वस्तु के विषय या गुण का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् केवल ज्ञान के आधार पर ही जिसके गुण का बोध हो जाता है, वह ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति कहलाता है। जैसे—बर्फ को देखने मात्र से बिना उसका स्पर्श किए हुए ही उसकी शीतलता का ज्ञान हो जाता है। इसी भांति अग्नि को देखने मात्र से ही बिना उसका स्पर्श हुए किए ही उसकी ऊष्णता का ज्ञान हो जाता है। मिश्री को देखकर बिना जिह्वा संयोग के ही उसकी मधुरता का ज्ञान हो जाता है।

३. **योगज**—यह ज्ञान केवल योगियो को ही होता है। योगीराज विशेष समाधि अथवा ज्ञानोपलब्धि के आधार पर किसी भी विषय का अबाधित सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान योगज कहलाता है। यह योगज प्रत्यक्ष सामान्यतः दो प्रकार का हाता है—१. युक्त और २. युंजान।

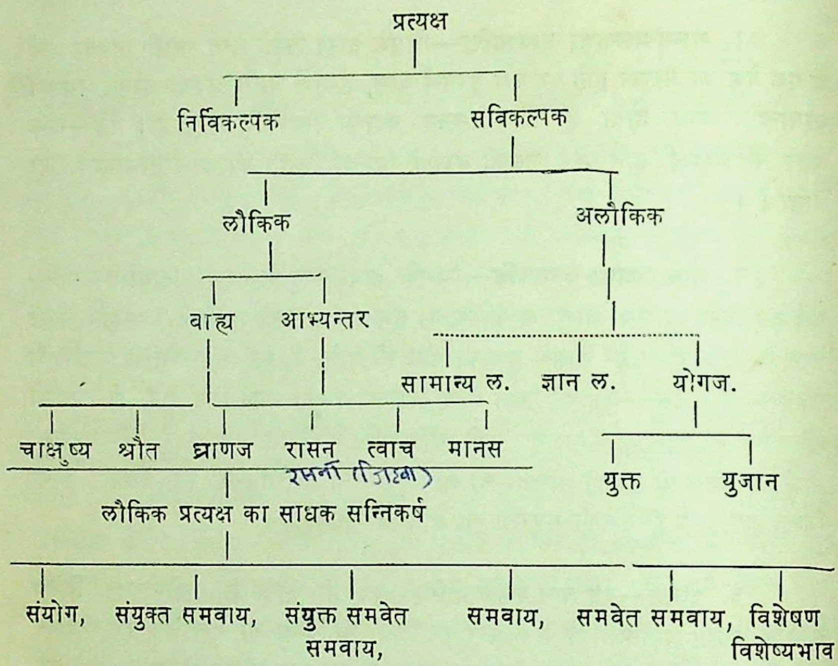
योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः।
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ॥

—न्या. सि. मु.

१. **युक्त**—युक्त योगज प्रत्यक्ष वह होता है जिसमें योगियों को अपने तपोबल के द्वारा अखण्ड निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। वह ज्ञान सदा बना रहता है और वस्तु स्वरूप को जानने के लिए पुनः पुनः समाधि योग धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

२. **युंजान**—युंजान योगज प्रत्यक्ष वह होता है, जिसमें वस्तु स्वरूप का ज्ञान करने के लिए समाधि धारण अथवा समाधि द्वारा विचार करना अपेक्षित रहता है। यह ज्ञान समाधि धारण करने पर अथवा समाधि द्वारा विचार करने पर प्राप्त होता है।

इस प्रकार अनेक भेद प्रभेद युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सभीभेद संक्षेपतः निम्न तालिका द्वारा जाने जा सकते हैं—



प्रत्यक्ष के रहते हुए अन्य प्रनाणों की आवश्यकता—प्रत्यक्ष प्रमाण सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। क्योंकि इसके इसके द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान संशय आदि दोषों से रहित होता है। व्यवहार में भी प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय माना जाता है। मनुष्य को जिस विषय का साक्षात्कार या प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। उस विषय में उसे कोई शंका नहीं रहती। फिर वह प्रत्यक्ष किए हुए विषय का दृढता के साथ समर्थन करता है। यही कारण है कि सभी दर्शनों ने एक स्वर से प्रत्यक्ष प्रमाण को अंगीकार किया है। एकमेव प्रमाण को स्वीकार करने वाले भौतिकवादी और कट्टर नास्तिक चर्वाक दर्शन ने भी प्रत्यक्ष प्रमाण का ही आश्रय लिया है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान एवं प्रत्यक्ष प्रमाण के सार्वभौम महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जिन विषयों का ज्ञान या साक्षात्कार होता है वे विषय अत्यन्त सीमित हैं। संसार के सभी विषयों का ज्ञान एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सम्भव नहीं हैं। क्योंकि **अल्पं हि प्रत्यक्षम्, अनल्पमप्रत्यक्षम्**"—अर्थात् प्रत्यक्ष होने वाले विषय अत्यन्त अल्प हैं और प्रत्यक्ष न होने वाले विषय बहुत अधिक हैं। अतः बहुत से विषय प्रत्यक्षज्ञान से वंचित रह जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियां ही साधन होती हैं। इन्द्रियां

जिन विषयों को ग्रहण करती हैं उनका तो प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु इन्द्रियां जिन विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हैं उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता । भौतिक होने के कारण इन्द्रियों का विषय क्षेत्र अत्यन्त सीमित है । अतः सीमित विषय क्षेत्र के बाहर विषयों का ग्रहण इन्द्रियों द्वारा नहीं होने के कारण उन विषयों का ज्ञान नहीं हो पाता । इसीलिए वे विषय प्रत्यक्ष ज्ञान के बाहर हो जाते हैं । इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयातिरिक्त क्षेत्र अत्यन्त विशाल एवं असीमित हैं । उनका ज्ञान भी अपेक्षित रहता है ।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमाण केवल वर्तमान काल में स्थित पदार्थों का सीमित ज्ञान कराने में ही सहायक है । जिसके द्वारा भूत और भविष्यकालीन विषयों का साक्षात्कार करना सम्भव नहीं है । अतः भूत और भविष्यकाल के सम्पूर्ण विषय प्रत्यक्ष न होने के कारण अज्ञात रह जायेंगे । इन विषयों के ज्ञान के लिए प्रामाणान्तर अपेक्षित हैं । जो विषय प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा में नहीं आते उनका ज्ञान किसी प्रमाण द्वारा ही किया जायेगा, अन्यथा वे समस्त विषय अज्ञात ही रह जायेंगे । अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के रहते हुए भी अन्य सभी विषयों के ज्ञान के लिए अन्य अनुमान आदि प्रमाण अपेक्षित हैं । अन्य प्रमाणों को स्वीकार किए बिना प्रत्यक्ष के द्वारा केवल कुछ सीमित विषयों का ज्ञान ही सम्भव हो सकेगा ।

प्रत्यक्ष के बाधक—

पदार्थों के सम्मुख उपस्थित रहने पर भी अनेक बार ऐसा होता है कि हमें उस वस्तु का ज्ञान नहीं होता । कुछ कारण ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होने देते और उसमें बाधा उत्पन्न करते हैं । वे कारण ही प्रत्यक्ष के बाधक कहलाते हैं । महर्षि चरक ने प्रत्यक्ष ज्ञान में अवरोध उत्पन्न करने वाले उन कारणों का उल्लेख किया है । यथा—

"सतां च रुपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः ।"

—चरक, सूत्र० ११

अर्थात् विषयों के विद्यमान होने पर भी कभी-कभी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य रूपवाली वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी १. अत्यन्त समीप होने के कारण, २. अत्यन्त दूर होने के कारण, ३. आवरण से ढक जाने के कारण, ४. इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण, ५. मन के चंचल होने के कारण, ६. समानभिहार-एक समान कई वस्तुएं होने के कारण, ७. किसी वस्तु से अन्य दब जाने के कारण और ८. अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता

है। अतः जो लोग केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं वह विना विचारे, विना परीक्षा किए हुए ही कहते हैं कि केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अन्य प्रमाण नहीं हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधा उत्पन्न करने वाले जो कारण ऊपर बतलाए गए हैं उन्हें निम्न उदाहरणों द्वारा समझना चाहिए। १. **अति समीप**-जैसे किसी पुस्तक के नेत्र के अति समीप लाया जाय तो उसके अक्षर दिखलाई नहीं पड़ते। इसी प्रकार आंख में लगा हुआ काजल भी अति समीपता के कारण दिखलाई नहीं पड़ता। २. **अतिदूर**–जैसे आकाश में अत्यन्त दूर उड़ता हुआ पक्षी दिखलाई नहीं पड़ता अथवा दूर रखी हुई पुस्तक के अक्षर दिखलाई नहीं पड़ते। ३. **आवरण**—जैसे किसी पदार्थ या दीवाल का व्यवधान होने से वस्तु के रहते हुए भी उसका ज्ञान नहीं होता। ४. **करण दौर्बल्य**—नेत्रों में कोई विकृति रतोंध या मोतियाबिन्द आदि हो जाने पर नेत्रों से दिखलाई नहीं पड़ता है। ५. **मन की चंचलता**—मन अन्यत्र आसक्त होने पर, जैसे काम आदि से आविष्ट पुरुष समीपस्थ वस्तु को भी नहीं देखता या कक्षा में स्थित छात्र का मन अन्यत्र आसक्त होने के कारण वह बोर्ड पर लिखे गये अक्षरों को नहीं देख पाता है।

६. **समानाभिहार**—जैसे गेहूं के दानों में मिलाए गए अन्य गेहूं के दाने नहीं पहचाने जा सकते।

७. **अभिभव**—जैसे दिन में सूर्य के तेज से तारों का ज्ञान नहीं होता है।

८. **अतिसूक्ष्म**—जैसे अतिसूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म जीवाणुओं का नेत्र से ज्ञान नहीं होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधा उत्पन्न करने वाले चरकोक्त उपर्युक्त कारणों का उल्लेख ईश्वर कृष्ण ने भी सांख्यकारिक में किया है। **यथा**—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्, व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥

इन समस्त कारणों से प्रत्यक्षोपलब्धि न होने के कारण उन विषयों के ज्ञान के लिए प्रमाणान्तर अपेक्षित है। अतः प्रत्यक्ष के रहते हुए भी अन्य प्रमाण भी संसार के अन्य विषयों के ज्ञान के लिए आवश्यक हैं।

एकादश अध्याय

अनुमान निरूपण

अनुमान शब्द का निर्माण दो शब्दों से हुआ है। यथा—अनु+मान=अनुमान। अनु का अर्थ होता है पश्चात् और मान का अर्थ ज्ञान। अतः अनुमान का शब्दार्थ होता है पश्चात् या बाद में होने वाला ज्ञान। अनुमान शब्द की निरुक्ति से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। यथा—**अनु पश्चात् मीयते ज्ञायतेऽनेनेति अनुमानम्"** अर्थात् जिसके द्वारा बाद में (प्रत्यक्ष के बाद) ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अनुमान कहलाता है। यहां यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान होता है। अर्थात् जिसका कभी प्रत्यक्ष हुआ हो, किन्तु वर्तमान काल में प्रत्यक्षतः उसकी उपलब्धि न होती हो, उस वस्तु का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है।

लक्षण—

"साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्"

अर्थात् साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है।

"तल्लिङ्गिलिङ्गपूर्वकम्।" —(न्यायवार्तिक)

अर्थात् लिङ्ग को देखकर लिंगि का व्यभिचार रहित ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है। जैसे—किसी स्थान में प्रनष्ट शल्य का ज्ञान उसके लक्षण (लिङ्ग) पाक तथा ऊष्मा से अर्थात् संदिग्ध स्थान पर चन्दन या घृत का लेप करने पर चन्दन का शुष्क हो जाना और घृत का पिघल जाना आदि प्रकार से करना अनुमान कहलाता है।

"अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः" **—(चरक, विमान अ० ४).**

अर्थात् युक्ति सापेक्ष तर्क को अनुमान कहते हैं। **विज्ञात अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी उसका अवधारण करना 'युक्ति' कहलाता है** और अविज्ञात तत्व के अर्थ में कारण और उपपत्ति से तत्व ज्ञान के लिए जो 'ऊहा' होती है, उसे तर्क कहते हैं। युक्ति सापेक्ष तर्क अर्थात् युक्ति के द्वारा कार्य कारण भावोपपत्ति से अविज्ञात अर्थ में ज्ञान करना, जैसे—महानस (चौका घर) में वह्नि और धूम को एक साथ देखकर उसमें कार्यकारण भाव का ग्रहण कर किसी पर्वत पर धूम को देखकर वह्नि और धूम के कार्यकारण भावोपपत्ति से अदृष्ट वह्नि का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है।

"अनुमितिकरणमनुमानम् ।" (तर्क संग्रह)

अर्थात् अनुमिति का करण (साधकतम कारण) अनुमान कहलाता है ।

अनुमिति—"परामर्शजन्यज्ञानमनुमितिः" अर्थात् परामर्श जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं ।

परामर्श—"व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः" अर्थात् व्यप्ति के साथ पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं ।

व्याप्ति—"यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः" अर्थात् जहां जहां धुआं होता है वहां वहां अग्नि होती है । इस प्रकार के साहचर्य (एक साथ रहने के) नियम को व्याप्ति कहते हैं ।

पक्षधर्मता—"व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता" अर्थात् व्याप्य धूम आदि हेतु के पर्वत आदि पक्ष (साध्य स्थल) में होने को पक्षधर्मता कहते हैं ।

अभिप्राय यह है कि "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" यह अनुमान तभी सम्भव है जब "जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य रहती है" इस व्याप्ति ज्ञान के साथ पक्ष (पर्वत) में व्याप्य (धूम) की उपस्थिति दिखलाई पड़े ।

चरकोक्त लक्षण एवं भेद—

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते ।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ।।
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम् ।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ।।

अर्थ—प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्वक तीन प्रकार का तथा तीनों काल का अनुमान किया जाता है । छिपी हुई (वर्तमान) अग्नि का अनुमान धूम से और अतीत काल के मैथुन का अनुमान गर्भ को देखने से होता है । अनागत (भविष्यकालीन) फल का अनुमान बीज से किया जाता है । बीज को देखकर इस बीज के समान फल हुआ था, यह अनुमान बीज फल के विषय में भी विद्वान करते हैं ।

अनुमान के भेद—यह अनुमान सामान्यतः दो प्रकार का होता है—१. स्वार्थानुमान २. परार्थानुमान ।

१. **स्वार्थानुमान**—अपनी अनुमिति का करण (साधकतम कारण) स्वार्थानुमान कहलाता है । इसमें अनुमान करने वाला व्यक्ति स्वयं कार्य-कारण भाव को देखकर स्वयं के ज्ञान के लिए अनुमान करता है । जैसे कोई व्यक्ति महानस (चौके) में धुंए और अग्नि को साथ-साथ देखकर यह निश्चय करता है कि जहां-जहां धुंआ होता है वहां-वहां अग्नि होती है—एतद्विध व्याप्ति ज्ञान का निश्चय करने के अनन्तर किसी पर्वत के समीप धुआं उठता हुआ देखकर पूर्व दृष्ट व्याप्ति ज्ञान का स्मरण कर यह

निश्चयात्मक ज्ञान करता है कि यहां पर भी अग्नि है। इसी का नाम लिंग परामर्श है। इस लिंग परामर्श से ही यह ज्ञान उत्पन्न हुआ कि पर्वत पर आग है। इसे ही स्वार्थानुमान कहते हैं। यह केवल स्वयं को समझने के लिए होता है।

२. **परार्थानुमान**—यह अनुमान दूसरों को ज्ञान कराने में सहायक होता है। जब कोई व्यक्ति दूसरों को समझाने के लिए शास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए लिंग परामर्श द्वारा साध्य की सिद्धि करता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है। परार्थानुमान की सिद्धि के लिए पांच अवयव अपेक्षित रहते हैं। उन पांच अवयवों के बिना परार्थानुमान की सिद्धि नहीं होती। पंचावयव वाक्य निम्न है—

१. **प्रतिज्ञा**—किसी साध्य या कार्य की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है वह प्रतिज्ञा वाक्य कहलाता है। जैसे—"यह पर्वत अग्नि वाला है।" इस प्रतिज्ञा वाक्य में अग्नि साध्य है। क्योंकि पर्वत में अग्नि की सिद्धि करना ही मुख्य प्रयोजन है।

२. **हेतु**—कारण को हेतु कहते हैं। प्रतिज्ञा वाक्य में जो साध्य होता है उसकी सिद्धि के लिए जो कारण प्रस्तुत किया जाता है वह हेतु कहलाता है। जैसे—"धुआं होने से" यह कारण उपर्युक्त प्र ज्ञा वाक्य की साध्य 'अग्नि' की सिद्धि करने के लिए कहा गया है।

३. **उदाहरण**—साध्य की सिद्धि के लिए कारण युक्त अन्य स्थान का सादृश्य भाव से युक्त जो उदाहरण प्रस्तुत किया जाता हे वही उदाहरण कहलाता हे। जैसे—'रसोईघर में।' उपर्युक्त प्रतिज्ञा वाक्य में कहे गए साध्य 'अग्नि' की सिद्धि के लिए यहां रसोईघर का उदाहरण दिया गया। क्योंकि रसोईघर में धुएं के साथ अग्नि का होना निश्चित रूप से उपलब्ध होता है।

४. **उपनय**—उदाहरण के आधार पर पक्ष में भी उसी प्रकार का निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित होना उपनय कहलाता है। जैसे—"उसी प्रकार यहा भी।"

५. **निगमन**—निष्कर्ष को ही निगमन कहते हैं। जैसे—"इसलिए यहां भी अग्नि है।"

इस प्रकार उपर्युक्त पांचों अवयवों द्वारा अनुमान की सिद्धि होती है। इन पांच अवयव वाक्यों द्वारा जो अनुमान कराया जाता है वह परार्थानुमान कहलाता है।

वात्सायन ने भी परार्थानुमान की सिद्धि के लिए पांच अवयवों का उल्लेख किया है। किन्तु उनके पंचावयव पूर्वोक्त पांच अवयवों से भिन्न हैं। यथा–१. जिज्ञासा, २-संशय, ३-शक्य प्राप्ति, ४-प्रयोजन और ५-संशय व्युदास। भाष्यकार के मतानुसार इनकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पूर्वोक्त पांच अवयवों से भली भांति परार्थानुमान का पूर्ण ज्ञान हो जाता है और उसमें किसी प्रकार की शंका के लिए

स्थान नहीं रहता। तार्किक विद्वानों के मतानुसार उपर्युक्त पांच अवयवों की संख्या को घटाकर तीन अवयवों द्वारा भी अभीष्ट सिद्धि की जा सकती है। क्योंकि प्रतिज्ञा और निगमन में कोई मौलिक अन्तर न होने से निगमन की कोई आवश्यकता या उपयोगिता नहीं रह जाती। उपनय और हेतु में भी कोई स्पष्ट अन्तर प्रतीत नहीं होता, जबकि व्याप्ति द्वारा लक्ष्य सिद्धि हो जाती है। अतः निगमन का अन्तर्भाव प्रतिज्ञा में तथा उदाहरण और उपनय का अन्तर्भाव व्याप्ति में कर प्रतिज्ञा, हेतु और व्याप्ति इन तीन अवयवों के ही अनुमान साधन के लिए पर्याप्त समझा जाता है। इन तीन अवयवों द्वारा अनुमान साधन की प्रवृत्ति मुख्यतः परवर्ती नैयायिकों में पाई जाती है। भारतीय दर्शन शास्त्रों में स्वमत प्रतिपादक कुछ विद्वान एवं विचारक जैसे वेदान्ती मीमांसक, बौद्ध तथा जैन दार्शनिक व्यवहार रूप से दो अवयवों को ही पर्याप्त समझते हैं। जैसे प्रतिज्ञा और हेतु। शेष अवयवों का अन्तर्भाव इन्हीं दो में कर लिया जाता है। किसी विशेष स्पष्टीकरण के लिए वे व्याप्ति का आश्रय ले लेते हैं।

लिंग परामर्श—उपर्युक्त द्विविध स्वार्थ अनुमिति और परार्थ अनुमिति दोनों में ही लिंग परामर्श कारण है। बिना लिंग परामर्श के अनुमान नहीं हो सकता। जैसे—जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है। इस व्याप्ति ज्ञान के साथ पर्वत पर धुआं रूप पक्षधर्मता का ज्ञान अपेक्षित है। अतः व्याप्ति ज्ञान विशिष्ट पक्ष धर्मता ज्ञान अर्थात् पर्वत पर धुआं है और वह धुआं अग्नि का व्याप्य है, ऐसा ज्ञान होना चाहिये–इस ज्ञान को ही 'परामर्श' कहते हैं। इसमें धुआं लिंग अथवा साधन होता है और अग्नि लिंगी अथवा साध्य है। अतः इसे लिंग परामर्श भी कहा जाता है। यही लिंग परामर्श अनुमिति का कारण होने से अनुमान कहलाता है। यह लिंग तीन प्रकार का होता है—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी।

हेतु तथा साध्य का साहचर्य अन्वय कहलाता है और इसके विपरीत अर्थात् साध्याभाव तथा हेत्वभाव का साहचर्य व्यतिरेक कहलाता है। अन्वय सपक्ष में रहता है और व्यतिरेक विपक्ष में। जहां हमें साध्य के होने का निश्चित ज्ञान है, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे महानस (रसोईघर)। यहां महानस में धुआं रूप हेतु तथा अग्नि रूप साध्य इन दोनों का साहचर्य रूप अन्वय व्याप्ति का ज्ञान होता है। इसके विपरीत जहां हमें साध्य के अभाव का निश्चित ज्ञान है, उसे विपक्ष कहते हैं। जैसे जलाशय। यहां जलाशय में साध्य अग्नि का अभाव अर्थात् अग्नि का न होना तथा हेतु रूप धुएं का अभाव अर्थात् धुंए का न होना इन दोनों का साहचर्य रूप व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान होता है।

अन्वय व्यतिरेकी—**"अन्वयेन व्यतिरेकेण व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकी"** उपर्युक्त अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति दोनों के दृष्टान्त जिसमें हों ऐसे लिंग को अन्वय

व्यतिरेकी कहते हैं। जैसे—"पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्" इस उदाहरण में दिया हुआ धुआं रूप हेतु (लिंग) अन्वय व्यतिरेकी है। क्योंकि जहां-जहां धुआं होता है, वहां वहां अग्नि होती है। जैसे—रसोईघर में। जहां रसोईघर में हेतु धुआं और साध्य अग्नि इन दोनों का साहचर्य मिलता है। यह हुआ अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त। इसके विपरीत जहां-जहां अग्नि का अभाव हो वहां धुंए का अभाव हो। जैसे—जलाशय। यहां जलाशय में साध्य अग्नि का अभाव तथा हेतु धुंए का अभाव इन दोनों का साहचर्य मिलता है। इससे यह हुआ व्यतिरेक का दृष्टान्त। अतः उपर्युक्त प्रतिज्ञा वाक्य में कहा गया धुआं रूप लिंग (हेतु) अन्वय व्यतिरेक हुआ।

केवलान्वयी—"अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयी"—तर्क संग्रह। उपर्युक्त अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति इन दोनों में से केवल अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त जिसमें उपलब्ध होता हो और व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त उपलब्ध न हो, ऐसे लिंग को केवलान्वयी कहते हैं। जैसे-घटोऽयमभिधेयः प्रमेयत्वात्। यहां पर दिया गया प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी हो क्योंकि जहां-जहां प्रमेयत्व होता है, वहां-वहां अभिधेयत्व होता है, जैसे—पट। इस प्रकार सपक्ष में स्थित अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त तो मिलता है, किन्तु जहां-जहां साध्य अभिधेयत्व का अभाव होता है, वहां-वहां हेतु-प्रमेयत्व का अभाव होता है। ऐसी विपक्ष स्थित व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त नहीं मिलता। क्योंकि संसार के समस्त पदार्थ अभिधेय हैं। अतः यहां कहा गया प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी हुआ।

केवल व्यतिरेकी—"केवलव्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकी"-तर्क संग्रह। जहां केवल व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त मिलता है और अन्वय व्याप्ति का दृष्टान्त नहीं मिलता, ऐसे लिंग को केवल व्यतिरेकी कहते हैं। जैसे—'जीवत् शरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात्' यहां पर दिया गया प्राणादिमत्व हेतु केवल व्यतिरेकी है। क्योंकि जो जो आत्मायुक्त नहीं होता, वह प्राणादिमान् भी नहीं होता। जैसे—घट। इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति का दृष्टान्त तो मिलता है। किन्तु जो प्राणादिमान् होता है वह आत्मा युक्त होता है। इस अन्वयव्याप्ति का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। क्योंकि प्राणादिमान् मात्र का पक्ष में समावेश होने से कोई शेष रहता ही नहीं, जिसका सपक्ष स्थित रूप में दृष्टान्त दिया जा सके। अतः प्राणादिमत्व हेतु केवल व्यतिरेकी हुआ।

न्यायोक्त अनुमान के भेद—

न्यायदर्शन के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का होता है। यथा—"अथ **तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च**"—न्या. द. १।१।५ अर्थात् उपर्युक्त दोनों (स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान) अनुमान तीन प्रकार के होते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतो दृष्ट।

पूर्ववत्—'यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते तत्पूर्ववत्' अर्थात् जहां कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है, वह पूर्ववत् अनुमान होता है, जैसे—मेघ को देखकर वृष्टि का अनुमान अथवा बीज से फल का अनुमान करना। भविष्यकालीन अनुमान का भी यही उदाहरण है। पूर्ववत् का दूसरा अर्थ होता है, पहले की तरह—अर्थात् जैसे पहले धुआं और अग्नि का साहचर्य देखा था उसके समान पुनः यहां धुआं देख कर अग्नि का निश्चय करना। अथवा पूर्ववत् का अभिप्राय अन्वयव्याप्ति वाला अर्थात् केवलान्वयी अनुमान।

शेषवत्—"यत्र कार्येन कारणमनुमीयते तत् शेषवत्" अर्थात् जहां कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है वहां शेषवत् अनुमान होता है। जैसे गर्भ को देख कर मैथुन का या बीज को देखकर भूत फल का अनुमान। यही उदाहरण अतीतकाल के अनुमान का भी है। शेषवत् का अन्य अर्थ होता है, परिशेषानुमान। जैसे शब्द गुण है तो वह किसी द्रव्य में रहना चाहिये। किन्तु पृथ्वी, जल, तेज, वायु. काल, दिशा, आत्मा और मन इन आठ द्रव्यों में से किसी में भी पाया नहीं जाता। अतः इन आठ द्रव्यों के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में अर्थात् आकाश में रहा हुआ होना चाहिए। यह अनुमान शेषवत् अर्थात् परिशेषानुमान हुआ। अथवा शेषवत् का तात्पर्य व्यतिरेक व्याप्ति वाला अर्थात् केवल व्यतिरेकी।

सामान्यतो दृष्ट—"सामान्यतो दृष्टं कार्यकारणभिन्नलिंगकम्" सामान्य लिंग से अर्थात् कार्यकारण से भिन्न अन्य किसी लिंग से जो अनुमान किया जाता है वह सामान्यतो दृष्ट कहलाता है। जैसे एक स्थान पर देखे गये किसी व्यक्ति को जब दूसरे स्थान पर देखा जाता है तब तक उस व्यक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचना गतिपूर्वक ही होता है। अर्थात् बिना गति के वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुंच सकता। इसी प्रकार सूर्य की गति यद्यपि प्रत्यक्ष देखने में नहीं आती तथापि उसका पूर्व से पश्चिम में पहुंचना बिना गति के सम्भव नहीं है। अतः उसकी भी कोई गति अवश्य होनी चाहिये। इस प्रकार जो निश्चय किया जाता है वह अनुमान सामान्यतो दृष्ट कहलाता है। अथवा सामान्यतो दृष्ट का अभिप्राय यह भी है कि लिंग और लिंगी का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः होने पर जब केवल लिंग के सामान्य ज्ञान से लिंगी का अनुमान किया जाता है तो वह सामान्यतो दृष्ट कहलाता है। जैसे, इच्छा आदि लिंग के द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का अनुमान। सामान्यतो दृष्ट के अन्य अभिप्राय के अनुसार अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति वाला अर्थात् अन्वय व्यतिरेकी।

प्रस्तुत अनुमान प्रमाण भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल—इन तीनों कालों में विद्यमान पदार्थों को विषय करता है। गर्भ दर्शन से मैथुन का अनुमान भूतकालीन हुआ, बीज दर्शन से अनागत फल का अनुमान भविष्यत्कालीन हुआ और धूम दर्शन से अग्नि का अनुमान वर्तमानकालीन हुआ।

अहेतु, असद्हेतु या हेत्वाभास

अनुमान प्रमाण की सिद्धि के लिए उसके साधक जिस कारण अथवा साधन की आवश्यकता रहती है वह हेतु कहलाता है। अनुमान की सिद्धि पूर्णतः हेतु पर ही निर्भर होती है। वह हेतु दो प्रकार का होता है–सद् हेतु और असद् हेतु। जो हेतु देश और काल के भेद बिना साध्य के साथ पाया जाता है, साध्य के साथ अन्य कहीं प्रसिद्ध हो और साध्य के अभाव में कहीं भी प्राप्त न होता हो वह सद् हेतु कहलाता है। इसी के द्वारा अनुमान की वास्तविक सिद्धि होती है। इसी को यथार्थ हेतु भी कहते हैं। इसके विपरीत जो हेतु होता है वह असद् हेतु या अहेतु कहलाता है। यह वस्तुतः हेतु न होते हुए भी हेतु के समान प्रतिभासित होता है। अतः हेतु न होते हुए भी हेतुवत् आभास होने के कारण यह हेत्वाभास भी कहलाता है। जैसा कि कहा गया है–

"हेतुवदाभासन्ते न तु वास्तविकहेतवस्ते हेत्वाभासाः। असिध्देतव इत्यर्थः।"

महर्षि चरक ने अहेतु का वर्णन करते हुए उसे तीन प्रकार का माना है। जैसे-१-प्रकरण सम, २-संशय सम, ३-वर्ण्य सम। तार्किक लोगों ने सहस्राधिक हेत्वाभास माने हैं। गौतम ने पांच प्रकार के हेत्वाभास का वर्णन किया है। यथा–१-सव्यभिचार, २-विरुद्ध, ३-प्रकरण सम, ४-साध्य सम, ५-अतीत काल। न्याय दर्शन में जो पांच हेत्वाभास स्वीकृत किए गए हैं वे निम्न लिखित हैं–**"सव्यभिचारविरूध्द-सत्प्रतिपक्षासिध्दबाधिताः पंचहेत्वाभासाः।"** अर्थात् सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित ये पांच हेत्वाभास होते हैं।

सव्यभिचार—**"सव्यभिचारोऽनेकान्तिकः"** अर्थात् अनेकान्तिक हेतु को सव्यभिचार कहते हैं। जो हेतु सदा अपने साध्य के साथ ही न रहे वह सव्यिभिचार कहलाता है। अर्थात् कभी साध्य में और कभी असाध्य में जिसकी उपलब्धि होती है वह सव्यभिचार हेतु कहलाता है। यह सव्यभिचार हेतु तीन प्रकार का होता है–साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी।

(i) साधारण सव्यभिचार हेतु—**"साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनेकान्तिकः"**–जो हेतु साध्य के अभाव स्थान में भी उपस्थि रहता है वह साधारण सव्यभिचार हेतु कहलात है। जैसे–पर्वतोऽयमग्निमान् प्रमेयत्वात्" अर्थात् यह पर्वत अग्निवाला है, प्रमेय होने से। यहां पर पर्वत में अग्ति की सिद्धि के लिए जो हेतु दिया गया है वह अग्नि के अभाव स्थल जलाशय में भी विद्यमान रहता है। जबकि हेतु को केवल अपने पक्ष में ही रहना चाहिए, विपक्ष में नहीं। साधारण से अभिप्राय यह है कि **प्रमेयत्व हेतु केवल अग्नि का साधक नहीं है अपितु वह संसार के समस्त पदार्थों का**

साधक है। समस्त पदार्थों में सामान्यतः इस हेतु की उपलब्धि होने के कारण यह साधरण हेतु है। यह हेतु अनेक पदार्थों से संयुक्त होने के कारण अनेकान्तिक भी है। यह एक धर्मी न होकर अनेक धर्मी है। अतः यह साधारण अनेकान्तिक अथवा साधारण सव्यभिचार हेतु कहलाता है।

(ii) असाधारण सव्यभिचार हेतु—**सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत: पक्षमात्रवृत्ति–रसाधरण:। यथा–शब्दो नित्य: शब्दत्वात्**।वह हेतु जो किसी भी सपक्ष या विपक्ष में न रह कर केवल पक्ष में ही उपस्थित रहता हो असाधारण सव्यभिचार हेतु कहलाता है। जैसे-"शब्द नित्य है, शब्दत्व होने से।" वस्तुतः शब्दत्व केवल शब्द में ही विद्यमान रहता है। किसी नित्य या अनित्य वस्तु में नहीं। अतः शब्दत्व हेतु केवल पक्ष (शब्द) में रहने के कारण असाधारण सव्यभिचार है।

(iii) अनुपसंहारी सव्यभिचार हेतु—"**अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा–सर्वमनित्यम् प्रमेयत्वात्**" अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित हेतु अनुपसंहारी सव्यभिचार कहलाता है। जैसे–सब कुछ अनित्य है, प्रमेय होने से। यहां पर दिया गया हेतु 'सब कुछ' की अनित्यता सिद्ध करने के लिए है। किन्तु 'सब कुछ' पक्ष होने के कारण सपक्ष के लिए अथवा विपक्ष के लिए कुछ नहीं बचता। अतः न सपक्ष का दृष्टान्त मिलता है और न विपक्ष का। अतः यह हेतु अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित है।

२–विरुद्ध हेत्वाभास—**साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्ध:। यथा–शब्दो नित्य: कृतकत्वात्**।"—साध्य के अभाव से युक्त हेतु विरूद्ध कहलाता है। अर्थात् जिस हेतु के साथ उसके साध्य का अभाव रहता है, वह विरुद्ध हेतु होता है। जैसे शब्द नित्य है, उत्पन्न होने से। यहां पर शब्द का नित्यत्व साध्य है और उसकी सिद्धि के लिए कृतकत्व (उत्पन्न होना) हेतु दिया गया है। यह हेतु साध्य के सर्वथा विपरीत है। क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह कभी नित्य नहीं हो सकता। अतः शब्द भी उत्पन्न होने से नित्य नहीं कहला सकता।

३–सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास–"**साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स: सत्प्रतिपक्ष:। यथा शब्दो नित्य: श्रवणत्वात् शब्दत्ववत्**"—साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु भी जिसका विद्यमान रहता है वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहलाता है। जैसे–शब्द नित्य है, श्रवणत्व होने से शब्दत्व के समान। इस प्रतिज्ञा वचन में शब्द का नित्यत्व सिद्ध करने के लिए "**श्रवणत्वात्**" हेतु दिया गया है। किन्तु इसके विपरीत शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु भी उपस्थित है। जिससे शब्द के नित्यत्व साधन में बाधा उपस्थित होती है। जैसे–"**शब्दोऽनित्य: कार्यत्वात् घट,**

वत्" यहाँ पर 'कार्यत्वात्' इस हेतु के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध की गई है। अत: शब्द के नित्यत्व साधक के विपरीत उसका अनित्यत्व साधक हेत्वन्तर विद्यमान होने से प्रथम हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है।

४–असिद्ध हेत्वाभास–जो हेतु स्वयं ही सिद्ध न हो वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। वह तीन प्रकार का होता है–आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्यप्यत्वासिद्ध।

[i] आश्रयासिद्ध हेत्वाभास––"**यस्य हेतो: आश्रय:-पक्ष:-अप्रसिद्ध स हेतु आश्रयासिद्ध:**"—इस प्रकार का हेतु जो स्वयं अपने में रहता हुआ भी असिद्ध हो अथवा जिसका आश्रय ही स्वयं असिद्ध हो अर्थात् जिसकी कभी सिद्धि नहीं की जा सकती, आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे–"**गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्।**" यहां पर आकाश कमल की सुगन्धि को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है और उसकी सिद्धि के लिए अरविन्दत्व हेतु प्रस्तुत किया गया है। किन्तु यहां पर अरविन्दत्व रूप हेतु का आश्रय आकाश कमल बतलाया गया है जो स्वयं असिद्ध है। आकाश में कभी कमल उत्पन्न नहीं होता। अत: यहां प्रस्तुत किया गया हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि आश्रय भूत आकाश में अरविन्द (कमल) की सत्ता ही विद्यमान नहीं है, फिर उसकी सुगन्धि कैसे सिद्ध की जा सकती है? अत: इस प्रकार के साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत किया जाता है उसके द्वारा कभी भी साध्य की सिद्धि सम्भव न होने से वह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

[ii] स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास–"**यो हेतु आश्रये-पक्षे नावगम्यते स: स्वरूपासिध्द:**"-जिस साध्य का स्वरूप ही असिद्ध रहता है उसकी सिद्धि के लिए जो हेतु दिया जाता है वह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। क्योंकि उस हेतु के द्वारा साध्य के स्वरूप की सिद्धि किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं होती। जैसे–"शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात्–" अर्थात् शब्द नित्य होता है, चाक्षुष होने से। यहां पर शब्द का नित्यत्व चाक्षुष हेतु द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया गया है। किन्तु शब्द देखा नहीं जाता अपितु सुना जाता है। जो वस्तु देखी नहीं जा सकती उसका कोई स्वरूप भी नहीं होता। अत: स्वरूप रहित वस्तु की सिद्धि के लिए "चाक्षुषत्व" हेतु सर्वथा असिध्द होता है। इस प्रकार का हेतु स्वरूपासिध्द हेत्वाभास कहलाता है।

[iii] व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास–"**सोपधिको हेतु व्याप्यत्वासिध्द:**"–उपाधि युक्त हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। उपाधि उसे कहते हैं जो साध्य का व्यापक हो, किन्तु साधन का व्यापक न हो। साध्य के अत्यन्त अभाव स्थल में

उपाधि रूप प्रतियोगी का होना ही साध्य का व्यापक होना है। साधन के साथ उपाधि के अभाव का रहना साधन का अव्यापक होना कहलाता है। जैसे "**पर्वतोऽयं धूमवान् वह्निमत्वात्**" इस उदाहरण में धूम साध्य है और वह्नि साधन है। केवल वह्निमान् हेतु धूम को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि अयोगोलक में वह्नि के होते हुए भी धूम नहीं होता। जब वह्नि के साथ आर्द्रेन्धन का संयोग होता है, तब धूम होता है। किन्तु वह्नि मात्र के साथ आन्र्देन्धन संयोग भी सर्वत्र नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साध्य धूम के साथ आर्द्रेन्धन का संयोग रहता है, किन्तु साधन वह्नि के साथ आर्द्रेन्धन का संयोग सर्वत्र नहीं रहता। अतः आर्द्रेन्धन संयोग हुआ उपाधि और इस उपाधि युक्त होने से वह्निमत्व हेतु सोपाधिक अर्थात् व्याप्यत्वासिद्ध हुआ।

५–बाधित हेत्वाभास–"**यस्य हेतोः साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स हेतुः बाधितः। यथा–वह्निः अनुष्णः द्रव्यत्वात्**"–जिस हेतु के साध्य का अभाव दूसरे प्रमाण द्वारा निश्चित रूप से सिद्ध हो उसे बाधित कहते हैं। जैसे–अग्नि अनुष्ण (शीतल) है, द्रव्य होने से। यहां अग्नि का अनुष्णत्व साध्य है। किन्तु उसका अभाव अर्थात् उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध है। अतः इस साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित होने से यह बाधित हेत्वाभास कहलाता है।

द्वादश अध्याय

आप्तोपदेश एवं युक्ति प्रमाण निरुपण

आयुर्वेद में महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित चतुर्विध प्रमाणों में आप्तोपदेश प्रमाण भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितने महत्व पूर्ण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण है। आप्तोपदेश का महत्व एवं उपादेयता इसी से स्पष्ट है कि चरक ने चतुर्विध प्रमाणों में सर्व प्रथम आप्तोपदेश का ही कथन एवं प्रतिपादन किया है। जिन पदार्थों अथवा विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा प्राप्त करना सम्भव नहीं है उनके ज्ञान के लिए आप्तोदेश प्रमाण ही सर्वाधिक उपयोगी एवं आश्रय योग्य है। अतः यह प्रमाण सभी प्रमाणों में महत्वपूर्ण है।

आप्तोपदेश का सामान्य अर्थ होता है आप्त पुरुषों का उपदेश अथवा आप्त-वचन। जो उपदेश हमारे ऋषि महर्षियों ने जन कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर प्राणियों के ज्ञान संवर्धनार्थ दिए हैं वे उपदेश-वाक्य हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा विभिन्न शास्त्रों में लिपिबद्ध करके संकलित किए गए हैं। अतः वेद वाक्य, पुराण, उपनिषद, स्मृतिग्रन्थ, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र आदि में आप्त पुरुष महर्षियों का जो उपदेश उपलब्ध होता है वही आप्तोपदेश कहलाता है। महर्षि चरक आप्तोपदेश के विषय में लिखते हैं—

"आप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेवं गुणयोगाद्यद्वचनं तत्प्रमाणम्। अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्तदुष्टादुष्टवचनमिति।"
—चरक, विमान ४।४

अर्थात् आप्त के वचनों को आप्तोपदेश कहा जाता है। आप्त पुरुष तर्क से रहित अर्थात् निश्चित ज्ञान वाले, स्मरण शक्ति उत्पन्न तथा कार्य और अकार्य के विभाग को जानने वाले होते हैं, जो किसी भी प्राणी के प्रति प्रीति और उपताप अर्थात् राग और द्वेष से रहित हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को आप्त माना जाता है। वे इन गुणों से युक्त होने कारण जो वचन कहते हैं उसे प्रमाण माना जाता है। इसके विपरीत मतवाले, पागल, मूर्ख का वचन चाहे दुष्ट हो अथवा अदुष्ट हो तो भी अप्रमाण माना जाता है।

आप्त पुरूष के विषय में महर्षि ने बड़ी विशदता से लिखते हुए आप्त पुरुष का अत्यन्त समीचीन लक्षण प्रस्तुत किया है। यथा—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ता: शिष्टा विब्रध्दास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तम: ॥

अर्थ–अपनी तपस्या एवं ज्ञान के बल से जो रज और तम इन दोनो दोषों से मुक्त हो गए हैं, जिन को सदा भूत-भविष्य-वर्तमान इन तीनों कालों का ज्ञान निर्बाध रुप से होता रहता है और जिनकी ज्ञान शक्ति कभी नहीं रुकती, ऐसे व्यक्तियों को आप्त, शिष्ट और और विबुद्ध कहा जाता है। ऐसे आप्त पुरूषों के वचन या उपदेश संदेह रहित (सत्य) होते हैं। वे आप्त पुरूष रज और तम से शून्य होने के कारण सदा सत्य बोलते हैं। रज और तम से शून्य होने के कारण वे असत्य बोलेगें ही क्यों ?

इस प्रकार आप्त का लक्षण और उनके उपदेशों को सत्य बता कर अप्तोपदेश प्रमाण का स्वष्टीकरण किया गया है। साथ ही आप्त के दूसरे नाम शिष्ट तथा विबुद्ध भी बताए गए हैं। अप्तोपदेश से सभी स्मृति शास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराणग्रन्थ एवं वेद वाक्यों का ग्रहण होता है। इनके उपदेष्टा या रचयिता कभी भी असत्य भाषण नहीं करते थे। क्योंकि उन्हें न किसी से राग था न द्वेष। जब आप्त पुरुषों का सत्य बोलना सिद्ध हो जाता है, तब आप्त वचन प्रमाण माना ही जाता है।

आप्त पुरुप के विपय में वात्स्यायन ने निम्न व्याख्या प्रस्तुत की हैं–(१)"आप्त: खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टमर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा" तथा "साक्षात्करणमर्थस्याप्ति:, तया प्रवर्तते इत्याप्त:।' अर्थात आप्त पुरुष विषयों का साक्षात्कार करने वाले एवं यथादृष्ट विषय को बतलाने की इच्छा से उपदेश देने वाले होते हैं। तथा "विषयों के साक्षात्कार करने का नाम आप्ति है और उस आप्ति के द्वारा जो कर्म करने में प्रवृत्त होता है उसे 'आप्त' कहते है। (२) शिष्टा:–'स्वशक्तिबलेन कार्याकार्ये हिताहिते नित्यानित्ये प्रवृत्तिनिवृत्युपदेशस्य चिकीर्षया प्रयुक्तो यथार्थं शासनमर्थस्य शिष्टि:, तया प्रवर्तन्ते ये ते शिष्टा:।' अर्थात् अपनी तपस्या, ज्ञान और शक्ति के बल से कार्य-अकार्य, हित-अहित, नित्य-अनित्य इनमें क्रमश: प्रवृत्ति और निवृत्ति के उपदेश द्वारा जो अर्थों (विषयों) के शासन करने में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें शिष्ट कहते हैं। (३)विबुद्धा:–"विशिष्टा यथार्थभूता बुद्धिस्तया प्रवर्तन्ते ये ते विबुद्धा":– अर्थात् बुद्धि द्वारा ग्राह्य विषयों का विशेष ज्ञान कर जो कर्म में प्रवृत्त होता है उसे विबुध्द कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आप्त पुरुषों के वचन संशय, विपर्यय एवं अयुक्ति पूर्ण तर्क आदि मिथ्या ज्ञान से रहित हैं। वे संसार से विरक्त रहते हैं और संसार से उन्हें कोई मोह, ममता, राग-द्वेष आदि भाव या क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषाय न होने

से वे कभी असत्य वचन नहीं बोलते । उनका उपदेश जन सामान्य के लिए हितकारी होता है । उनके वचन कल्याणकारी एवं सत्य होने के कारण प्रामाणिक अर्थात् प्रमाण स्वरूप माने जाते हैं । आप्तपुरुष अपनी योग साधना, तपस्या एवं अन्य विधि द्वारा एक विशेष प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करते हैं । वह ज्ञान अपने आपमें परिपूर्ण, दोषों से रहित, अव्याहत, बाधा रहित एवं आत्मा को आलोकित करने वाला होता है । इस अखण्ड एवं अव्याहत ज्ञान के द्वारा वे संसार में तीनों कालों में होने वाली समस्त बातों का ज्ञान अविच्छिन्न रूप से कर लेते हैं । इसी ज्ञान के द्वारा वे संसार के गूढ़तम रहस्यों का भी पता लगा लेते हैं । उनका यह ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान कहलाता है । ऐसे विलक्षण ज्ञान से युक्त आप्त पुरुषों के वचनों या उपदेशों को जिस रूप में संकलित किया गया है वे वेदवाक्य, उपनिषद, पुराण, धर्मशास्त्र, स्मृति ग्रन्थ, संहिता ग्रन्थ कहलाते हैं । जिन ग्रन्थों में आप्त पुरुषों के वचनों को अथवा उपदेशों को संकलित करके लिपिबध्द किया गया है उन्हीं ग्रन्थों को आज आप्तोपदेश या आप्त वाक्य कहा जाता है । आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रमाण के रूप में इन्हीं ग्रन्थों एवं शास्त्रों के वचनों को उद्धृत किया जाता है । क्योंकि ये ही प्रामाणिक माने जाते हैं ।

आयुर्वेद में आप्तोपदेश का प्राथम्य—आयुर्वेद में जहां कहीं भी पदर्थों के ज्ञान के लिए, पदार्थों की परीक्षा के लिए अथवा रोग विशेष के ज्ञान के लिए प्रमाणों की अवश्यकता प्रतीत हुई वहां प्रमाणोल्लेख करते हुए सर्व प्रथम आप्तोपदेश का ही उल्लेख किया गया है । इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की अपेक्षा आप्तोपदेश अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है । क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा केवल उन तथ्यों का ज्ञान उपार्जित करने का प्रयत्न किया जाता है जिनका उद्घाटन प्रथमतः आप्तोपदेश द्वारा कर दिया गया है । इसीलिए महर्षि चरक ने प्रमाण गणना क्रम में प्रथमतः आप्तोपदेश को रखा है । यह तथ्य निम्न दो उदाहरणों से स्पष्ट है-

१ त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति ।
—च. वि. ४।३

२ द्विविधमेष खलु सर्वं सच्चासच्च । तस्य चतुर्विधा परीक्षा-आप्तोपदेशः प्रत्यक्षम् अनुमानं युक्तिश्चेति ।
—च. स. ११।१७

उपर्युक्त प्रमाण गणना क्रम में आप्तोपदेश प्रमाण का कथन प्रथम ही करने से आयुर्वेद शास्त्र में उसका प्राथम्य स्वतः ही स्पष्टतः सिध्द हो जाता है । इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने स्वयं ही आप्तोपदेश के ज्ञान की प्राथमिकता को महत्वपूर्ण निरुपित करते हुए सर्व प्रथम आप्तोपदेश के ज्ञानार्जन का निर्देश दिया है । यथा—

"त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञान, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत् तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्।"
—च. वि. ४।५

अर्थात् इन तीन परीक्षाओं में सर्व प्रथम आप्तोपदेश से ही ज्ञान होता है। उसके बाद प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान होता है। यदि पहिले किसी पदार्थ का उपदेश न किया जाय तो प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा किसकी परीक्षा की जायगी? इसलिए ज्ञान सम्पन्न (उपदेश प्राप्त) वैद्य के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रकार की परीक्षाएं हैं। अथवा आप्तोपदेश सहित तीन परीक्षाएं।

इससे यह स्पष्ट है कि आप्तोपदेश प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीनों प्रमाणों में प्रथम आप्तोपदेश ही महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद में तो आप्तोपदेश की प्राथमिकता और भी अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। क्योंकि आयुर्वेद का अध्ययन करने का इच्छुक छात्र जब आयुर्वेद जगत में प्रवेश करता है तो उसे सर्वप्रथम उपदेश द्वारा ही आयुर्वेद के सिध्दान्तों को समझाया जाता है। तत्पश्चात् आयुर्वेदाध्ययन में रत होने पर गुरू ही उसे सर्व प्रथम रोगों के निदान-लक्षण आदि का उपदेश करते हैं। उसके बाद ही विद्यार्थी प्रत्यक्ष और अनुमान से उन्हें स्वयं जानने का प्रयत्न करता है। प्रथमतः यदि आप्तोपदेश न हो तो जैसे जिसने दूसरों (आप्त) के द्वारा रत्नों की परीक्षा सीखी ही नहीं है, उसके समक्ष विभिन्न रत्न रख दिए जाने पर वह उनमें भिन्नत्व को देखता हुआ भी उन्हें पहचानने की सामर्थ्य नहीं रखता। इसी भांति जिसने गुरु मुख से निदानादि को नहीं जाना है वह रोगों के कारण लक्षण आदि को देखता हुआ भी रोग आदि का निर्णय नहीं कर सकता। अतः प्रमाणों में आप्तोपदश सर्व प्रथम एवं सर्वोपरि है।

युक्ति प्रमाण निरुपण

आयुर्वेद शास्त्र में चतुर्थ प्रमाण युक्ति को माना गया है। प्रमाणों की गणना में युक्ति प्रमाण को यद्यपि उतना महत्व नहीं दिया गया है, जितना कि प्रत्यक्ष, अनुमान और अप्तोपदेश इन तीन प्रमाणों को दिया गया है। आयुर्वेद में इन तीन प्रमाणों के साथ जब अन्य प्रमाणों की अवश्यकता का अनुभव किया गया तब उस आवश्यकता के अनुसार युक्ति प्रमाणों को भी कार्य साधन के लिए अंगीकार कर लिया गया है। पहले तो महर्षि चरक ने पदार्थों की चतुर्विध परिक्षा का निर्देश देते हुए स्पष्टतः वहां युक्ति को चतुर्थ प्रमाण मान कर उसका उल्लेख कर दिया है। किन्तु बाद में आगे चल कर उन्होंने विमान स्थान में "अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः" यह अनु ान का लक्षण निरुपित करते हुए युक्ति को अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र स्वीकार किया है। अतः आचार्यों का यह मत है कि युक्ति कोई प्रमाणान्तर नहीं है। यह व्याप्ति रूप से अनुमान की सहायता करती है। अनुमान प्रमाण की अनु-

ग्राहिका मात्र होने से युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है। अतः उसके स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मानने का कोई औचित्य नहीं है। तथापि विद्यार्थियों के अवबोध के लिए उसका लक्षण एवं उदाहरण बतलाते हुए संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

युक्ति का सामान्य अर्थ योजना पूर्वक अथवा विधि पूर्वक कार्य करना होता है। जैसा कि कहा गया है–''युक्तिस्तु योजना''

इसके अतिरिक्त युक्ति के निम्न लक्षण द्वय द्वारा अधिक स्पष्टता से उसके अर्थ का बोध हो जाता है–

विज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्तिदर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः''–गंगाधर। अर्थात् विज्ञात (जाने हुए) अर्थ में कारण और उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में उसी प्रकार कारण और उपपत्ति को समझना या लागू करना युक्ति कहलाती है। जब हम किसी जाने हुए विषय में विविध कारणों की योजना को देखकर अनजान विषय में भी उसी कारण और उपपत्ति की योजना करते हैं तो वह युक्ति कहलाता है

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् ।
युक्तिस्त्रिकाला विज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥

अर्थ—बहुत कारणों के योग से उत्पन्न अविज्ञात भावों को विज्ञात भावों के कार्य कारण भाव के अनुसार तथ्य को देखने वाली बुद्धि को युक्ति कहते हैं। इस युक्ति का उपयोग भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों ही कालों में होता है, जिससे धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों की सिद्धि होती है।

जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यसंभवः ।
युक्तिःषड्धातुसंयोगाद् गर्भाणाँ संभवस्तथा ॥
मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसंपद् व्याधिनिर्बर्हिणी ॥

अर्थ—जिस प्रकार जल, कर्षण, बीज और ऋतु के संयोग से जौ, गेहूं आदि धान्यों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार छः धातुओं (पांच महाभूत और आत्मा) के संयोग से गर्भों की उत्पत्ति हुआ करती है–यह युक्ति प्रमाण है। (क) मथ्य (मथने योग्य नीचे रखी हुई लकड़ी), (ख) मन्थन (मन्थन क्रिया अथवा 'मन्थक' पाठ होने पर मन्थन करने वाला पुरुष), (ग) मन्थान (मन्थन करने योग्य लकड़ी को जिस दूसरी लकड़ी से मथा जाता है) इन तीनों के संयोग से जिस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार युक्तियुक्त (भिषग्, द्रव्य, उपस्थाता और रोगी) चिकित्सा के इन चार पादों के रहने पर रोगों का शमन होता है।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य की सफलता योजना अथवा युक्ति पर निर्भर है। यदि युक्ति पूर्वक जल, कर्षण, बीज और ऋतु इनका संयोग न हो तो अनाज की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् ऋतु का उचित संयोग होने पर उचित रूप से खेत की जुताई करने पर विधिपूर्वक उसकी बोआई करने से और आवश्यकतानुसार उचित समय पर जल द्वारा उसकी सिंचाई करने से अनाज उत्पन्न होता है। इन चारों में से किसी एक साधन का समुचित संयोग न होने पर आनाज के उत्पन्न होने में बाधा हो सकती है। इसी प्रकार छः धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा) का उचित प्रकार से संयोग होने पर ही गर्भ की उत्पत्ति सम्भव है। इन तुओं का संयोग यदि विधि पूर्वक न हो तो गर्भ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यहाँ जल, कर्षण, बीज और ऋतु इनमें विज्ञात कार्य कारण भाव का ज्ञान कर अविज्ञात षड् धातु के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति की कल्पना तथ्य रूप में की गई है। जल, कर्षण, आदि का ज्ञान सामान्यत: सभी व्यक्तियों को होता है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष होने से विज्ञात है। गर्भ की उत्पत्ति अदृश्य है। अत: विज्ञात धान्य की उत्पत्ति से अविज्ञात गर्भ की उत्पत्ति का प्रामाणिक ज्ञान युक्ति प्रमाण से किया जाता है। दूसरा दृष्टान्त भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण करता है। प्राचीन काल में अग्नि की उत्पत्ति अरणि-मन्थन से की जाती थी। आजकल भी यज्ञों में कर्मकाण्डी लोग अरणि-मन्थन से आग उत्पन्न करते हैं। मथ्य, मन्थन और मन्थान इन तीनों के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष एवं विज्ञात है। इससे अविज्ञात चिकित्सा के चतुष्पाद की सिद्धि स्वरूप रोग-विनाश होने की तथ्य पूर्ण कल्पना की जाती है। इसमें अग्नि उपत्न्न करने वाले तीनों साधनों में से अथवा चिकित्सा के चतुष्पाद में से किसी एक का अभाव होने पर अथवा इनका उचित संयोजन न होने पर कार्य की सफलता सन्दिग्ध हो जाती है। अत: अभीष्ट प्राप्ति के लिए उपर्युक्त साधनों की युक्ति युक्त संयोजना अपेक्षित रहती है।

इसी भांति प्रत्येक कार्य के लिए युक्ति की अपेक्षा रहती है। यदि उस कार्य के साधनों का संयोग या उपयोग विधि पूर्वक न किया गया तो वह कार्य सफल नहीं हो सकता। इस आधार पर आयुर्वेद में चतुर्थ प्रमाण के रूप में युक्ति को स्वीकार किया गया है।

त्रयोदश अध्याय

अन्य प्रमाण निरुपण

उपमान (औपम्य) प्रमाण निरुपण

उपमिति का करण उपमान कहलाता है। किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से किसी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति कहलाता है। इस उपमिति का करण (साधकतम कारण) ही उपमान कहलाता है। उपमान शब्द की निष्पत्ति **"उपमीयतेऽनेनेति उपमानम्"** इस विग्रह के अनुसार होती है जिसका अर्थ होता है– उपमा, सादृश्य अथवा समानता के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त होता है। उसे उपमिति कहते हैं। न्याय दर्शन में उपमिति का लक्षण निम्न प्रकार से किया गया है–

"संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः" अर्थात् किसी नाम के उस नामवाली वस्तु से संबंध के ज्ञान को उपमिति कहते हैं। उसका कारण सादृश्य ज्ञान है। पहले सुने हुए विश्वस्त पुरुष के वाक्य के अर्थ का स्मरण भी इसमें कारण होता है। जैसे कोई व्यक्ति 'गवय' के विषय में नहीं जानता है। उसने किसी वनवासी व्यक्ति से सुना कि जो गाय के सदृश होता है वह 'गवय' कहलाता है। जब वह वन में गया और उस ने वहां गाय के सदृश एक प्राणी को देखा। तब उसे पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हुआ कि गाय के सदृश गवय होता है। इसी आधार पर उसे पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हुआ कि गाय के समान होने के कारण यह गवय है। यही सादृश्य ज्ञान कहलाता है। इस सादृश्य ज्ञान के आधार पर ही उपमिति का अस्तित्व निर्भर करता है। यही सादृश्य ज्ञान उपमिति शब्द से अभिप्रेत होता है। इसका करण या साधकतम कारण ही 'उपमान' कहलाता है।

उपमान प्रमाण के अन्य शास्त्रोक्त लक्षण भी उपर्युक्त भावार्थ का ही प्रकाशन करते हैं। यथा–**"प्रसिद्धस्य सादृश्येनाप्रसिद्धस्य प्रकाशनम् औपम्यमुपमानम्"** अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से अप्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य का मिलान कर उसे प्रकाशित करना औपम्य या उपमान कहलाता है।

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" —**न्याय दर्शन १।१।६**

अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से साध्य (अप्रसिध्द वस्तु का साधर्म्य) की सिध्दि करना उपमान कहलाता है।

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानमिति ख्यातं यथा गोर्गवयस्तथा ।। —(षड्दर्शन संग्रह)

अर्थ—प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिध्द वस्तु का साधन करना उपमान कहलाता है । जैसे गो के साधर्म्य से अप्रसिध्द गवय का साधन करना ।

आयुर्वेद सम्मत लक्षण—

"अथौपम्यम् औपम्यं नाम तद्यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधि कृत्य प्रकाशनम् । यथा दण्डेन दण्डकस्य,धनुषा धनुस्तम्भस्य, इष्वासेनारोग्यस्येति ।"

अर्थात् उपमान या औपम्य उस प्रमाण को कहते हैं जिसमें किसी ज्ञात सदृश वस्तु के ज्ञान से अज्ञात सदृश वस्तु का परिचय या ज्ञान प्राप्त किया जाता जाता है । जैसे दण्ड को देख कर दण्डक नामक व्याधि का और धनुष को देख कर धनुस्तम्भ नामक व्याधि का प्रकाश करना तथा धनुष के कुशल चालक धनुर्धर को देखकर आरोग्यदाता वैद्य का प्रकाश करना इत्यादि ।

उपर्युक्त उदारहरण में प्रसिध्द दण्ड को देखकर दण्ड के सादृश्य से दण्डक रोग का प्रकाशन करना तथा धनुष के सादृश्य से अप्रसिद्ध धनुस्तम्भ का प्रकाश करना उपमान प्रमाण द्वारा ज्ञातव्य है । जैसे किसी छात्र को अध्ययन काल में गुरु ने बतलाया कि दण्डक रोग में शरीर दण्ड के समान अकड़ जाता है, यह रोग उस विद्यार्थी के अध्ययन जीवन में कभी देखने में नहीं आया हो, किंतु कार्यकाल में या व्यवहार में वह जब किसी रोग में शरीर को दण्ड के समान स्तब्ध हुआ देखे तो उसे ज्ञात हो जाता है कि यह और ऐसा दण्डक रोग होता है । इसी प्रकार धनुष के सादृश्य से धनुस्तम्भ नामक व्याधि का, माष के सादृश्य से मस्से का, तिल के सादृश्य से तिल का, विदारी कन्द के सादृश्य से विदारी रोग का ज्ञान प्राप्त करता है । जिस प्रकार एक श्रेष्ठ अभ्यस्त धनुर्धारी अपने लक्ष्य का वेध करने में कभी असफल नहीं होता, उसी प्रकार क्रिया कुशल वैद्य अपने कार्य में अर्थात् आरोग्य लाभ कराने में असफल नहीं होता । यह ज्ञान अर्थात् इष्वासु के कार्यसिध्दि के सादृश्य से आरोग्य दाता वैद्य का ज्ञान प्राप्त करना उपमान प्रमाण द्वारा सम्भव है ।

नैय्यायिकों द्वारा स्वीकृत यह तीसरा प्रमाण है । अनेक आचार्यों एवं दर्शनों ने इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है । वैशेषिक, सांख्य, योग्य, बौध्द तथा जैन दर्शन के विद्वान इस प्रमाण को स्वतन्त्र रुपेण प्रथक् नहीं मानते । श्री दिङ्नागाचार्य ने उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही इसका अन्तर्भाव कर लिया है । वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान प्रमाण में ही इसे समाविष्ट कर लिया है । कुछ आचार्यों ने उपमान

को शब्द प्रमाण से भिन्न न मानकर उसी के अन्तर्गत इसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन के विद्वान् उपमान का अस्तित्व शब्द पूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अनेक दर्शनों ने उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र न मानकर विभिन्न प्रमाणों में इसकी सत्ता स्वीकार की है। केवल न्याय दर्शन ही उपमान प्रमाण के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द में उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। क्योंकि यह इन तीनों प्रमाणों से भिन्न सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्ववान् है। इन तीनों में से कोई भी प्रमाण उपमान द्वारा साधित अभीष्ट की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं है। सिध्दान्तमुक्तावलि में उन सभी मतों का खण्डन किया गया है जो उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण न मान कर किसी अन्य प्रमाणों में उसका अन्तर्भाव करते हैं। न्याय दर्शन ने प्रत्यक्ष एवं अनुमान के पश्चात् इसे तीसरा प्रमाण स्वीकार किया है।

अर्थापत्ति प्रमाण निरुपण

इसे अर्थ प्राप्ति प्रमाण भी कहते हैं। महर्षि चरक ने इसका निम्न लक्षण किया है—

अर्थप्राप्तिर्नाम-यत्रै केनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यार्थसिद्धिः। –च०वि० ८

"अर्थात् अर्थप्राप्ति प्रमाण उसे कहते हैं जहां एक अर्थ के कहने से अनुक्त (बिना कहे) अन्य अर्थ की सिध्दि हो। जैसे यह व्याधि संतर्पण साध्य नहीं है, ऐसा कहने से दूसरे अर्थ का बोध होता है कि अपतर्पण साध्य है। इसी प्रकार 'इस रोगी को दिन में नहीं खाना चाहिए' ऐसा कहने से 'रात्रि में खाना चाहिए' इस अपर अर्थ की सिध्दि होती है।

वेदान्ती और मीमांसक लोग पांचवे प्रमाण के रूप में इसे स्वीकार करते हैं। वेदान्त और मीमांसा दर्शन में स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। दोनों दर्शनों के मतानुसार स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति का ग्रहण यथार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक है। इस प्रमाण के द्वारा हमें एक अज्ञात तथ्य के ज्ञान की उपलब्धि होती है। क्योंकि किसी कही गई बात के द्वारा उस से सम्बन्धित अनकही बात का ज्ञान कराना ही अर्थापत्ति प्रमांण का उद्देश्य है। जैसे-देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता, फिर भी वह मोटा है। यहां पर अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है कि देवदत्त यद्यपि दिन में खाना नहीं खाता है, किंतु रात्रि में खाता है। क्योंकि खाना खाए बिना वह मोटा नहीं हो सकता। अतः यहां पर देवदत्त का रात्रि में खाना खाना अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही सिध्द होता है। इसी प्रकार किसी को यह कहा गया कि बन्द कर दो। यहां पर जिस व्यक्ति को बन्द करने का निर्देश दिया गया है उसे यद्यपि यह नहीं कहा गया कि क्या बन्द कर दो। किंतु फिर भी वह

अनकहे दरवाजे के विषय में संकेत को समझकर दरवाजा बन्द कर देता है। उक्त व्यक्ति के लिए यहां पर दरवाजे का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही सम्भव मानते हैं। एक अन्य उदाहरण के अनुसार प्रातः काल सोकर उठने पर देखा कि सारी जमीन गीली है। इस भीगी हुई जमीन को देखकर यह ज्ञान सहज ही हो गया कि रात्रि में में वर्षा हुई होगी। इस ज्ञान में अर्थापत्ति प्रमाण ही कारण है। किसी व्यक्ति के घर जाकर पूछने पर पता चला कि वह घर में नहीं है। इससे सहज ही यह सोच लिया या समझ लिया जाता है कि वह कहीं बाहर गया होगा। इस प्रकार की अनेक घटनाएं प्रतिदिन हमारे दैनिक जीवन में हुआ करती हैं जो अर्थापत्ति प्रमाण पर आधारित रहती हैं।

न्याय दर्शनानुयायी लोग इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव कर लेते हैं। क्योंकि इसमें किसी प्रत्यक्ष किये हुए अर्थ का अनुमान उसके नित्य संबंध के द्वारा करते हैं। अतः वे इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की अवश्यकता अनुभव नहीं करते।

अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण

वर्तमान समय में अभीष्ट स्थान पर अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि न होना अनुपलब्धि प्रमाण कहलाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु का निश्चित स्थान पर न होना अभाव कहलाता है। कुमारिल भट्ट के मतानुयायी मीमांसक लोग तथा वेदान्ती इसे छठे प्रमाण के रुप में स्वीकार करते हैं। इस प्रमाण के द्वारा हमें वस्तु के अभावात्मक विषय का ज्ञान होता है। जैसे-यहां पर दावात नहीं है। ऐसा कहने पर हमें दावात का अभावात्मक ज्ञान हुआ। यद्यपि दावात का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है और प्रयत्न करने पर वह यहां लाई भी जा सकती है। किंतु वर्तमान में यहां स्थित न होने के कारण उसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। अथवा यहां पर उसका अभाव है। अतः दावात की अनुपलब्धि अथवा अभाव का ज्ञान हमें अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण द्वारा हुआ।

मीमाँसक और वेदान्ती लोग इसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर स्वतन्त्र रुप से इसे छठा प्रमाण मानते हैं। किन्तु नैयायिक लोग इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष में इसका अन्तर्भाव करते हैं। नैयायिकों के मतानुसार जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण किया जाता है उसी इन्द्रिय के द्वारा उसके अभाव का भी ज्ञान होता है। अतः प्रस्तुत अनुपलब्धि ज्ञान अभावात्मक होने के कारण इन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है और इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के कारण प्रत्यक्ष में ही समाविष्ट है। अतः अनुपलब्धि या अभाव नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

सम्भव प्रमाण

जिसके द्वारा किसी वस्तु का कथन करने पर उसके एक देश का ज्ञान न होकर उससे सम्बन्धित समस्त अवयवों का ज्ञान होता है वह सम्भव प्रमाण कहलाता है। जैसे चाकू कहने पर उसमें लगे हुए लोहे के फल तथा लकड़ी के पट आदि का भी ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार पेन शब्द का व्यवहार करने पर उसके साथ पेन से सम्बन्धित निब,जीभ,ट्यूब आदि सभी अवयवों का ज्ञान हो जाता है। इस तरह एक शब्द के द्वारा उसके सम्पूर्ण अवयवों का ज्ञान कराने वाला सम्भव नामक प्रमाण होता है। इस सम्भव प्रमाण को पौराणिक लोग स्वतन्त्र रुप से सातवें प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु अन्य विद्वान एवं दर्शन इसे स्वतन्त्र न मानकर प्रत्यक्ष में इसका समावेश करते हैं।

एतिह्य प्रमाण

पौराणिक लोग स्वतन्त्र प्रमाण के रुप में इसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार यह प्रमाण किसी अन्य प्रमाण में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। किंतु सभी दर्शनों ने एतिह्य प्रमाण को स्वतन्त्र रुप से न मानकर आप्तोपदेश में ही इसका समावेश का कर लिया है। क्योंकि आप्तोपदेश के द्वारा जिस विषय का ज्ञान होता है उसी का प्रतिपादन एतिह्य प्रमाण द्वारा किया जाता है। एतिह्य शब्द का शाब्दिक अर्थ भी आप्तोपदेश से मिलता हुआ है। एतिह्य शब्द का विश्लेषण करने पर इसमें तीन शब्दों का सामूहिक रुप दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार आप्तोपदेश शब्द का विश्लेषण करने पर उसमें दो शब्दों का सामूहिक रुप परिलक्षित होता है। जैसे एतिह्य शब्द की निष्पत्ति के लिए "इति+ह+ऊचुः" अर्थात् ऐसा निश्चय पूर्वक कहा गया है।

इसी प्रकार आप्तोपदेश में 'आप्त+उपदेश' अर्थात् आप्त पुरुषों के जन-कल्याणकारी सत्य वचन। इस प्रकार एतिह्य और आप्तोपदेश समानार्थवाची शब्द हैं। पौराणिक लोगों के अनुसार एतिह्य के अन्तर्गत दो प्रकार के वचन होते हैं—

१—एक तो वे वचन जो प्रचीन ऋषि महर्षियों ने स्वानुभूत सत्य ज्ञान के आधार जन सामान्य को उपदेश रूप में प्रदान किए। महर्षियों के दिव्यामृत स्वरूप उस उपदेशात्मक ज्ञान को लिपिबद्ध कर लेने के कारण वह ज्ञान आज हमारे समक्ष शास्त्र या ग्रथों के रूप में विद्यमान है। लिखित रूप में होने के कारण इसे प्रमाण माना जाता है। कुछ दर्शन ऐतिह्य को इसी आधार पर आप्तवचन या आप्तोपदेश कहते हैं। क्योंकि केवल उन्ही महापुरुषों या सत् पुरुषों के वाक्यों को प्रमाण माना जासकता है जो विभिन्न विकार, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषाय एवं राग-द्वेष

आदि भावों से रहित होकर जन कल्याण की भावना से प्रेरित होकर उपदेश देते थे। इस दृष्टि से आप्तोपदेश और एतिह्य में कोई अन्तर नहीं है।

२—एतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत दूसरे प्रकार के वे वचन आते हैं जो वंश परम्परा, वंशानुक्रम अथवा रूढ़ि परम्परा से चले आ रहे हैं। इस प्रकार एतिह्य स्वयं एक परम्परा है। हमारी बहुत सी धारणाएँ आज अतीत कालीन परम्परा एवं अन्ध विश्वासों पर आधारित हैं। पौराणिक लोग परम्परा पर आधारित एतिह्य को ज्ञान का कारण मानते हुए उसे प्रमाण मानते हैं। किन्तु इन परम्पराओं, अन्ध विश्वासों रूढ़िगत धारणाओं एवं अप्रमाणिक वचनों पर आधारित इस प्रकार के एतिह्य को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसे वचनों की प्रमाणिकता संदिग्ध रहने के कारण वे वचन ग्राह्य नहीं होते।

नैयायिकों के मतानुसार एतिह्य को स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित नहीं है। क्योंकि इसमें रूढ़ि परम्परा एवं भ्रान्ति पूर्ण धारणा पर आधारित शब्दों का समावेश रहता है। अतः एतिह्य एक प्रकार का शब्द है और शब्द प्रमाण नहीं है। इस दृष्टि से एतिह्य भी प्रमाण नहीं है।

वस्तुतः एतिह्य के अन्तर्गत वंश परम्परा, वंशानुक्रम, रूढ़ि परम्परा अथवा भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं पर आधारित एवं अतीत काल से चली आ रही बातों का समावेश नहीं करना चाहिए। क्यों उनकी सत्यता एवं प्रामाणिकता संदिग्ध होने के कारण वे वचन मिथ्या भी हो सकते हैं। अतः एतिह्य प्रमाण द्वारा आप्त पुरुषों के वचनों का ग्रहण करना ही अधिक समीचीन है।

शब्द प्रमाण

कुछ दार्शनिक विद्वान आप्तोपदेश अथवा एतिह्य के स्थान पर शब्द को प्रमाण मानते हैं। शास्त्र-पुराण आदि के यथार्थ वचनों का समावेश न तो प्रत्यक्ष में किया जा सकता है, न अनुमान में और न ही किसी अन्य प्रमाण में। अतः शब्द एक पृथक् प्रमाण है और स्वतंन्त्र प्रमाण के रूप में इसका अस्तित्व है। इस तथ्य के आधार पर न्याय दर्शन में शद्ब को स्वतंन्त्र प्रमाण स्वीकार किया गया है। किन्तु सभी प्रकार के शब्द यथार्थ ज्ञान कराने में कारण नहीं होते। अतः सभी प्रकार के शब्दों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। न्याय सूत्र के अनुसार वे शब्द ही ग्राह्य एवं प्रमाण हैं जो आप्त पुरुषों के वाक्य या आप्तोपदेश रूप में होते हैं। यथा "आप्तोपदेशः शब्दः"-न्या. सू.। इस दृष्टि से अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत आप्तोपदेश प्रमाण एवं न्याय दर्शनोक्त शब्द प्रमाण में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। न्याय शास्त्र के अनुसार सत्य वचन का प्रति-

बादन करने वाले आप्त पुरुषों ने अपने प्रत्यक्ष के आधार पर जो यथार्थ ज्ञान उपलब्ध किया उसे उन्होंने जन सामान्य के कल्याण के लिए उपदेश रूप में प्रसारित किया। उन्हीं के वाक्य या शब्द प्रमाणान्तर्गत समाविष्ट हैं। क्योंकि "आप्तस्तु खलु यथार्थ-वक्ता" अर्थात् यथार्थ बोलने वाला ही आप्त होता है। उसी का वचन प्रमाणित होता है। इसका विशेष विवेचन आप्तोपदेश प्रमाण वाले प्रकरण में देखना चाहिए।

शब्द के भेद—शब्द सामान्यत: तीन प्रकार के होते हैं। यथा-लौकिक शब्द, वैदिक शब्द और साधारण शब्द। इनमें लौकिक शब्द वे होते हैं जो लौकिक पुरुषों द्वारा उच्चारित किए जाते हैं। यथार्थ वक्ता पुरुषों के वचन ही लौकिक शब्द कह-लाते हैं। अत: आप्त पुरुष, महापुरुष एवं सत् पुरुष के वाक्य ही लौकिक शब्द में समा-विष्ट हैं। दूसरे प्रकार के वैदिक शब्द वे होते हैं जिनका उल्लेख केवल वेदो में किया गया है। अत: वेद वाक्य ही वैदिक शब्द कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के शब्द वे होते हैं जो साधारण व्यक्तियों द्वारा अपने दैनिक व्यवहार में प्रयोग किए जाते हैं। जन सामान्य इन शब्दों का व्यवहार करने का अधिकारी है। इन तीन प्रकार के शब्दों में न्याय दर्शन प्रारंभिक दो शब्दों को ही प्रमाण मानता है। आप्त वाक्य एवं वेद वाक्य इन दोनों प्रकार के शब्दों में यथार्थ प्रतिपादन होने से ये प्रमाण हैं।

शब्द को प्रमाण मानने वाले दर्शनों में यद्यपि न्याय दर्शन प्रमुख है। इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन, योग दर्शन, मीमांसा दर्शन एव वेदान्त दर्शन इन सभी ने इसका समर्थन किया है, किन्तु वे इस विषय में न्याय दर्शन से कुछ मत भिन्नता रखते हैं। अर्थात् उपर्युक्त चार दर्शन केवल वैदिक शब्द को ही प्रमाण मानते हैं। क्योंकि वेद अनादि और अपौरुषेय हैं। उनकी रचना किसी पुरुष विशेष द्वारा नहीं की गई अपितु वे ईश्वरकृत एवं स्वयं प्रकाशित ज्ञान रूप हैं।

चेष्टा का प्रमाण

चेष्टा प्रमाण वह होता है जिनमें मुख की आकृति शरीर की चेष्टाएँ अथवा मुख पर प्रकट होने वाले भावों द्वारा यथार्थ बात का ज्ञान किया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति के क्रुद्ध होने का भाव उसके मुख पर प्रकट हो जाता है और उससे उसके क्रोधी होने के भाव का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार किसी के द्वारा कोई अरुचिकर अथवा कड़वी वस्तु खा लेने पर उसकी मुखाकृति के द्वारा वस्तु के प्रति उसकी अरुचि का ज्ञान होता है। गूंगा व्यक्ति अपने शरीर की विभिन्न चेष्टाओं द्वारा अपने मनो-भावों को प्रकट करता है और उसकी चेष्टाओं द्वारा अन्य व्यक्ति उसके अभीष्ट मनोभावों को समझ लेते हैं। इस प्रकार मुखाकृति, शरीर की चेष्टाएँ आदि के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह चेष्टा प्रमाण कहलाता है।

तांत्रिक लोग इस प्रमाण के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और इसे स्वतंत्र नौवां प्रमाण मानते हैं। किन्तु सभी दर्शनों ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान के अन्तर्गत इसका समावेश कर लिया है।

परिशेष प्रमाण

परिशेष प्रमाण वह कहलाता है जिसमें विभिन्न प्रकार के पदार्थों में से अथवा किसी समूह विशेष के अन्दर से किसी एक वस्तु को छांटकर निकाल लिया जाता है। जैसे किसी भीड़ में से अपने परिचित व्यक्ति को खोज निकालना अथवा गेहूं के दानों में से मिट्टी के कणों को बीन कर निकालना इत्यादि।

इसे दसवें प्रमाण के रूप में कुछ लोग स्वीकार करते हैं। दर्शनिक विद्वज्जन इसका स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण में ही इसका अन्तर्भाव कर लेते हैं।

चतुर्दश अध्याय

सृष्टि उत्पत्ति क्रम एवं तत्व निरूपण

तत्व शब्द का सामान्य अर्थ होता है वह मूल द्रव्य जिसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई अथवा सृष्टि की उत्पत्ति एवं विनाश के साथ जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्याकरण के अनुसार तत्व शब्द की निष्पत्ति 'तनु विस्तारे' धातु से हुई है। अतः तत्व के शाब्दिक अर्थ के अनुसार सम्पूर्ण संसार जिसके विस्तार से आच्छादित है अथवा सम्पूर्ण चराचर जगत में जो व्याप्त होकर स्थित है वह तत्व कहलाता है।

तत्व के विषय में विभिन्न दर्शनों ने अपने अपने सिद्धान्तानुसार भिन्न भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत कर भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया है। इस विषय में में दर्शन शास्त्र एक मत स्थापित नहीं कर पाए हैं। सांख्य दर्शन में तत्वों का विवेचन सुव्यवस्थित रूप से उपलब्ध होता है। उसके मतानुसार मूल प्रकृति 'अव्यक्त' ही वह सर्व प्रथम तत्व है जिससे अन्य व्यक्त तत्व एवं सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस सन्दर्भ में सांख्य दर्शन २५ तत्वों का अनुमोदन करता है। वैशेषिक दर्शन में भी किंचित् परिवर्तन के साथ उन्हीं तत्वों को स्वीकार किया गया है। किन्तु वह तत्वों की कुल संख्या २४ मानता है। वेदान्त दर्शन तथा उपनिषद् कालीन दार्शनिक विद्वान एक मात्र परमतत्व 'ब्रह्म' को ही स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त जगत् मिथ्या है–"**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।**" मीमांसा दर्शन सूत्रकार जैमिनी का मत इस से ठीक विपरीत है। उनके मतानुसार सम्पूर्ण बाह्य जगत सत्य है। अर्थात् जैसा वह दृष्टिगत होता है वैसा ही और यथार्थ रुप है। जैमिनी के मतानुसार आत्मा अनेक हैं और स्वर्ग का अस्तित्व विद्यमान है। किन्तु स्वर्ग में प्राप्त होने वाला सुख ऐश्वर्य एवं भोगोपभोग संसार के भोगों की भांति ही भौतिक हैं। वे वेदों का प्रामाण्य भी स्वीकार करते हैं। चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित तत्वो की व्यवस्था अन्य दर्शनों से सर्वथा भिन्न है। वह पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार को ही जगत् के लिए उपयोगी मानता है। गीता में संसार के लिए मुख्य रूप से तीन तत्वों का ही वर्णन किया गया है। यथा–प्रकृति, पुरुष और अमृत तत्व। ये तीन तत्व ही संसार के उत्पादक एवं नियामक हैं। जैन दर्शन में स्वीकृत तत्व व्यवस्था मुख्यतः आत्मोत्कर्ष परक है। आत्मा की शुद्धि एवं तदनन्तर उसकी मुक्ति के लिए ही तत्वों का विशेष महत्व है। जैन दर्शन में स्वीकृत तत्व व्यवस्था

जैन दर्शन की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक नहीं है। उसके मतानुसार सृष्टि तो अनादि काल से इसी प्रकार चली आ रही है और अनादि काल तक इसी प्रकार चलती रहेगी। जैन तत्व मीमांसा के अन्तर्गत स्वीकृत तत्वों की संख्या क्रमशः दो, पांच, सात और नौ है। दो तत्व यथा—जीव और अजीव। पांच तत्व यथा—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। सात तत्व यथा—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन सात तत्वों में पुण्य और पाप इन दो तत्वों को मिला लेने से तत्व संख्या नौ हो जाती है। तत्वों के इस संख्या विभाजन में भी सात तत्व विशेष महत्वपूर्ण हैं और इन्हीं सात तत्वों पर जैन दर्शन में विशेष जोर दिया है। इन तत्वों का सम्यक् श्रद्धान एवं सम्यक् ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है।

आयुर्वेद में जो तत्व व्यवस्था स्वीकार की गई है वह बहुत कुछ सांख्य दर्शन से समानता रखती है। कहीं कहीं उसी के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन के मत को भी ग्रहण कर लिया गया है। आयुर्वेद सम्मत तत्व मीमांसा प्रत्यक्षतः आयुर्वेद के मूल उद्देश्य 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं आतुरस्य च विकारप्रशमनम्' को प्रमाणित करती है और इसी उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के उत्पत्तिक्रम में भाग लेने वाले २५ तत्व होते हैं। इन पच्चीस तत्वों का सम्यक् ज्ञान जिसे हो जाता है वह किसी भी आश्रम का पुरुष हो, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, चाहे सन्यासी हो, चाहे गृहस्थ हो, वह (तीन प्रकार के) दुःखों से अवश्य ही मुक्त हो जाता है। इसमें कोई संशय नहीं है। आचार्यों ने इसी तथ्य का प्रतिपादन निम्न श्लोक में किया है—

पंचविंशतितत्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥

—सं० शि० सं० ६/११

सृष्टि की उत्पत्ति

आदि मूलतत्व अव्यक्त—

"सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम्।"

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान अ० १

अर्थात् जो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है, किन्तु स्वयं अकारण है (किसी अन्य तत्व से उत्पन्न न होने के कारण स्वयं कारण रहित है), सत्व-रज-तम इन तीनों लक्षण वाला है, (महदादि तत्वों से युक्त होने के कारण) अष्टविध रूप वाला है और

सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति में कारण है वह अव्यक्त' नामक तत्व है। वह एक अव्यक्त अनेक क्षेत्रज्ञों (पुरुष-आत्मा) का अधिष्ठान है। जिस प्रकार एक समुद्र अनेक जलचर प्राणियों का आधार (आश्रय) होता है, उसी प्रकार एक अव्यक्त भी असंख्य क्षेत्रज्ञों का आश्रय होता है।

महान् और अहंकार तत्व की उत्पत्ति—

"तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव, तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लिङ्ग एवाहंकार उत्पद्यते। स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति।"

अर्थात् उन्हीं तीन (सत्व-रज-तम) लक्षणों वाले अव्यक्त से उन्हीं तीन लक्षणों से युक्त महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। उस महत् तत्व से उन्हीं तीन लक्षणों वाला अहंकार तत्व उत्पन्न होता है। त्रिविध (सत्व-तम-रज) लक्षणों से युक्त वह अहंकार तीन प्रकार का होता है—वैकारिक, तेजस और भूतादि।

इन्द्रियों की उत्पत्ति—

"तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससाहाय्याच्च तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पंच बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पंच कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः।"

अर्थात् तैजस अहंकार की सहायता से वैकारिक अहंकार से उन्हीं तीन (सत्व-रज-तम) लक्षणों वाली ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। वे निम्न प्रकार हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक् (वाणी), हस्त, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय), पायु (गुद-मलेन्द्रिय), पाद और मन। इनमें से पहले वाली पांच ज्ञानेन्द्रियां अन्य पांच कर्मेन्द्रियां और मन उभयात्मक होता है।

पंचतन्मात्राओं एवं महाभूतों की उत्पत्ति—

"भूतादेरपि तैजससाहाय्यात्तल्लक्षणान्येव पंचतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा-शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गंधतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरस गंधाः। तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः। एवमेषा तत्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता।"

अर्थात् तैजस अहंकार की सहायता से भूतादि अहंकार से उन्हीं तीन (सत्व-रज-तम) लक्षणों वाली पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा। इन पंचतन्मात्राओं के विशेष शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध होते हैं। इन तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। जैसे—आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथ्वी। इस प्रकार चौबीस तत्वों का वर्णन किया गया।

इन चौबीस तत्वों के संयोग से शरीर का निर्माण होता है। इस चतुर्विंशति तत्व

समुदायात्मक शरीर को क्षेत्र कहते हैं। आत्मा या पुरुष इस शरीर रूपी क्षेत्र में स्थित रहता है। इसलिए उसे (आत्मा को) क्षेत्रज्ञ कहते हैं। चतुर्विंशति तत्वों के समुदाय से निर्मित शरीर जड़ एवं अचेतन होता है। उसे चेतना प्रदान करने वाला पच्चीसवां तत्व पुरुष (आत्मा) होता है। यह पुरुष महदादि कार्य रूप विकार और कारण मूल प्रकृति से संयुक्त होकर प्रवर्तक होता है। यद्यपि प्रधान (अव्यक्त-प्रकृति) अचेतन है तथापि जिस प्रकार अचेतन दूध वत्स की वृध्द के लिए प्रवृत्ति करता है। उसी प्रकार अचेतन प्रधान भी पुरुष के कैवल्यार्थ अर्थात् मोक्षार्थ, प्रवृत्ति करता है। महर्षि सुश्रुत भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

"तत्र सर्व एवाचेतनवर्गः पुरुषः पंचविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्त श्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्राधानस्य पुरुषकैवल्या प्रर्थवृत्तिमुपदिशन्ति शरीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद ने सांख्य मत के जिस सिध्दांत का अनुसरण किया है उसके अनुसार सृष्टि के आदि मूल तत्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष। इन में भी पुरुष अपरिणामी (परिवर्तन शून्य) एवं निर्विकार है। इसके वेप-रीत प्रकृति परिणामी है और उसमें उत्तरोत्तर परिवर्तन होकर विकार रूप महादादि तत्वों का प्रादुर्भाव होता है। इनमें प्रकृति के नाम से जाना जाने वाला मूल तत्व अव्यक्त और उससे समुत्पन्न शेष महदादि अन्य तत्व व्यक्त होते हैं। पुरुष इन दोनों ही प्रकार के तत्वों से सर्वथा भिन्न निर्विकार रूप होता है। अव्यक्त से व्यक्त तत्वों की उत्पत्ति होने वाली क्रिया में पुरुष का कर्म केवल इतना है कि वह प्रकृति के साथ विद्यमान रहता है। यद्यपि पुरुष का अपना कोई कार्य नहीं है। अर्थात् उससे कोई तत्व या द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। परन्तु प्रकृति से उत्तरोत्तर जो कार्य द्रव्य उत्पन्न होते हैं उसमें उसका सानिध्य रहता है। पुरुष के सानिध्य से ही प्रकृति अन्य तत्वों के उत्पादन में समर्थ होती है।

तत्वों का वर्गीकरण

सांख्य दर्शन में प्रतिपादित पच्चीस तत्वों को ज्ञान की सुविधा के लिए निम्न चार वर्गों में विभाजित किया गया है—

१. **प्रकृति या मूल प्रकृति** — वह तत्व जो दूसरे तत्व को उत्पन्न करने में कारण होता है, किन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् उसको उत्पन्न करने वाला कोई कारण नहीं होता 'प्रकृति' कहलाता है। स्वयं कारण रहित होने से उसे मूल 'प्रकृति' अथवा विकार रहित होने से 'अविकृति' भी कहते हैं। संख्या में यह तत्व केवल एक होता है। आदि मूल तत्व अव्यक्त को ही प्रकृति या मूल प्रकृति कहते हैं।

२. **प्रकृति-विकृति**-जो तत्व अन्य तत्वों को उत्पन्न करता है वह प्रकृति और जो स्वयं दूसरे तत्वों से उत्पन्न होता है वह विकृति कहलाता है। अतः अन्य तत्वों को उत्पन्न करने के कारण तथा स्वयं किसी अन्य तत्व से उत्पन्न होने के कारण उसे 'प्रकृति-विकृति कहते हैं। तत्व मीमांसा में इनकी संख्या सात है। महान, अहंकार और पांच तन्मात्राएं – ये सात तत्व प्रकृति-विकृति कहलाते हैं।

३. **विकृति या विकार**—जो स्वयं दूसरे तत्वों से उत्पन्न होता है, किन्तु स्वयं किसी अ य तत्व को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है 'विकृति या विकार' कहलाता है। तत्व व्यवस्था में इनकी संख्या सोलह मानी गई है। ग्यारह इन्द्रियां और पांच महाभूत ये सोलह तत्व कार्यमात्र होने से विकार कहलाते हैं।

४. **न प्रकृति न विकृति**—जो न तो किसी तत्व को उत्पन्न करता है और न ही किसी अन्य तत्व से उत्पन्न होता है। स्वयं अनुत्पन्न होने से 'न विकृति' और किसी अन्य तत्व को उत्पन्न न करने से 'न प्रकृति' और न कार्य होने से उसे 'न प्रकृति न विकृति' कहते हैं। यह तत्व केवल एक मात्र 'पुरुष' होता है।

सांख्य कारिका में उपर्युक्त तथ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है–

मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

अर्थात् मूल प्रकृति (अव्यक्त) अविकृति, महदादि सात तत्व प्रकृति–विकृति, इन्द्रियादि सोलह विकार और पुरुष न प्रकृति न विकृति होता है।

प्रकृति या अव्यक्त

जो अन्य तत्वों को उत्पन्न करती है वह प्रकृति कहलाती है। यथा– **"तत्वान्तरोत्पादनत्वे प्रकृतित्वम्।"**

प्रकृति में अन्य तत्वों के उत्पादन की क्षमता रहती है। इसलिए वह कारण है। अन्य समस्त तत्व उसके कार्य हैं। समस्त तत्व उसी से उत्पन्न होने के कारण वह 'मूल प्रकृति' भी कहलाती है। वह स्वयं किसी का कार्य या विकार न होने से 'अविकृति' वाचक भी होती है। प्रकृति शब्द की परिभाषा भी इसी अर्थ को ध्वनित करती है। यथा—"प्रकरोतीति प्रकृतिः।"

प्रकृति का कोई स्वरुप विद्यमान न होने से अथवा उसकी अवस्था या वह स्वयं व्यक्त न होने से उसे 'अव्यक्त' संज्ञा से भी व्यवहृत किया जाता है। प्रकृति यद्यपि संसार के समस्त पदार्थों या कार्यद्रव्यों का कारण होती है, किन्तु वह कारण होते हुए भी व्यक्त नहीं होती। इसीलिए उसे 'अव्यक्त' संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। व्यक्त से भिन्न और और विपरीत धर्मावलम्बी अव्यक्त होता है। महदादि व्यक्त तत्वों में सामान्यतः जो धर्म होते हैं। वे अव्यक्त में कदापि नहीं होते।

व्यक्त सदैव उत्पत्ति और विनाशशील होता है। वह अव्यापक, सक्रिय, अनेक, स्वकारणाश्रित, प्रधान का ज्ञापक, सावयव और परतन्त्र होता है। इसके विपरीत अव्यक्त सर्वथा अहेतुमत्, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, अनवयव (अवयव रहित) और स्वतन्त्र होता है। अव्यक्त (प्रकृति) त्रिगुणात्मक होता है। अर्थात् अव्यक्त में सत्व, रज और तम तीन गुण विद्यमान रहते हैं। क्योंकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार जो गुण कारण में नहीं होते वे कार्य में भी स्वतन्त्र रूप से नहीं आ सकते। अन्तर केवल इतना होता है कि सृष्ट पदार्थों में ये गुण विषयावस्था एवं कार्यकर स्थिति में होते हैं किन्तु अव्यक्त (प्रकृति) में ये गुण साम्यावस्था एवं अकार्यकारी स्थिति में होते हैं। इसलिए प्रकृति का निम्न लक्षण सांख्य सूत्र में किया गया है--**'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"** अर्थात् सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है।

महत्तत्व

सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में अव्यक्त से उत्पन्न होने वाला प्रथम व्यक्त तत्व 'महत्' होता है। इसे महान् तत्व या बुद्धि तत्व भी कहते हैं। आयुर्वेद तथा दर्शन शास्त्रों में बुद्धि तत्व का प्रचलित प्रसिध्द सामान्य अर्थ 'ज्ञान' होता है। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में बुद्धि तत्व विशिष्टार्थवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कुछ आचार्यों के मतानुसार ज्ञान के बिना शब्द प्रयोग नहीं हो सकता। अतः सर्वव्यवहार शब्द प्रयोग का हेतु ज्ञान है। यह ज्ञान ही बुध्दि पदवाची है। यथा–**"व्यवहारस्यहेतुर्ज्ञानं बुध्दिः प्रकीर्तिता–"** अर्थात् प्रत्येक व्यवहार के कारण भूत ज्ञान को बुध्दि कहते हैं। दीपिकाकर के मतानुसार अनुव्यवसायगम्य ज्ञान ही बुध्दि है। विषय का ज्ञान व्यवसाय है और व्यवसाय का ज्ञान अनुव्यवसाय है। जैसे 'यह घट है' इस प्रकार के घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष व्यवसाय कहलाता है और उसके अनन्तर मुझे घट का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है–ऐसा जो ज्ञान होता है उस को अनुव्यवसाय कहते हैं। इस अनुव्यवसाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे बुध्दि कहते हैं। शिवादित्य के कथनानुसार आत्मा का आश्रय करके रहा हुआ जो प्रकाश है उसका नाम बुध्दि है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के प्रथम परिणाम महत्तत्व रूप अन्तःकरण विशेष को बुध्दि कहते हैं और निर्मल बुध्दि के विशेष परिणाम को ज्ञान कहते हैं। अर्थात् बाह्य ज्ञानेन्द्रिय द्वारा विषय देश में पहुंचकर घट, पट आदि विषय रूप में परिणत हुई बुद्धि को ज्ञान कहते हैं। स्वच्छ बुद्धि में स्थित ज्ञान से चैतन्य रूप पुरुष के भेद का ज्ञान न होने से "मैं जानता हूं" इस प्रकार का जो अभिमान होता है उसे 'उपलब्धि' कहते हैं। किन्तु न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान को पर्याय रूप माना गया है। यथा–'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तिरम्" (न्या० सू० १।१।१५) यथा—"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय

इति पर्यायाः" (वै० सू० ८-१२०)। आयुर्वेद शास्त्र में अध्यवसायात्मिका, व्यवसायात्मिका एवं निश्चयात्मिका तत्व को बुद्धि कहा गया है तथा उसकी गणना अन्तःकरण में की गई है। अर्थात् पुरुष (आत्मा) का ज्ञान, कर्म तथा उसके फल रूप भोग (सांसारिक दुःख-सुख) और अपवर्ग (मोक्ष) जिन साधनों की सहायता से होते हैं उन्हें करण कहा जाता है। ये करण दो प्रकार के होते हैं—बाह्य करण और अन्तःकरण। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां बाह्य करण कहलाते हैं। मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण कहलाते हैं। इनमें बुद्धि का कर्म अध्यवसाय अथवा निश्चय करना है। अर्थात् मन के द्वारा विषयों का ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् पुरुष जो निश्चय करता है कि यह करना चाहिए अथवा नहीं? वहां जाना चाहिए या नहीं? यह कहना चाहिये या नहीं? इत्यादि हित हित विषय का विवेक होना ही बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य हित का अनुसरण और अहित का परित्याग करता है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सांख्य मतानुसार बुद्धि तत्व प्रकृति का ही परिणाम है और यह दार्शनिक परिभाषा के अनुसार 'महत्तत्व' के नाम से व्यवहृत होता है। प्रकृति जब पुरुष से संयुक्त होती है तो अपनी अव्यक्तावस्था एवं त्रिगुण साम्यावस्था का परित्याग कर व्यक्त एवं त्रिगुण वैषम्ययुक्त अनेक तत्वों को उत्पन्न करती है। उन व्यक्त तत्वों में प्रथम तत्व होता है—महत् या महान्। यह बुद्धि तत्व भी कहलाता है। जैसा कि कहा गया है—

यदेतदविसृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्।
महत्तत्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्वमिहोच्यते॥

आयुर्वेद में बुद्धि और बुद्धि के कार्य के विषय में निम्न वर्णन उपलब्धहोता है—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽपि वा॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्॥

अर्थ—मन सहित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण होने के पश्चात् मन और बुद्धि का व्यापार होता है। विषय के ग्रहण होने के अनन्तर मन के द्वारा संकल्प किया जाता है कि गृहीत विषय गुण युक्त होने से ग्राह्य है अथवा दोष युक्त होने से त्याज्य है। तत्पश्चात् उस विषय के सम्बन्ध में स्थिर निश्चय होता है। वह निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। इसे ही अध्यवसाय भी कहते हैं।

अहंकार

प्रकृति (अव्यक्त) से उत्पन्न होने वाले व्यक्त तत्वों की परम्परा में दूसरा व्यक्त तत्व अहंकार है जो उपर्युक्त महत्तत्व से उत्पन्न होता है। महत्तत्व

की भांति यह भी त्रिगुणात्मक (सत्व, रज और तम से युक्त) होता है। अहंकार में तीनों गुणों की विषय रूपा स्थिति रहती है। गुणों की वैषम्यवस्था के कारण अहंकार तत्व मनुष्यों में ममत्व भावना का उत्पादक होता है। सामान्यतः 'अहं भावना को ही अहंकार कहने हैं। मनुष्यों में सामान्यतः अभिमान (स्वाभिमान) या स्वयं को दूसरों से पृथक् रखने की जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह अहंकार जनित ही होती है। सांख्यकारिका में अहंकार का अभिप्राय अभिमान ही ग्रहण किया गया है। यथा-
"अभिमानोऽहंकारः ।"

संसार के विभिन्न पदार्थों में मनुष्य का जो यह भाव उत्पन्न होता है कि मैं हूं, यह मेरा है, मैं इसका अधिकारी हूं, मैं इससे पृथक् हूं अथवा वह मुझ से भिन्न है इत्वादि भाव या वाक्य अहं भाव के द्योतक हैं और ये सब अहंकार से प्रेरित हैं। स्वाभिमानी व्यक्ति सदैव अपने अभिमान की रक्षा करता है और कभी भी वह परतन्त्रता स्वीकार नहीं करता। स्वतन्त्र प्रवृत्ति एवं स्वेच्छाचारी वृत्ति ही उसके स्वाभाव का गुण होता है। यह अहंकार का ही परिणाम है।

आयुर्वेद सम्मत सृष्टिक्रम—

आयुर्वेद के मतानुसार सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में चतुर्विंशति तत्वों का संयोग होता है। यथा—

**खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडशः ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥**

—चरक संहिता, शारीरस्थान १।६३-६४

अर्थ—ख आदि अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथवी इन पाँच महाभूतों के सूक्ष्म अंश (पांच तन्मात्राएं), बुद्धि (महान्), अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अहंकार ये आठ तत्व भूत प्रकृति कहलाते हैं।

विकार सोलह होते हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु,-जिह्व और घ्राण), पांच कर्मेन्द्रियां (हस्त, पाद, उपस्थ, गुद, वाक्), मन और उसके साथ पांच अर्थ (इन्द्रियों के विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ये विकार कहलाते है।

**जायते बुद्धिरव्याक्ताद् बुद्धयाहमिति मन्यते ।
परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ॥
ततः सम्पूर्ण सर्वांगो जातोऽभ्युदित उच्यते ।**

—चरक संहिता, शारीरस्थान १।६६-६७

अर्थात्—अव्यक्त से बुद्धि तत्व की उत्पत्ति होती है। जिसे सुश्रुत ने महान् या महत्तत्व की संज्ञा दी है। बुद्धि तत्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से सूक्ष्म महाभूत क्रम से उत्पन्न होते हैं। तब सम्पूर्ण अंग की उत्पत्ति होने पर 'जातः' अर्थात् उत्पन्न हो गया—ऐसा कहा जाता है।

आयुर्वेद में पंच महाभूत से ही इन्द्रियों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानी गई है। सांख्य दर्शन आदि में अहंकार से इन्द्रियां और तन्मात्राएं तथा तन्मात्राओं से पंच महाभूत की उत्पत्ति मानी गई है। आयुर्वेद में पंच महाभूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति होने से इन्द्रियाँ भौतिक मानी गई हैं, न कि अहंकारिक। अयुर्वेद सम्मत सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में अव्यक्त से महान्,-महान्, से अहंकार, अहंकार से पंच महाभूत, पंच महाभूतों से ग्यारह इन्द्रियाँ और सूक्ष्म तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं।

चरकानुमतचतुर्विंशति तत्व—

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १।१७

अर्थ—धातु भेद से अर्थात् प्रक्रकि विकृति भेद से यह (चिकित्साधिकृत पुरुष या कर्म पुरुष) पुरुष चौबीस तत्वों का समुदाय रुप है। आयुर्वेद में चौबीस तत्वों की राशि से उत्पन्न पुरुष को "राशि पुरुष" भी कहा गया है। चौबीस तत्व निम्न हैं—मन, दश इन्द्रियाँ, पांच अर्थ ये सोलह विकार और अष्ट धातुरुपा प्रकृति अर्थात् अव्यक्त, महान्, अहंकार और पंच महाभूत ये आठ प्रकृतियाँ और उपर्युक्त सोलह विकार मिल कर चौबीस तत्व होते हैं जो धातु पुरुष या राशि पुरुष को उत्पन्न करते हैं। यहाँ पंच महाभूतों का प्रकृति वर्ग में कथन होने से सूक्ष्म महाभूत अर्थात् पंच तन्मात्राओं का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ अव्यक्त पद से प्रकृति और पुरुष का संयुक्त रुप ग्रहण करना चाहिए, तब ही पुरुष का चतुर्विंशतिकत्व सिद्ध होता है। यदि अव्यक्त का अर्थ केवल प्रकृति ही ग्रहण किया जाय तो पुरुष में पंच विंशतिकत्व आ जायगा जो आयुर्वेद शास्त्र में ग्राह्य नहीं है। अतः अयुर्वेद सम्मत तत्व विनिश्चय सांख्य मत से सर्वथा है। भिन्न अव्यक्त पद यहां दोनों के लिए आया है। सामान्यतः अव्यक्त पद मूल प्रकृति के लिए ही ग्राह्य है। इस के साथ विकार का भी ग्रहण किया गया है। अतः यहां पुरुषोपहित प्रकृति समझना चाहिए। क्योंकि पुरुषाधिष्ठित प्रकृति से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सांख्य मतानुसार भी पंग्वन्ध न्याय से दोनों (प्रकृति-पुरुष) का संयोग होकर सर्ग की उत्पत्ति होती है। यथा-

पंग्वन्धवदु भयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः

—सांख्य कारिका २१

सांख्य दर्शन में मुख्य रूप से पच्चीस तत्वों का ग्रहण किया गया है। इन में प्रकृति आदि चौबीस तत्व अचेतन एवं पच्चीसवां तत्व 'पुरुष' को चेतन निरुपित किया गया है। इन में यह पुरुष ही भोक्ता है और प्रकृति भोग्या। यदि पुरुष का ग्रहण न किया जाय तो चेतना शून्य शरीर में रोग अरोग की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। आयुर्वेद शास्त्र का मुख्य उद्देश्य "स्वस्थस्य स्वास्थरक्षणं" और "आतुरस्य विकारप्रशनम्" है। यह कार्य तब ही सम्पन्न हो सकता है जब रोगारोग्य का कोई भोक्ता हो। अतः पुरुष का ग्रहण अनिवार्य रुपेण करना होगा। अतः महर्षि चरक द्वारा आयुर्वेद के मतानुसार प्रतिपादित चिकित्साधिकृत चतुर्विंशतिक पुरुष समीचीन एवं युक्ति युक्त है। इस तत्व समुच्य में अव्यक्त तत्व पुरुष संयुक्त प्रकृति का द्योतक है।

व्यक्त औरअव्यक्त में अन्तर एवं साम्य--

सृष्टि के उत्पत्ति क्रमान्तर्गत उपर्युक्त तत्व विवेचन में मुख्य रूप से दो प्रकार के तत्वों का वर्णन दृष्टि गत हुआ। प्रथम अव्यक्त तत्व और दूसरे उससे उत्पन्न होने वाले व्यक्त तत्व। दोनों ही प्रकार के तत्वों में कुछ धर्मों की असमानाता है और कुछ धर्मों की समानता। इसी का दिग्दर्शन सांख्यकारिका की निम्न कारिकाओं में किया गया है –

हेतुमदनित्यमव्यापी सक्रियमनेकाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परन्त्रतं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥
त्रिगुणमविवेकी विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानम्............................॥

अर्थ—हेतु वाल (उत्पद्यमान,) अनित्य (विनाश शील), अव्यापी (अव्यापक) सक्रिय, अनेकों में आश्रित (अनेक स्वकारणाश्रित), लिंग वाला (प्रधान का ज्ञापक) सावयव (अवयवयुक्त) और परतन्त्र (स्वकारणाधीन) तत्व को "व्यक्त" कहते हैं। इन धर्मों से विपरीत धर्मों वाला तत्व 'अव्यक्त' कहलाता है। अर्थात् अव्यक्त में व्यक्त तत्व के विपरीत निम्न धर्म होते हैं—अहेतुमत्, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, अनवयव और स्वतंन्त्र।

दोनों तत्वों (व्यक्त और अव्यक्त) के धर्मों में निम्न साम्य परिलक्षित होता है—दोनों ही तत्व त्रिगुणात्मक (सत्व-रज-तमो गुण वाले) होते हैं, दोनों ही तत्व अविवेकी, विषय सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी होते हैं।

प्रकृति-पुरुष का सन्धर्म्य

सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में भाग लेने वाले मुख्य रूप से दो तत्व हैं—प्रकृति और पुरुष। दोनों ही तत्वों के धर्मों में कुछ समानता होती है और कुछ असमानता। प्रकृति–पुरुष के जिन धर्मों में समानता होती है वह उनका साधर्म्य होता है और

जिन धर्मों में असमानता होती है वह वैधर्म्य। प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य या समान धर्मत्व निम्न है –

"उभावप्यनादी उभावप्यलिंगौ उभावपि नित्यौ उभावप्यपरौ उभौ च सर्वगताविति।"

–सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान, अ. १

अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि (आदि रहित) और अनन्त (अन्त रहित) हैं। दोनों अलिंग (लिंग रहित) और नित्य (अविनशी) हैं। दोनों ही अपर (इन दोनों के परे कोई पदार्थ नहीं) है और दोनों ही सर्वगत (सर्वव्यापी या विभु) हैं।

प्रकृति पुरुष या वैधर्म्य—

प्रकृति और पुरुष में अनेक धर्म ऐसे हैं जिनमें समानता नहीं है। धर्मों की यह असमानता ही वैधर्म्य कहलाता है। इसे तत्वों की विधर्मता भी कह सकते हैं। प्रकृति पुरुष का वैधर्म्य निम्न है—

"एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति। बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति।"

–सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान, अ० १

अर्थात् प्रकृति एक और अचेतन है। वह त्रिगुणा (सत्व-रज-तम गुणवाली) बीज धर्मिणी (महदादि तत्वों को बीज रुप में धारण करने वाली) और प्रसवधर्मिणी (महदादि विकारों को उत्पन्न करने वाली) है। यह अमध्यस्थ धर्मिणी (सत्वादिगुणों के प्रभाव में आनेवाली) है। इसके विपरीत पुरुष (आत्मा) अनेक, चेतन, सत्वादि गुणों से रहित, अबीजधर्मी, अप्रसवधर्मी और मध्यस्थ धर्मी है।

प्रकृति–पुरुष का साधर्म्य और वैधर्म्य निम्न वर्गीकरण द्वारा सुगमता पूर्वक समझा जा सकता है।

साधर्म्य		वैधर्म्य	
प्रकृति	**पुरुष**	**प्रकृति**	**पुरुष**
अनादि	अनादि	एका	अनेक
अनन्त	अनन्त	अचेतना	चेतन
अलिंग	अलिंग	त्रिगुणा	अगुण (गुण रहित)
नित्य	नित्य	बीजधर्मिणी	अबीजधर्मी
अपर	अपर	प्रसवधर्मिणी	अप्रसवधर्मी
सर्वगत	सर्वगत	अमध्यस्थधर्मिणी	मध्यस्थधर्मी

प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण—

सम्पूर्ण सृष्टि एक कार्य है। जहां कार्य होता है उसके मूल में कारण अवश्य

होता है। सृष्टि रूप कार्य का मूल कारण है प्रकृति और पुरुष का संयोग। जब तक प्रकृति और पुरुष का संयोग नहीं होता तब तक सृष्टि की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। न तो केवल प्रकृति ही इस सृष्टि रूप कार्य के निर्माण में समर्थ है और न केवल पुरुष के द्वारा की यह कार्य सम्भव है। प्रकृति यद्यपि सक्रिय (क्रियावती) है, किन्तु अचेतना होने के कारण वह स्वयं इस कार्य में प्रवृत्त नहीं हो पाती। इसी प्रकार पुरुष यद्यपि सचेतन है, किन्तु निष्क्रिय होने से उसकी भी इस कार्य में स्वतन्त्र प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। इसलिए चेतनावान् पुरुष से संयुक्त होकर प्रकृति अपनी क्रियाशीलता के कारण सृष्टि रुप कार्य में प्रवृत्त होती है, तब उससे महदादि तत्व प्रादुर्भूत होते हैं। प्रकृति स्वयं अचेतनावती या जड़ात्मिका होने से सृष्टि रूप कार्य की उत्पत्ति में कैसे प्रवृत्त होती है? इसको निम्न दृष्टान्तों द्वारा समझा जा सकता है—

(१) दूध स्वयं जड़ एवं अचेतन है, किंतु माता के गर्भ में जब सन्तान आती है तब से ही माता के स्तनों में दूध का संचय होने लगता है और सन्तानोत्पत्ति होने पर उसके पोषण एवं वृद्धि के लिए स्वतः ही माता के स्तनों से दूध की प्रवृत्ति होने लगती है। इसी प्रकार प्रकृति जड़ होने पर भी पुरुष के कैवल्य (मोक्ष) के लिए प्रवृत्त होती है। अर्थात् पुरुष से सयुक्त होकर रचना कार्य प्रारम्भ करती है।

(२) जिस प्रकार संसार को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिए कालचक्र सतत रूपेण चलायमान रहता है अर्थात् वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन ऋतुओं की प्रवृत्ति संसार के नियमित सन्तुलन के लिए स्वतः होती है, उसी प्रकार पुरुष को संसार के बन्धनों से छुटकारा दिलाने के लिए प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति होती है और उसके द्वारा सृष्टि चक्र अविकल रूप से चलता रहता है। इस प्रकार प्रकृति सृष्टि-रचना में स्वतः प्रवृत्त होती है।

(३) जिस प्रकार अभीष्ट सिद्धि के लिए मनुष्य विभिन्न कार्यों में स्वतः प्रवृति करता है प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा अभीप्सि अर्थ प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है उसी प्रकार पुरुष के अभीष्ट साधन अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रकृति अनेक प्रकार की सृष्टि रचना में स्वतः प्रवृत्त होती है और शरीर के माध्यम से उसे मोक्ष प्राप्त कराने का प्रयत्न करती है।

(४) जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों के लिए नृत्य गीत आदि में प्रवृत्त होती है और विभिन्न प्रकार के अपने हाव भाव के द्वारा दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति सृष्टि की सुन्दर रचना के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है और अपने विभिन्न रुपों द्वारा पुरुष को आकर्षित करने का प्रयत्न करती है।

इस प्रकार जब पुरुष प्रकृति की ओर आकर्षित होता है तो प्रकृति स्वयं पुरुष के साथ संयोग करती है। निष्क्रिय किन्तु सचेतन पुरुष के साथ सक्रिय जड़ात्मिका (अचेतन) प्रकृति का संयोग होने पर प्रकृति सृष्टि की रचना में प्रवृत होती है और स्वयं में बीज रूप से विद्यमान महान् आदि विकार तत्वों को उत्पन्न करती है। वहां प्रकृति को एक नाचने वाली सामान्य स्त्री के रूप में तथा पुरुष (आत्मा)को एक सामान्य पुरुष (मनुष्य) के रूप में समझने पर इसे भलीभांति समझा जा सकता है। जिस प्रकार नाचने वाली एक सामान्य स्त्री अपने अनेक प्रकार के चित्ताकर्षक हाव भावों एवं मनमोहक नाच गानों से दर्शकों का मनोरंजन कर उन्हें मुग्ध कर देती है और उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार प्रकृति भी विविध प्रकार के भोग्य विषयों द्वारा पुरुष को लुब्ध कर अपनी ओर आकर्षित करती है। पुरुष इन सांसरिक विषयों का उपभोग कर आनन्द का अनुभव करता है और फिर उन्हीं विषयों में रमण करता रहता है। उन विषयों की प्राप्ति न होने पर वह दुःख का अनुभव करता है और उन्हें प्राप्त करने का प्रयात्न करता है। इस प्रकार अहंकर से विमूढ़ होकर वह सृष्टि का कर्तृत्व अपने में ही मानने लगता है और इस मिथ्या एवं भ्रम पूर्ण प्रपंच में फंस कर पुनः-पुनः नवीन शरीर धारण करता है। जब तक पुरुष अहंकार से विमूढ़ होकर प्रकृति के माया जाल में फंसा रहता है तब तक मोहवशात् उसे मुक्ति नहीं मिलती है और कर्म-बंधन के कारण वह संसार में अनन्त काल तक आवागमन करता हुआ विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है। जब पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि वह तो स्वयं निर्विकार निरहंकार, त्रिगुणातीत, अकर्त्ता और चिदानन्द स्वरुप है। संसार के समस्त विषय उसे भटकाने वाले और उसकी लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्ति में बाधक हैं। वह संसार से सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र है, कर्त्री और त्रिगुणात्मिका तो प्रकृति है। प्रकृति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार वह स्वयं को संसार एवं प्रकृति से सर्वथा भिन्न समझने लगता है तब पुरुष स्वयं प्रकृति से विरक्त हो कर आतम स्वभाव में लीन हो जाता है। इस स्थिति में प्रकृति स्वयं पुरुष का संग छोड़ देती है। प्रकृति से रहित होकर पुरुष अपने केवल ज्ञान के प्रकाश पुंज से भासमान होकर केवलत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

पंचदश अध्याय

त्रिगुण निरूपण

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति में सक्रिय रुप से भाग लेने वाले तीन गुण हैं। यथा-सत्व, रज, तम। इन तीनों गुणों की समानता ही प्रकृति कहलाती है। जब इन तीनों का सन्तुलन ठीक रहता है तब तक प्रकृति का अस्तित्व रहता है। इन तीनों में न्यूनधिकता आ जाने अथवा सन्तुलन बिगड़ जाने से यह विकृति में परिवर्तित हो जाती है। विकृति में भी इन गुणों की व्यापकता रहती है। अतः सृष्टि के निर्माण में इनका महत्वपूर्ण योग रहता है।

सत्व, रज, तम, इन तीनों के लिए गुण शब्द अत्यन्त रूढ़ एवं प्रसिद्ध हो गया है। अष्टांग संग्रह के रचयिता आचार्य वाग्भट् ने भी इन्हें गुण की ही कोटि में रखकर इनके लिए महागुण शब्द का, प्रयोग किया है। किन्तु वस्तुतः गुरू, लघु आदि के सामान ये गुण नहीं हैं। ये तो द्रव्य हैं जिनमें गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इनके लिए गुण संज्ञा गौणी संज्ञा है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के निम्न मत दृष्टव्य हैं–

"लघुत्वादि, गुणयोगात् सत्वादित्रयं द्रव्यं, तत्र गुणशब्दस्तु पुरूषोपकरणत्वात्"

अर्थात् लघुत्वादि गुणों के योग से सत्व, रज, तम, ये तीनों द्रव्य हैं। इनमें गुण शब्द का व्यवहार पुरूष का उपकरण होने से है। अर्थात् ये सत्व, रज, तम, पुरूष के उपकरण हैं। अतः इनमें गुण शब्द का व्यवहार ही रहा है। गुण शब्द के अनेक मुख्य अर्थों में एक डोरी (रज्जु) तथा दूसरा राजा आदि के उपकरण (साधन) भूत अमात्य आदि गुण (अप्रधान) हैं। इनके साहृश्य से सत्व आदि को भी गुण कहा जाता है। क्यों कि ये सत्व-रज-तम पुरूष को उसी प्रकार जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि के बन्धन में बांधते हैं जैसे डोरी (रज्जू) से पशु बांधा जाता है। जिस प्रकार अमात्य (मंत्री) आदि राजा के सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करते हैं वैसे ही सत्व-रज-तम भी पुरूष (जीवात्मा) के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) रुप प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्यों के निम्न मत दृष्टव्य है–

"सत्वादीनि द्रव्याणि, नच वैशेषिकगुणाः, संयोगविभागवत्वात् लघुत्वगुरुत्व-चलत्वादिधर्मकत्वाच्च। तत्र शास्त्रे गुण शब्दः पुरूषोपकरणत्वात्।"– विज्ञानभिक्षु।

अर्थात् सत्वादि तीन द्रव्य हैं, वैशेषिक गुण नहीं। क्यों कि संयोग और

विभागवान् होने से तथा लघुत्व, गुरुत्व चलत्व आदि धर्म होने से ये द्रव्य हैं। शास्त्रों में सत्वादि के लिए गुण शब्द का व्यवहार इसलिए किया गया है कि ये पुरुष के उपकरण (साधन भूत) हैं। यह मत श्री विज्ञानभिक्षु का है।

"लघुत्वादिगुणयोगात् सत्वादित्रयं द्रव्यं, तत्र गुणशब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात्" –प्रसिद्ध वेदान्ती महादेवकृत वृत्ति। अर्थात् लघुत्वादि गुणों का योग होने से सत्वादि तीन (सत्व रज-तम) द्रव्य हैं। ये तीनों पुरुष के उपकरण (साधन) होने से इन में गुण शब्द का व्यवहार किया जाता है। यह मत प्रसिद्ध वेदान्ती श्री महादेव का है।

"सवत्रजस्तमांसि द्रव्यणि, न तु गुणा, संयोगविभागलघुत्वचलत्वगुरुत्वादि धर्मकत्वात् गुणशब्दप्रयोगस्तुरज्जुसाम्यात् पुरुषबन्धहेतुतयोपचारिकः।"

अर्थात्—सत्व-रज-तम ये तीनों द्रव्य हैं गुण नहीं, संयोग-विभाग, लघुत्व चलत्व-गुरुत्व आदि धर्म गुण होने से ये तीनों द्रव्य हैं। इन में गुण शब्द का प्रयोग रज्जु साम्य के कारण पुरुष बन्ध में हेतु होने से औपचारिक है। अर्थात् जिस प्रकार रज्जु को औपचारिक रूप से गुण कहा जाता है किन्तु वह पशु बंधन के लिए प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार सत्व आदि भी पुरुष का बंधन करते हैं और औपचारिकतावश उन्हें गुण कहा जाता है। वस्तुतः वे गुण नहीं है। यह मत अन्य दार्शनिक विद्वानों का है।

सत्व-रज-तम के लक्षण

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥
सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टभकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

अर्थ—गुण अर्थात् सत्व-रज-तम ये तीनों गुण क्रमशः प्रीत्यात्मक (सुखात्मक) अप्रीत्यात्मक (दुःखात्मक) और विषादात्मक (मोहात्मक) हैं। ये क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम के लिए हैं। ये अन्योन्याभिभव अर्थात् परस्पर एक दूसरे के धर्म से अभिभूत रहते हैं। ये अन्योन्याश्रय अर्थात् एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। ये अन्योन्यजनन अर्थात् एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले हैं। ये अन्योन्यमिथुन हैं। अर्थात् एक दूसरे से मिलकर रहने वाले हैं। ये अन्योन्यवृत्ति अर्थात् एक दूसरे में रहने वाले हैं। सत्व गुण लघु अर्थात् अंगो में लघुत्व उत्पन्न करने वाला और प्रकाश अर्थात् बुद्धि को प्रकाशित करने वाला है। रजो गुण उपष्टम्भक अर्थात् संघर्ष या उत्तेजना पैदा करने वाला और चल अर्थात् गतिशील या गति को उत्पन्न करने वाला है। तमो गुण गुरु अर्थात् गुरुत्व उत्पन्न करने वाला और वरणक अर्थात् आवरण करने वाला है। प्रदीप के समान मिलकर ये अपने गुण प्रकट करते हैं। आयुर्वेद के अनुसार सत्व-रज-तम ये तीनों निम्न धर्म वाले होते हैं—

सत्वं प्रकाशकं विद्धि, रजश्चापि प्रवर्तकम् ।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्यमिथुनप्रियम् ॥

—काश्यप संहिता, सूत्र स्थान अ० २८

निद्राहेतुस्तमः सत्वं बोधने हेतुरुच्यते ।

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान ४।३५

अर्थ—सत्व को प्रकाशक, रज को प्रवर्तक, तम को नियामक और तीनों को परस्पर मिलकर रहने वाला समझना चाहिए। तम निद्रा को उत्पन्न करने में कारण और सत्व जागृत करने में कारण समझना चाहिए।

सत्व गुण के लक्षण—

सत्व गुण का विशेष लक्षण लघुता (लाघव) है। लघुता के कारण ही द्रव्य उर्ध्वगति वाला होता है। जैसे – प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं की उर्ध्वगति का कारण सत्व गुण है। सत्व गुण वाय्वात्मक होता है, अथवा वायु की लघुता का कारण सत्व गुण है। लाघव के कारण ही द्रव्यों की तिर्यक् गति होती है। जैसे—वायु की गति।

सत्व का दूसरा मुख्य लक्षण है प्रकाशकत्व। अर्थात् यह प्रकाश उत्पन्न करने वाला अथवा द्रव्यों को प्रकाशित करने वाला होता है। शरीर में स्थित रहकर सत्व गुण बुद्धि को प्रकाशित करता है। यह ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, उभयेन्द्रिय (मन) बुध्दि और अहंकार इन तेरह करणों में परिलक्षित होता है। सत्व गुण इन तेरह करणों को प्रकाशमान करता है जिससे निर्मलज्ञान प्रस्फुटित होता है ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और मन की संरचना में भी सत्व गुण का बाहुल्य रहता है। बुध्दि और अहंकार में भी शेष दो गुणों के साथ सत्व गुण विद्यमान रहता है। उपर्युक्त त्रयोदश. करणों की अपने अपने विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति सत्व गुण के कारण होती है। सत्व गुण के इस वैशिष्टय या धर्म को प्रकाश या प्रकाशकत्व कहते हैं। इन्द्रियों में सत्व गुण की जितनी अधिकता होती है विषय प्रवृत्ति एवं ज्ञान ग्रहण क्षमता भी उनकी उतनी ही अधिक होती है। अपने कर्म सम्पादन में भी वे उतनी ही अधिक समर्थ होती हैं। इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति, ज्ञान ग्रहण क्षमता एवं स्वकर्म सम्पादन का सामर्थ्य सत्व गुण के लघुत्व के कारण होता है। चेतन द्रव्यों में सत्व गुण की अधिकता का प्रयोजन ज्ञान प्रकाश है।

सत्व गुण अनेक मानवीय प्रवृत्तियों एवं धार्मिक वृत्तियों का कारण होता है। सत्व गुण का परिणाम सुख होता है। सत्व गुण के उत्कर्ष (अधिकता) के कारण उत्पन्न मन की निर्मलता, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म, आदि सुखके कारण होते हैं। प्रसाद (इन्द्रियों की प्रसन्नता एवं निर्मलता), लाघव (स्फूर्ति, उत्साह), अनासक्ति (भोग-

विलास के प्रति विरक्ति), प्रीति (प्रसन्नता या सौहार्द भाव), क्षमा (क्रोधाभाव) सन्तोष, अनुकम्पा सरलता, मृदुता, लज्जा, विवेक आदि सद्गुण सुख के ही रूप एवं सत्व गुण के परिणाम विशेष हैं।

रजो गुण के लक्षण—

रजो गुण का विशेष लक्षण या धर्म हैं चलत्व। चलत्व का सामान्य अर्थ होता है गति शीलता अथवा प्रवृत्ति शीलता। इस चलत्व धर्म के कारण ही रजो गुण समस्त चेतन या अचेतन द्रव्यों की गति या प्रवृत्ति में कारण होता है। द्रव्यों में होने वाली गतिशीलता, प्रवृत्तिशीलता एवं क्रियाशीलता का मुख्य कारण रजो गुण है। मन का चांचल्य भी रजो गुण की अधिकता का ज्ञापक है। रजो गुण की बहुलता वाले, प्रवृत्ति वाले, कम निद्रा लेने वाले, तीव्र स्वभाव वाले और जल्दी जागने वाले (श्वाननन्द्रि:) होते हैं। रजो गुण वाले मनुष्य पैत्तिक प्रकृति वाले होते हैं, वे स्पष्ट वक्ता एवं तीखी वाणी वाले होते हैं।

यद्यपि सत्व गुण एवं तमोगुण अपने अपने विशेष कार्यों का सम्पादन करते हैं, किंतु वे तब तक अपने कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकते जब तक उन्हें रजोगुण प्रेरित न करे। अपने कार्यों को करने के लिए वे क्रियाशीलता रजोगुण से प्राप्त करते हैं। अतः रजो गुण ही संसार के समस्त पदार्थों को प्रेरणा प्रदान करने वाला होता है। रजो गुण का दूसरा धर्म 'उपष्टम्भक' इसी तथ्य का द्योतक है। उपष्टम्भक शब्द का अर्थ होता है—प्रवर्तक-प्रेरक-चालक।

रजोगुण का परिणाम दुःख होता है। अर्थात् मनुष्य को दुखः की अनुभूति या मन की खिन्नता का प्रतिपादक रजोगुण होता है। क्योंकि रजोगुण से प्रतिकूल वेदना होती है। मन के लिए प्रतिकूल वेदना ही दुःखजनक होती है। शोक, खेद, मान मद-मत्सर आदि इसी दुःख के रुप हैं। अतः अन्तर्मन में उत्पन्न होने वाले ये सभी भाव रजोगुण की अधिकता को निरुपित करते हैं। इन भावों की न्यूनाधिकता रजो गुण की न्यूनाधिकता पर निर्भर है।

रजोगुण का मुख्य प्रयोजन प्रवृति है। मनुष्य स्वभावतः शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है और उसके परिणाम स्वरुप वह शुभ या अशुभ बंध को बांधता है। शुभ या अशुभ बंध ही प्राणियों के जन्म या मरण का कारण है। ससार में पुनः पुनः जन्म धारण करने के कारण अनेक कष्ट उठाते हुये विभिन्न दुखों को सहना पड़ता है। अतः शुभाशुभ कार्यों में प्रवृति के कारण ही मनुष्य अन्त में जन्म-मरण आदि के द्वारा दुखों से पीड़ित होता है। इसीलिए रजो गुण का परिणाम दुःख कहा गया है। रजो गुण के कारण ही संसार का यह चक्र अनादि काल से चलता आ रहा है, अनन्त काल तक चलता रहेगा और पुरूष (आत्मा) इस में भ्रमण करता रहेगा।

इस प्रकार चलत्व (प्रवृत्ति शीलता), उपष्टम्भकत्व (प्रेरण या प्रवर्तन) और दुःख (प्रतिकूल वेदना) ये तीन लक्षण रजो गुण के निरुपित किए गए हैं।

तमो गुण के लक्षण—

तमो गुण का विशेष लक्षण है गुरुत्व। इसका अभिप्राय है गुरुता या भारीपन। यह लघुता का विरोधी गुण है। इसके कारण द्रव्यों में मन्दता, जड़ता (विषय-ग्रहण में असामर्थ्य) और निष्क्रियता होती है। यह गति एवं प्रवृत्ति में अवरोध उत्पन्न करने वाला होता है। निरोधात्मक होने के कारण यह अशुभ परिणाम कारक होता है। अचेतन द्रव्यों की रचना का मुख्य कारण उनकी तमोगुण प्रधान रचना है। चेतन द्रव्यों में भी तमो गुण की अधिकता होने पर मोह (अविद्या-अज्ञान-मिथ्या-ज्ञान) ,बुद्धि की अल्पता, इन्द्रियों की अपने विषयों में अल्प प्रवृत्ति एवं अल्प विषय-ग्रहण सामर्थ्य आदि विकार होते हैं। स्वाभिमान का अभाव, पराधीनता वृत्ति, भय की भावना आदि विकृतियां भी तमोगुण जनित होती हैं। मन का गौरव भी तमोगुण जनित होता है।

तमो गुण का दूसरा लक्षण आवरण है। इसका अभिप्राय यह है कि यह अपनी गुरुता के कारण सत्व गुण और रजो गुण को सदा दबाए रखता है, उनका नियमन-नियंत्रण करता हैं। इस स्थिति में जब कभी तमोगुण का उत्कर्ष (अधिक्या) होता है तो रजो गुण की प्रवृत्ति शीलता मन्द हो जाती है और द्रव्य यदि चेतन (प्राणी), हो तो वह सर्वथा निष्क्रया या मन्दक्रिया हो जाता है। इसी प्रकार तमोगुण के आवरण से सत्वगुण की भी ज्ञान ग्रहण शक्ति कुंठित हो जाती है और पुरूष को अज्ञान या मिथ्याज्ञान होता है। यह बुद्धि, मन, अहंकार और इन्द्रियों को आवृत्त कर उन्हें स्वकार्य प्रवृत्ति से रोकता हैं। इस प्रकार तमो गुण सत्व और रज का नियामक है।

तमो गुण की साम्यावस्था अर्थात् सत्वगुण एवं रजो गुण के साथ समानान्तर स्थिति प्रवृत्ति परक एवं सृष्टि की उत्पादक व नियामक होती है, किन्तु तमोगुण की परिवृद्धावस्था विकृति कारक एवं अहितकारक होती है। तमोगुण शरीर के प्राकृत कार्यों में अवरोध उत्पन्न करता है। साथ ही आत्मा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार का आवरण कर उन्हें अपने प्राकृत कार्यों से रोकता है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य में धी, धृति, स्मृति, मेधा का पर्याप्त विकास नहीं हो पाता। व्यक्ति का मानसिक विकास भी अवरुद्ध रहता है और मन का चांचल्य भाव आवृत रहने से समाप्त प्रायः हो जाता है।

तमो गुण का परिणाम अथवा तीसरा विशिष्ट लक्षण विषाद है। विषाद धर्म मोहात्मक होता है। अतः मोह के वशीभूत होकर पुरूष (आत्मा) संसार के विभिन्न द्रव्यों में अपनी प्रियता, मोह एवं ममत्व को व्यक्त करता है। यही कारण

है कि वह अपनी प्रियवस्तु के नष्ट हो जाने पर दुःखी होता है। शरीर के प्रति राग (अपनेपन) की अनुभूति होने में मोह ही कारण है और मोह तमो गुण का परिणाम है। तमो गुण के कारण मनुष्य के ज्ञान केन्द्र आवृत या सुप्त रहते हैं, जिस से उसको सम्यक् ज्ञान की अनुभूति नहीं होती और वह मोह में अनुरक्त रहता हुआ अज्ञान-मिथ्याज्ञान या अविद्या का शिकार बन जाता है। तमो गुण के कारण शरीर में गुरुता की वृद्धि होती है, जिससे मनुष्य आलसी, निद्रालु, निष्क्रिय, परिश्रम से डरने वाला, भीरु, मन्द मति और धीरे-धीरे काम करने वाला होता है, तमो गुण के कारण मनो अवसाद बना रहता है, जिससे मनुष्य में प्रमाद, कुटिलता, धूर्तता, कृपणता आदि दुर्गुण आ जाते हैं। ये समस्त दुर्गुण मोहात्मक अथवा मोह के ही रुप हैं।

इस प्रकार तमो गुण तीन लक्षण प्रधान है। गुरुत्व, आवरण और मोह। इन तीनों लक्षणों के द्वारा ही वह अपने सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है और सत्व तथा रजो गुण के नियमन में समर्थ होता है।

तीनों गुणों के समान लक्षण

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि सत्व गुण सुखात्मक, रजोगुण दुःखात्मक तथा तमोगुण मोहात्मक होता है। 'सत्व' में प्रकाश का, 'रज' में प्रवृति का और 'तम' में नियमन का सामर्थ्य है। ये गुण क्रमशः प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील हैं। तीनों गुणों के उपर्युक्त धर्म (लक्षण) एक दूसरे से विशिष्ट एवं भिन्न हैं। किन्तु इन में समान धर्म भी विद्यमान हैं, जिनके कारण इनका सन्तुलन बना रहता है। जैसे इन तीनों का प्रथम समान धर्म है अन्योन्याभिभव। अर्थात् ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरे के धर्म से पराजित होते रहते हैं। अथवा ये तीनों गुण अपने अपने विरोधी स्वभाव के कारण एक दूसरे को दबाते हैं–अभिभव करते हैं। यथा–जब सत्वगुण उत्कृष्ट होता है, तब रज और तम सत्व के प्रीति और प्रकाश धर्म से अभिभूत हो जाते (दब जाते) हैं। अथवा जब सत्व गुण का उत्कर्ष (आधिक्य) होता है तब वह रजो गुण और तमो गुण को दब कर सुख आदि के रूप मे अपनी क्रिया (शान्ता वृति) को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार जब रजो गुण उत्कट होता है तब सत्व और तमो गुण रज के प्रीति और प्रवृति धर्म से अभिभूत हो जाते हैं। अथवा रजोगुण का प्राबल्य होने पर वह सत्व और तमो गुण को अभिभूत करके अपने स्वरुप (घोरा वृति) को प्रकाशित करता है। इसी भांति जब तमो गुण की अधिकता होती है तब तमोगुण के विषाद और स्थित्यात्मक धर्म के द्वारा सत्व और रजो गुण दब जाते हैं। इन दोनों गुणों को दबाकर तमो गुण अपनी क्रिया (मूढ़ा वृति) को उत्कट करता है। किन्तु यह स्थिति उस समय होती है जब उनकी पारस्परिक शक्ति में न्यूनाधिकता हो। इसके विपरीत जब तीनों गुणों का बल समान होता है उस समय ये तीनों गुण

एक दूसरे को समान भाव से दबाकर रखते हैं। परिणाम स्वरुप तीनों में से किसी की भी प्रतिरोधात्मक या अभिभवात्मक क्रिया नहीं हो पाती। यह अवस्था केवल प्रलय के समय होती है। उस समय स्थूल–सूक्ष्म, चेतन–अचेतन, समस्त कार्य द्रव्य अपने मूल कारण 'प्रकृति' में लीन हो जाते हैं। वस्तुत: सत्व-रज-तम की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है। इस के विपरीत सर्ग काल या सृष्टि की उत्पत्ति के समय जब इन तीनों गुणों का वैषम्य हो जाता है तब प्रत्येक गुण अपनी अपनी ज्ञान, प्रवृत्ति स्थिति आदि क्रियाओं को प्रदर्शित करता है। जिस से उत्तरोत्तर कार्य द्रव्यों की उत्पति होती है।

तीनों गुणों में दूसरा साम्य यह होता है कि तीनों गुण अपनी अपनी वृति (क्रिया) का सम्पादन एक दूसरे का अश्रय लेकर अथवा एक दूसरे की सहायता से करते हैं। अर्थात् सत्व गुण की अपनी क्रिया में प्रवृति रजो गुण के कारण और उसका नियमन (मर्यादा) तमोगण के कारण होता है। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण अपनी अपनी क्रिया में सत्व गुण के प्रकाश द्वारा सहायता प्राप्त करते हैं। रजो गुण की क्रिया का सम्पादन सत्वगुण के प्रकाश और तमोगुण के नियमन की सहायता से होता है और स्वयं प्रवृति द्वारा सत्व और तम की सहायता करता है। तमो गुण को अपनी क्रिया में सत्व गुण के प्रकाश और रजो गुण की प्रवृति की सहायता प्राप्त होती है जब कि तमो गुण स्वयं अपने नियमन धर्म द्वारा दोनों की सहायता करता है।

तीनो गुणो में तीसरा साम्य यह है कि प्रलयावस्था में प्रकृति रुप समान द्रव्य की उत्पति भी वे एक दूसरे की सहायता से करते हैं। क्योंकि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति जनक होती है। प्रकृति के निर्माण में वे अपना सन्तुलन बनाए रखते हैं। जब तक इन का सन्तुलन बना रहता है तब तक प्रकृति स्वरुपावस्थित होती है।

इन गुणों का चौथा साम्य यह है कि ये प्रकृति तथा उससे उत्पन्न अव्यक्त–व्यक्त (सूक्ष्म-स्थूल), चेतन-अचेतन, स्थावर-जंगम सब द्रव्यों को उत्पन्न करते हैं और मिलित रुप से ही तीनों गुण सर्व द्रव्यों में सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तीनों गुणों की क्रियाए एक दूसरे की विरोधिनी-परस्पर विपरीत गामिनी या विरुद्ध गामिनी होती हैं। सत्वगुण सुखात्मक, लघुत्वात्मक, ज्ञानात्मक एवं प्रकाशात्मक होने से रजोगुण की दु:खात्मक प्रवृति तथा तमोगुण की गुरुत्वात्मक, मन्द, अज्ञानात्मक, अविद्यात्मक एवं तमसात्मक प्रवृति का विरोधी है। इस प्रकार तीनों गुणों की क्रिया परस्पर विपरत एवं विरुद्ध होने पर भी वे पिण्ड और ब्रह्माण्ड के समस्त द्रव्यों के निर्माण तथा संसार के संचालन क्रम में उपर्युक्त प्रकार से सर्वदा साथ रहते हुए परस्पर सहायता करते हुए अपनी क्रिया प्रतिपादित करते हैं।

परस्पर विरुद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी एक साथ मिलकर रहने का तीनों गुणों का मुख्य प्रयोजन यह है कि ये तीनो गुण पुरुष के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के लिए विविध साधन उपस्थित करते हैं। प्रयोजन के इस ऐक्य के कारण तीनों गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं। जैसे दीपक की वर्ति और तैल के प्रति अग्नि का सर्वदा विरोध भाव होता है। अग्नि के सम्पर्क में आते ही वर्ति और तैल जलकर समाप्त हो जाते हैं। किन्तु वर्ति, तैल और अग्नि तीनों मिलकर दीपक रूप एक प्रयोजन को परस्पर सहकार पूर्वक सिध्द करते हैं। यही स्थिति तीनों गुणों की भी है। एक अन्य उदाहरण द्वारा भी इसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। जैसे शरीर की उत्पति, स्थिति और प्रलय के कारण मूल वात-पित-कफ एक दूसरे के विरुध्द धर्म वाले होते हैं, तथापि परस्पर विरूध्द धर्म वाले होते हुए भी प्रयोजन के साम्य के कारण परस्पर सहकार करते हुए ही क्रिया करते हैं।

षोडश अध्याय

वादत्रय निरूपण

सत्कार्यवाद

यह सांख्य दर्शन का महत्व पूर्ण सिध्दांत है। इस सिध्दान्त के द्वारा सांख्य दर्शन कार्य और कारण में कोई भेद नहीं मानता। कार्य और कारण में जो भेद परिलक्षित होता है वह केवल व्यवहारिक है। वस्तुत: तात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। क्योंकि साँख्य दर्शन के मतानुसार जो कार्य उत्पन्न होता है उसका अस्तित्व उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान रहता है। यदि उत्पद्यमान कार्य का अव्यक्त अस्तित्व अपने कारण में विद्यमान न होता तो उससे कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि कार्य केवल कारण की व्यक्तावस्था है और कारण केवल कार्य की आव्यक्तावस्था है। अतः कार्य और कारण मे कोई मौलिक भेद नहीं है। सांख्य दर्शन का यही सिध्दान्त सत्कार्यवाद कहलाता है। कार्य-कारणवाद अथवा परिणामवाद इसी सिध्दान्त के द्योतक नामान्तर मात्र हैं। सांख्य दर्शन ने अपने उपर्युक्त सिध्दान्त के प्रतिपादन में निम्न कारण एवं युक्तियां दी हैं--

असद्कारणादुपादानग्रहणांत् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।

--सांख्य कारिका ९

अर्थात् असद् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उपादान ग्रहण (सत् कारण) से ही सत्कार्य की उत्पत्ति होती है। सभी प्रकार के कारणों से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। शक्तिमान कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। अतः कारण की सत्ता होने से सत्कार्य होता है। याने कार्य का अस्तित्व प्रकाश में आता है।

इन कारणों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से है—

असदकारणात्—

जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं होता है उसकी उत्पति कदापि सम्भव नहीं हैं। जैसे "**नासदुत्पादो नृशृंगवत् (सां.द. ११४)** अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य के सिर में सींग उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार असत्कार्य की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं हैं। कारण में कार्य का अस्तित्व रहने पर ही कारण से कार्य उत्पन्न होता है। असत्

कारण होने से अर्थात् कारण में कार्य का अस्तित्व न होने से अनेक प्रयत्न करने पर भी कार्य को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जैसे पत्थर से पानी उत्पन्न करना सम्भव नहीं है।

उपादान ग्रहणात्—

नियत उपादान होने से ही नियत कार्य की उत्पति होती है। जिस कार्य का जो उपादान (नियत कारण) है उसी कारण से वह कार्य उत्पन्न होता है। **"उपादाननियमात्" (सां. द. ११५)** अर्थात- उपादान -कारण का नियम होने से असत् (अविद्यमान) कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। सत् कारण से सत्कार्य की उत्पति होना ही उपादान नियम है। जैसे दही का उपादान (नियत कारण) दूध है, वस्त्र का उपादान कारण तन्तु है, घट का उपादान कारण मिट्टी है।

सर्व सम्भवाभावात्—

सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है क्योंकि उचित काल एवं उपयुक्त साधन होने पर ही कारण से कार्य उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार के कारण समस्त कार्यों को उत्पन्न करने में असमर्थ हैं— **"सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्" (सां. द. ११६)** अर्थात् समस्त काल में प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पति होना असम्भव है। अत: कार्य का अस्तित्व निज सत्कारण में ही रहता है और उसी कारण से वह उत्पन्न होता है।

शक्तस्य शक्यकरणात्—

शक्ति सम्पन्न कारण से ही शक्य कार्य उत्पन्न होता है। अशक्त कारण में शक्य कार्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। अतः कार्योत्पादन में समर्थ कारण में ही कार्य का अस्तित्व अव्यक्त रूपेण विद्यमान रहता है।

कारणभावात्—

कारण भाव से अर्थात् कार्य उत्पन्न होने से पूर्व अपने कारण भाव में रहता है। जैसे उत्पन्न होने वाला वृक्ष अपने कारण भाव बीज रूप में अव्यक्त रूपेण विद्यमान रहता है। अत: वस्तुत: कार्य और कारण में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों अभिन्न हैं। दोनों में केवल अवस्था भेद है। कार्य और कारण एक ही पदार्थ की दो अवस्था विशेष हैं। व्यक्तावस्था कार्य और अव्यक्तावस्था कारण कहलाती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कार्य जब तक उत्पन्न नहीं होता अथवा अपने व्यक्त स्वरूप में नहीं आता है तब तक वह अपने कारण में विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन मतानुसार न तो किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है और न किसी पदार्थ का विनाश होता है। अपितु हमें किसी द्रव्य की उत्पत्ति का जो अनुभव होता है, वह वस्तुत: उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। कोई अव्यक्त पदार्थ यदि अपने व्यक्त स्वरूप में आता है तो व्यवहारिक रूप से हम भले ही उसकी उत्पत्ति कहें,

किन्तु यथार्थतः उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। इसी प्रकार पदार्थ की व्यक्तावस्था जब अव्यक्तावस्था में परिवर्तित हो जाती है तब तक कहा जाता है कि पदार्थ का विनाश हो गया। किन्तु यथार्थ स्थिति यह है कि कार्य अपने कारण में तिरोहित हो जाता है। पदार्थ का स्थूलत्व अपने सूक्ष्मत्व में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार न तो किसी द्रव्य की सर्वथा नवीन उत्पत्ति होती है और न ही नितान्ततः उसका विनाश होता है। क्योंकि जो असत् (अस्तित्व हीन) होता है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो सत् होता है उसका कभी विनाश नहीं होता। हमें जो द्रव्य का विनाश दिखलाई पड़ता है वह केवल उसकी पर्याय या अवस्था का परिवर्तन मात्र है। भगवद् गीता में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात—असत् (अस्तित्व रहित) द्रव्य का भाव (उत्पत्ति) और सत् (अस्तित्ववान्) द्रव्य का अभाव (विनाश) कभी नहीं होता इसी तथ्य को आगे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

—भगवद् गीता ८।१८

अर्थात् प्रभात होने (दिन निकल आने) पर समस्त पदार्थ अव्यक्त (अस्पष्ट या अंधकारावृत) से व्यक्त (स्पष्ट या भासमान) हो जाते हैं और रात्रि होने पर पुनः उसी अव्यक्त संज्ञा (अन्धकार) में विलीन हो जाते हैं।

उपर्युक्त सांख्य कारिका की व्याख्या करते हुये श्री वाचस्पति ने सत्कार्यवाद का समर्थन निम्न प्रकार से किया है—

एक वस्तु में उत्पत्ति तथा विनाश क्रिया की बुद्धि के व्यपदेश या समर्थन होने से एकान्तिक भेद की सिद्धि सम्भव नहीं है। जैसे यह तन्तु है, यह पट है, इस प्रकार तन्तु में पट बुद्धि के व्यपदेश का समर्थन होने से एकान्तिक भेद नहीं होता। क्यों कि एक द्रव्य में उसकी विशेष अवस्था में आविर्भाव और तिरोभाव होने से उनमें मौलिक भेद नहीं है। जैसे कछुआ अपने अंग (सिर और ग्रीवा) को अपने शरीर में छिपा लेता है अर्थात् उसके अंगों का तिरोभाव हो जाता है। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि उसके अंगों का विनाश हो जाता है। इसी प्रकार पुनः वह अपने तिरोभूत या छुपाए हुए अंगों को बाहर निकालता है तब अंगों का आविर्भाव हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे अंग नवीन रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। अपितु अंग तो प्रत्येक अवस्था में विद्यमान हैं, वे केवल अव्यक्त और व्यक्त होते हैं। उसी प्रकार मिट्टी का

घड़ा तथा सुवर्ण के मुकट आदि का आविर्भाव उसकी उत्पत्ति का बोधक होना है और उसका निवेश अर्थात् घड़े का पुन: मिट्टी रूप में होना तथा मुकुट का पुन: स्वर्ण रूप में होना उसका विनाश या विध्वंस कहलाता है। किन्तु वस्तुत: यह उत्पत्ति और विनाश न हो कर केवल अवस्थान्तर प्राप्ति है। अत: इस व्यवस्था से असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश सम्भव नहीं है।

परमाणुवाद

यह वैशेषिक दर्शन सम्मत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के समस्त द्रव्यों का कोई न कोई परिमाण अवश्य होता है। द्रव्यगत यह परिमाण चार प्रकार का हो सकता है। यथा अणुपरिमाण, महत्परिमाण, ह्रस्व परिमाण और दीर्घ परिमाण। कोई भी द्रव्य इस चतुर्विध परिमाण का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। सामान्यत: द्रव्य उपर्युक्त परिमाण की अपेक्षा रखते हैं। अर्थात् द्रव्य एक दूसरे की अपेक्षा अणु या महत्परिमाण वाले हो सकते हैं। जैसे एक घड़ा अपने से बड़े (महत्) घड़े की अपेक्षा छोटा (अणु) है। किन्तु वही घड़ा अपने से छोटे (अणु) घड़े की अपेक्षा बड़ा (महत्) है। इस प्रकार अपेक्षा भेद से परिमाण में अन्तर हो सकता है। किन्तु प्रकृति का यह नियम है कि यदि किसी द्रव्य की निरन्तर उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय तो किसी न किसी स्थान पर उसकी समाप्ति या विश्राम अवश्यम्भावी है। अर्थात् द्रव्य की वृद्धि की एक सीमा है जिस के आगे द्रव्य की वृद्धि नहीं होती। वह सीमा ही परम महत् परिमाण है। जैसे-आकाश। आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों में महत्परिमाण वाला है। उससे अधिक महत्परिमाण किसी अन्य द्रव्य का सम्भव नहीं है। इसी प्रकार किसी द्रव्य को छोटे से छोटा किया जाय तो अन्त में उस स्थान पर जाकर रुकना पड़ेगा जहां उसका उस से अधिक छोटा आकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार द्रव्य का सब से छोटा आकार ही अणु परिमाण कहलाता है। द्रव्य के न्यूनातिन्यून होने की अंतिम सीमा अणुपरिमाण तक है। इस से छोटा आकार उसका न होने से वह 'परमाणु' कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जो परम अणु अर्थात् परम सूक्ष्म परिमाण वाला हो उसे 'परमाणु' कहते हैं। यह परमाणु निरवयव एवं अचाक्षुष होता है। अर्थात् परमाणु का पुन: विभाग नहीं होता, क्योंकि उसका अन्य अवयव नहीं होता। अन्य अवयव न होने से वह एकावयवी या निरवयव है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि चक्षुओं द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। अत: वह अचाक्षुष है। इस तथ्य का स्पष्टी करण न्याय भाष्य में वात्सायन मुनि द्वारा निम्न प्रकार से किया है—

जब किसी मिट्टी के ढेले को पीसने से उसके अवयवों का विभाग हो जाता है और उक्त विभाग से अवयव उत्तरोत्तर अल्प-अल्पतर होते हुए जहां समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जहां अवयवों के अल्प-अल्पतर होने का तारतम्य समाप्त हो जाता है, जिसके अनन्तर विभाग करने पर भी कोई अवयव विभक्त नहीं हो सकता वही अन्तिम अवयव होने से अन्त्यावयव एवं अवयव रहित होने से निरवयव रूप हुआ परम सूक्ष्म होने के कारण 'परमाणु' कहलाता है। यही परमाणु संसार के विभिन्न द्रव्यों की इकाई माना जाता है। यह सर्वापेक्षया सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव और नित्य होता है। द्रव्यों के असंख्य होने के कारण तथा एक द्रव्य के असंख्य परमाणु होने के कारण ये असंख्य होते हैं।

सामान्यत: चक्षुओं द्वारा दिखाई देने वाला सूक्ष्मतम द्रव्य वह धूलिकण है जो खिड़की द्वारा आने वाले प्रकाश की किरणों में उड़ता हुआ परिलक्षित होता है। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत: यही अणु है और इससे सूक्ष्मतम अवयव विभाग नहीं हो सकता। किन्तु वस्तुत: ऐसी बात नहीं है। उसके उत्तरोत्तर विभाग किए जा सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि यह विभाग कहाँ तक किया जा सकता है? यदि केवल कल्पना के आधार पर ही विभाग किया जाय तो विभाजन का कार्य समाप्त नहीं हो सकेगा और न ही इस विभाजन शृंखलाका अन्त होगा। अत: यह प्रवृत्ति अन्त तक चलती रहेगी। ऐसा होने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और अनवस्था होने पर संसार के सभी द्रव्यों को एक ही परिमाण वाला स्वीकार करना पड़ेगा। परिणामत: राई और पर्वत के परिमाण में कोई अन्तर नहीं होगा। अभिप्राय यह है कि जिस द्रव्य के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक होती है वह अधिक परिमाण वाला और जिस द्रव्य के आरम्भक अवयवों की संख्या अल्प होती है वह न्यून परिमाण वाला होता है-यह नियम है। इस नियम के अनुसार पर्वत और राई दानोंके परस्पर परिमाण में भेद है। क्योंकि पर्वत के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक और राई के आरम्भक अवयवों की संख्या न्यून होती है। इन दोनों का क्रमश: विभाग करने पर कहीं न कहीं अन्त अवश्य होगा। यदि इनके विभाग का अन्त न माना जाय तो अनवस्था होगी और अनवस्था के कारण दोनों का परिमाण एक ही होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। अत: दानों के विभाग का अन्त अवश्य है। जो अन्तिम अवयव होगा वही द्रव्य की इकाई है और वही परमाणु कहलाता है। इसी आधार पर विद्वानों का मत है—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रज:।
तस्य त्रिंशत्तमो भाग: परमाणुरुच्यते बुधै:॥

वैशेषिक दर्शन ने इस विषय में गम्भीर चिन्तन की विलक्षण विचार धारा प्रस्तुत की है। प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति परमाणु समूह से हुई है। द्रव्य के सूक्ष्मतम अवयव की इकाई को परमाणु कहा गया है। इन परमाणुओं के संयोग से 'द्वयणुक' का निर्माण होता है। इसे अणु भी कहते हैं। कारण, चक्षु द्वारा इसका ग्रहण नहीं होता है। अतः परमाणु की भांति यह भी अतीन्द्रिय होता है। किन्तु कार्य होने से अणु अथवा द्वयणुक अनित्य होता है। इसके विपरीत परमाणु नित्य होता है। तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। यह त्रसरेणु भी कहलाता है। यह महत् परिमाण वाला होता है। महत् परिमाण वाला होने से त्रसरेणु चाक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रियगम्य होता है। त्रसरेणु के आगे उत्पन्न होने वाले समस्त द्रव्य चाक्षुष एवं कार्य होने से अनित्य होते हैं। संसार के समस्त द्रव्य कार्य हैं और प्रत्येक द्रव्य के आरम्भक परमाणु पृथक् हैं। पृथक् पृथक् होने से वे अनेक हैं। अतः एक ही परमाणु की कल्पना निर्मूल है। यदि एक ही परमाणु पृथ्वी आदि कार्य द्रव्यों का आरम्भक होता तो इसके नित्य होने से निरन्तर कार्य की उत्पत्ति बनी रहती और कभी भी कार्य का विनाश नहीं होता। क्योंकि निम्न दो कारणों से कार्य का विनाश होता है— (१) अवयव विभाग और (२) अवयव नाश। किन्तु परमाणु एक होने से उसका अवयव-विभाग सम्भव नहीं है और परमाणु के नित्य होने से उसका विनाश भी सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक कार्य द्रव्य अपने पृथक् पृथक् परमाणुओं का समूह मात्र हैं। सभी कार्य द्रव्यों का परमाणु एक नहीं है।

भिन्न भिन्न दार्शनिक विद्वानों ने अपने अपने दृष्टिकोण एवं सिध्दान्त के अनुसार परमाणु को भिन्न भिन्न नाम से व्यवहृत किया है। यद्यपि सामान्यतः प्रायः सभी दर्शनाचार्यों ने परमाणु के अस्तित्व को स्वीकार किया है, किन्तु उनके प्रतिपादन में मात्र संज्ञा भेद ही है, मौलिक रूप से कोई अंतर नहीं हैं। यद्यपि प्रकार भेद की दृष्टि से परमाणुओं का वर्गीकरण अथवा श्रेणी विभाजन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कार्य द्रव्यों की अनेकता के कारण परमाणु भी अनेक हैं। किन्तु फिर भी सत्व-रज और तम भेद से परमाणु तीन प्रकार के होते हैं। इन्हीं को सांख्य दर्शन, योग दर्शन और वेदान्त दर्शन में त्रिगुण संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन में इन की परमाणु संज्ञा है। उपनिषदों में इन का उल्लेख लोहित, शुक्ल और कृष्ण तथा प्रकाशक, क्रिया जनक और आवरक नाम से किया गया है। इस प्रकार दार्शनिकों के मतानुसार कार्य द्रव्यों की उत्पति में कारण भूत द्रव्य परमाणु ही है, किन्तु उसका नामकरण भिन्न भिन्न है। उपादान कारणत्व की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी सृष्टि का स्वरूप परमाणुमय है। किन्तु उसके मतानुसार जिन पर परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति होती है वे परमाणु विभाजन शील और अनित्य हैं। भारतीय दार्शनिकों का मत इस से सर्वथा विपरीत है। न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गोतम एवं कणाद के अनुसार परमाणु नित्य और अविभाजनशील होता है। आधुनिक विज्ञान सम्मत परमाणु पाँच भौतिक है, इसके विपरीत वैशेषिक दर्शनोक्त परमाणु महाभूतों को उत्पन्न करने वाला है। पांच महाभूतों में से चार महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, और वायु परमाणु रूप से और आकाश व्यापक रुप से कार्य द्रव्य की उत्पत्ति में कारण होते हैं। द्रव्यों का विभाजित न होने वाला अंश ही परमाणु है। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान सम्मत परमाणु स्वयं गुण रहित होते हैं और उनमें तौल, स्थान व क्रम का अन्तर होता है। किन्तु कणाद द्वारा स्वीकृत परमाणु विशेष गुण से युक्त होता है। पाश्चात्य दर्शन शास्त्रों के आचार्यों ने परमाणुओं को स्वतः गमनशील और आत्मा को भी उत्पन्न करने वाला निरुपित किया है। वे अनन्त आकाश में विचरण करते हुए परस्पर संघर्ष से सृष्टि की उत्पत्ति करने में सक्षम होते हैं। इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन के सिध्दान्तानुसार परणाणु स्वभावतः शान्त एवं निष्पंद अवस्था में होते हैं। उनमें स्पन्दन क्रिया अदृष्टजन्य है। अर्थात् जिस प्रकार अयष्कान्त-मणि (चुम्बक विशेष) की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों में रस का नीचे से ऊपर की ओर चढ़ना और मन की द्रुत गति अदृष्ट जन्य है, उसी प्रकार परमाणुओं की आद्य स्पन्दनात्मक क्रिया भी अदृष्टजन्य है। ये परमाणु महाभूतों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। आत्मा स्वयं नित्य और चेतनावान् है। अतः परमाणुओं द्वारा आत्म तत्व की उत्पत्ति का पाश्चात्य सिद्धान्त न केवल भ्रामक अपितु निर्मूल है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा से अनुप्राणित परमाणुवाद सिद्धान्त पाश्चात्य परमाणुवाद के सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है।

स्वभावोपरमवाद

'स्वभावोपरम' का सामान्य अर्थ होता है—कारण निरपेक्ष विनाश अर्थात् जिसके विनाश में कोई कारण न हो, अथवा स्वभावतः (अपने आप) वस्तु का विनाश होना। यथा—**"स्वभावात् विनाशकारणनिरपेक्षात् उपरमो विनाशः स्वभावोपरमः"**। इसके अनुसार संसार के समस्त भावों का स्वभावतः उपरम (विनाश) होता है। अर्थात् विनाश का कोई कारण नहीं होता। भावों की प्रवृत्ति या वृद्धि का तो कोई कारण अवश्य होता है, किन्तु भावों के विनाश का कोई कारण नहीं होता। वह स्वभावतः स्वतः हो जाता है। यह आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण सिध्दान्त है। चिकित्सा की दृष्टि

से यह अत्यधिक उपयोगी सिद्धान्त है। महर्षि चरक ने शरीर की धातुओं पर इस सिद्धान्त की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। यथा—

जायन्ते हेतु वैषम्याद्विषमा देह धातवः ।
हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥

अर्थात् जिन कारणों से धातुओं की पुष्टि होती है उन कारणों में यदि विषमता आ जाती है तो शारीरिक धातुओं में भी विषमता आ जाती है। यदि कारणों में समता रहती है तो देह धातुओं में भी समता हो जाती है। इन धातुओं की शान्ति (शमन या विनाश) स्वभाव से ही होती रहती है।

आयुर्वेद के अनुसार समस्त साधन, भेषज एवं अन्य भौतिक द्रव्य क्षणभंगी हैं। फिर भी शमन होता है। उपर्युक्त श्लोक द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि होती है। शरीर में धातुओं की वृद्धि और ह्रास सतत होता रहता है। हम जो कुछ भी आहार लेते हैं उससे रसादि सप्त धातु, वातादि दोष एवं पुरीषादि मल पुष्ट होते हैं। इसका कारण यह है कि—"**वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः**" के अनुसार जिस धातु के समान आहार रस होता है वह आहार रस उस धातु की वृद्धि करने वाला होता है और जिस धातु के गुणों के विपरीत आहार रस होता है वह उस धातु का ह्रास करने वाला होता है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण चरक के उपर्युक्त श्लोक में किया गया है।

यद्यपि सामान्य-विशेष सिद्धान्त के अनुसार शरीर के दोष-धातु-मल की वृद्धि और ह्रास हुआ करता है, किन्तु इन दोनों कारणों के अतिरिक्त प्रत्येक कार्य करने पर भी धातुओं का क्षय हुआ करता है, जिसकी पूर्ति आहार रस द्वारा क्रमशः हुआ करती है। अर्थात् रस से रक्त, रक्त, से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र धातु की पुष्टि होती रहती है। आहार का सेवन करने के पश्चात् जब उसका मधुर विपाक होता है, तब कफ की, अम्ल रस की उत्पति होंने पर (अम्ल विपाक होने पर) पित्त की और कटु विपाक (कटु रस का निर्माण) होने पर वात की उत्पत्ति होंती है। इस प्रकार शरीर में दोष धातु आदि का जो स्वभावतः क्षय (नाश) होता है उसकी पूर्ति होती रहती है। महर्षि चरक के मतानुसार भावों की प्रवृत्ति तो सहेतुक होती है, किन्तु स्वभावोपरम अहेतुक होता है। यथा

प्रवृत्तिर्हेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम् ।
केचित्तत्रिप मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम् ॥

—चरक, सूत्रस्थान १६ । २८

अर्थात् उत्पन्न होने वाले भावों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) का तो कारण होता है, किन्तु उसके निरोध (नाश) में कोई कारण नहीं होता है। कुछ लोग हेतु का न होना ही नाश में कारण मानते हैं।

अभिप्राय यह है कि रस रक्तादि धातुओं की उत्पत्ति में आहार रस आदि कारण होते हैं। किन्तु धातुओं के नाश होने में कोई कारण नहीं होता है। क्योंकि नाश स्वभावतः ही होता रहता है। इसी प्रकार आहार की विषमता से धातुओं में विषमता उत्पन्न हो जाती है। किन्तु विषमता के नाश मे कोई कारण नहीं है। इस सिध्दान्त के अनुसार जो यह बतलाया गया है कि—**मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति**' अर्थात् मधुर, अम्ल और लवण रस से वायु का शमन होता है-उसका नाश होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मधुरादि रस अपने समान गुण वाले दोष-धातु की वृध्दि करने वाले होते हैं। ये बढ़े हुए दोष-धातु अपने से विपरीर गुण वाले दोष धातु को स्वभावतः कम कर देते हैं। अतः ये रस वात शामक हैं—ऐसा कहा जाता है। मधुर, अम्ल, और, लवण रस पूर्ण रुप से कफ की वृध्दि करते हैं और अम्ल-लवण रस पूर्ण रुप से पित्त की वृध्दि करते हैं। अतः इससे विपरीत गुण वाली वायु में स्वभावतः दुर्बलता आ जाती है। वायु में जब दुर्बलता आ जाती है तो स्वभावतः उसका शमन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य दोष और धातुओं के विषय में भी समझना चाहिए कि अपने विपरीत गुण वाले दोष धातु की वृध्दि हो जाने पर स्वभावतः उनका क्षय हो जाता है। इसीलिए उत्पत्ति में कारण माना है, विनाश में नहीं। इसी तथ्य को महर्षि चरक ने और भी अधिक स्पष्ट किया है। यथा—

न नाशकारणाभावाद्भावानां नाशकारणम्।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम्॥
शीघ्रगत्वाद्यथाभूतास्तथाभावो विपद्यते।
निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथा क्रिया।

—चरक, सूत्र स्थान १६।३२-३३

अर्थात् नित्य चलने वाले काल के नाश के कारण की तरह, नाश के कारण का अभाव होने से उत्पन्न होने वाले भाव पदार्थों के नाश का कारण ज्ञात नहीं होता है। भाव पदार्थ जिस तरह उत्पन्न होता है उसी प्रकार शीघ्रगामी होने से नष्ट भी हो जाता है। इस तरह भाव पदार्थ के नाश में कोई कारण नहीं है और उसमें कोई संस्कार भी नहीं किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि जैसे नित्य शीघ्रगामी काल का नाश अज्ञात कारण से होता है उसी प्रकार भावों के विनाश का कारण भी अज्ञात है। काल निरन्तर गमनशील है, इसकी उपस्थिति में शरीर एवं संसार के सम्पूर्ण भाव भी गमनशील तथा परिवर्तनशील हैं। जो भाव नष्ट हो जाते हैं उनके स्थान पर नए भाव उसी भांति उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भाव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं। विनाश अकारण होने से इस विनाश को रोका नहीं जा सकता है तथा विनष्ट हुए द्रव्य को दूसरे रूप से परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

सी प्रकार शरीर की धातुएं भी प्रतिक्षण नष्ट होती रहती हैं और रूपान्तर में परिणत होती रहती हैं। धातुओं के परिणाम और निरोध (विनाश) में कोई कारण नहीं है और इसके स्वरूप में हम कोई परिवर्तन भी नहीं कर सकते। जो वस्तु जिस समय जिस रूप में अवस्थित रहती है वह वस्तु दूसरे ही क्षण में ठीक अपने ही समान वस्तु को उत्पन्न कर तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। अर्थात् प्रथम क्षण में स्वयं उत्पन्न होती है, दूसरे क्षण में अपने समान वस्तु को उत्पन्न करती है और तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। जब तीसरे क्षण में स्वतः नष्ट होने लगती है तो उसमें किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु ये क्रियाएं इतनी तीव्र गति से होती हैं कि सामान्यतः हमें इस का ज्ञान नहीं हो पाता। तात्पर्य यह कि उसकी प्रथम अवस्था के नाश में कोई कारण नहीं है और उसके विनाश में कोई भिन्न क्रिया भी नहीं होती है। इससे सिद्ध हो गया कि दोषों के विषम होने पर रोगोत्पत्ति होती है। यह विषमावस्था प्रथम क्षण में उत्पन्न होती है, दूसरे क्षण में अपने समान ही विषम अवस्था को उत्पन्न कर तीसरे क्षण में स्वयं नष्ट हो जाती है। इस प्रकार पहले की विषमावस्था ज्यों की त्यों बनी रहती है। अतः उसे कम करने के लिए चिकित्सा शास्त्र की आवश्यता होती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि शरीर में सदा निर्माण और उपरम (Wear and tear phenomena) का कार्य चल रहा है। Wear Phenomenon (निर्माण) में तो आहार आदि से पूर्ति होने के कारण वह सहेतुक है। किन्तु Tear Phenomenon (उपरम) सदा स्वाभाविक (Netural) गति से ही होता है और वह अहेतुक है। स्वाभावोपरमवाद वर्तमान वैज्ञानिक विचार सरणि से अत्यधिक मिलता जुलता है। प्राचीन दर्शनों में यह बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है।

सप्तदश अध्याय

सृष्टि या सर्ग निरूपण

सृष्टि शब्द 'सृजि' विसर्ग धातु से बना है। "सृज्यते इति सृष्टि:" अर्थात् जिसका सृजन किया जाता है वह सृष्टि कहलाती है। सृष्टि के शाब्दिक अर्थ के अनुसार छिपे हुए पदार्थ को बाहर निकालना-यह प्रतिपादित होता है। जिस प्रकार पृथ्वी के अन्दर छिपे हुए बीज से धान्य बाहर निकलता है, उसी प्रकार इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। सृष्टि का रहस्य अत्यन्त गूढतम है इसका ठीक ठीक निरूपण करना बड़े बड़े मनीषियों तथा ऋषि महर्षियों के लिये भी कठिन है।

सृष्टि विषयक वर्णन वेद, पुराण, उपनिषद्, दर्शन शास्त्र, धार्मिक ग्रन्थ एवं भारतीय साहित्य में यत्र तत्र नातिविस्तरेण छुट-पुट रूप में उपलब्ध होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् एवं आधुनिक विज्ञानवादी विद्वानों ने भी विश्व सृष्टि के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए नवीन तथ्यों के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है। किन्तु फिर भी सृष्टि स्वरूप का निश्चयात्मक वर्णन सुपुष्ट प्रमाणों से युक्त कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। भिन्न भिन्न वर्ग के आचार्य एवं विद्वान् इस विषय में अपना भिन्न भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। तथापि भारतीय दर्शन शास्त्रों में उपलब्ध होने वाले सृष्टि विषयक वर्णन के आधार पर सांख्य दर्शन को प्रमुख माना गया है सांख्य दर्शन ने सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में अभूतपूर्व कल्पना की है और उससे सम्बन्धित तत्वों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में भी यत्र तत्र उल्लेख मिलता है। कुछ धार्मिक ग्रन्थ जिन पर वर्तमान व्यवहारवाद आश्रित है, वे विश्व सृष्टि की उत्पत्ति का प्रमुख कारण परमब्रह्म परमात्मा को मानते हैं। सम्पूर्ण विश्व के अधीश्वर, परिपूर्ण, परमब्रह्म परमात्मा की चेष्टा का विकास ही यह संसार है। इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं लय के कारणभूत परम ब्रह्म परमात्मा भगवान् नारायण ही हैं, जो अतीन्द्रिय, विभु, सनातन, चराचर जगत् में अव्यक्त रूप से व्याप्त परम सूक्ष्म एवं निर्विकार हैं। जिसे वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रन्थ एवं धर्म शास्त्र एक स्वर से अनन्त तथा निर्विकल्पक मानते हैं। **"एकोऽहं बहु स्याम्"** इस पुष्पिका के अनुसार वह ब्रह्म एक से बहुत होने की कामना से युक्त हुआ। किन्तु

एकाकी रमण करने की अभिलाषा पूर्ण होना सम्भव नहीं है। अतः उसने भी अन्य के सहयोग की अपेक्षा का अनुभव किया। सत् एवं चित् स्वरूप की अभिव्यक्ति तो अकेले ही सम्भव है, किन्तु आनन्द की प्राप्ति के लिये दूसरे का सहयोग होना अनिवार्य है। इसके लिये ब्रह्म ने सृष्टि की रचना करने का संकल्प किया और इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की। इस प्रकार परम ब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। परम ब्रह्म का यही स्वरूप सृष्टि के रूप में विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है, जिसका प्रत्यक्ष करने में केवल योगीजन ही समर्थ हुए हैं।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ प्रशस्तपादभाष्य में सृष्टि सम्बन्धी जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार जब परमात्मा की सृष्टि की रचना करने की इच्छा बलवती होती है तब उसकी इच्छा से परमाणुओं में स्वतः ही क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप दो दो परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है, अर्थात् सजातीय दो परमाणुओ के संयोग से "द्व्यणुक" का निर्माण होता है। परमाणुओं की संख्या असंख्य होने के कारण तथा असंख्य दो-दो परमाणुओं से जन्म होने के कारण "द्व्यणुक" भी असंख्य होते हैं। उन द्व्यणुकों में पुनः क्रिया होने के कारण तीन द्व्यणुकों के संयोग से 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' का निर्माण होता है। इसी प्रकार चार-चार त्र्यणुक के संयोग से "चतुरणुक" तथा पांच चतुरणुक के संयोग से 'पंचाणुक' का निर्माण होता है। ये सभी अणुक कार्य द्रव्य होते हैं और द्व्यणुक की अपेक्षा क्रमशः स्थूल से स्थूलतर एवं व्यक्त से व्यक्ततर होते हैं। इस प्रकार पंचाणुकों के द्वारा उत्तरोत्तर स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम आदि तारतम्य से महाकाश, महावायु, महातेज, महाजल और महापृथ्वी आदि कार्यद्रव्य उत्पन्न होते हैं। इन कार्य द्रव्यों से जगत् के अन्य सभी द्रव्य निर्मित एवं उत्पन्न होते हैं।

सृष्टि के विषय में एक अन्य विचार सरणि के अनुसार परम ब्रह्म परमात्मा ने सर्व प्रथम जल तत्व को उत्पन्न किया और उस जल में अपनी शक्ति रूप 'बीज' को स्थापित किया। यह बीज सुवर्ण के समान तथा सुवर्ण की कान्ति से युक्त एक अण्डे के रूप में परिणत हो गया। यहीं अण्ड 'हिरण्यगर्भ' की संज्ञा से युक्त हुआ। इस हिरण्यगर्भ (अण्ड) से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् उपर्युक्त अण्ड दो भागों में विभक्त हो गया। जिसके ऊर्ध्व खण्ड से 'स्वर्ग' एवं अधः खण्ड से पृथ्वी की रचना हुई। मध्य भाग में समुद्र, आठों दिशाएं तथा आकाश की रचना हुई। इसी प्रकार महत्तत्व, अहंकार, मन एवं सत्व-रज-तमो गुण से युक्त समस्त पदार्थों की रचना हुई। पुनः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि विषयों की ग्रहण करने वाली पंच ज्ञानेन्द्रियों तथा विभिन्न कर्मों का सम्पादन करने वाली पंच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई।

उन इन्द्रियों एवं महाभूतों के सूक्ष्म रूप तन्मात्राओं से युक्त देव मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त जीवों की सृष्टि हुई।

गीता में उपलब्ध होने वाले सृष्टि विषयक विवेचन के अनुसार परमात्मा के स्वेच्छा पूर्वक दो रूप हो गए—

(१) वाम भाग और (२) दक्षिण भाग। भगवान् के वाम भाग से स्त्री तथा दक्षिण भाग से पुरुष की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ये दो धाराएं चली और इन्हीं दो धाराओं से जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज आदि योनियों के द्वारा जीव की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में हुई। मनुष्य ही इन समस्त योनियों का प्रमुख प्राणी है।

आयुर्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति का अनुकरण सांख्य दर्शन के आधार पर किया गया है। यथास्थल आयुर्वेद प्रणेताओं ने मत भिन्नता भी प्रकट की है। सांख्य दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति 'अव्यक्त' तत्व से मानी गई है। इसे 'प्रकृति' भी कहा गया है। यह दृश्यमान संसार सर्व प्रथम प्रकृति में विलीन था अथवा सभी व्यक्त तत्व अव्यक्त में एकीभूत होकर समाविष्ट थे। न तो उसका प्रत्यक्ष ही हो सकता था और न ही किन्हीं लक्षणों से उनका अनुमान किया जा सकता था। प्रकृति प्रेरक परम ब्रह्म ने स्वेच्छा से पंचभूतात्मक शरीर को धारण कर पुनः आकाशादि पंच महाभूतों सहित महदादि चतुर्विंशति तत्वों के जो प्रलय काल की अवस्था में अव्यक्त में विलिन हो गए थे स्थूल रूप में प्रकाशित किया और साथ ही स्वयं भी प्रकाशमान हुए।

आयुर्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति का जो स्वरूप निरूपित किया गया है, वह अपने आप में परिपूर्ण एवं अद्वितीय है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि आयुर्वेद ने सृष्टि के विषय में अधिक गहराई में न जाकर तथा उसकी सूक्ष्मता को ग्रहण न कर सरल, स्थूल एवं बुद्धिगम्य स्वरूप का विवेचन किया है। आयुर्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण 'अव्यक्त' माना गया है। उस अव्यक्त तत्व से अन्य व्यक्त तत्वों की उत्पत्ति एवं सृष्टि के विकास का विवेचन महर्षि चरक ने अत्यन्त सुन्दर रूप से किया है—

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते॥

चरक संहिता, शारीर स्थान, १।६६-६७

अर्थ—अव्यक्त अर्थात् सगुण पुरुष या पुरुष संसृष्ट मूल प्रकृति से बुद्धि या महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। बुद्धि या महत्तत्व से अहंकार (अभिमान लक्षण वाले

अहम्) तत्व की उत्पत्ति होती है। इसके बाद यथा क्रम से खादि अर्थात् आकाशादि पंच सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती हैं। इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्रा कहते हैं। पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूत और पंच महाभूतों से पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियां, और मन-एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इसके बाद उन पच महाभूतों से सर्वांग पूर्ण पुरुष अभिव्यक्त होता है–ऐसा कहते हैं। अर्थात् अव्यक्तावस्था व्यक्तावस्था में परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रकार आयुर्वेद (चरक) के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन अन्य सांख्यादि दर्शनों से कुछ भिन्न रूप में है। सांख्य दर्शन पुरुष संसृष्ट मूल प्रकृति (अव्यक्त) से महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों और पंच तन्मात्राओं तथा पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन करता है। किन्तु आयुर्वेद में इन्द्रियों को भौतिक माना गया है। अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति महाभूतों से मानी गई है, न कि अहंकार से। अभिप्राय यह है कि सगुण आत्मा (अव्यक्त) से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है, महत्तत्व से अहंकार की, अहंकार से पंच तन्मात्रओं की तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की और महाभूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार आयुर्वेद के अनुसार सृष्टि का आरम्भ सगुण आत्मा या अव्यक्त से होता है। अव्यक्त से उत्पन्न होने वाले तेइस तत्व व्यक्त रहते हैं। इनका संयोग ही सृष्टि कहलाती है।

लय या प्रलय

सृजन से विपरीत स्थिति संहारात्मक होती है। सृजन को सृष्टि या सर्ग कहते हैं। इसके विपरीत स्थिति संहार को लय या प्रलय कहते हैं। सृष्टि में जिस प्रकार एक एक सूक्ष्म परमाणु का संयोग होकर कार्य द्रव्य का निर्माण होता है उसी प्रकार संहार में सृष्टि के विपरीत कार्य द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का विघटन होकर कार्य द्रव्य का विनाश हो जाता है। परमात्मा में जब सृष्टि के संहार करने की इच्छा होती है तब पृथ्वी आदि द्रव्यों के परमाणुओं में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है जिसके परिणाम स्वरूप दो दो परमाणुओं का परस्पर विभाग हो जाता है और उन में विघटन होने लगता है। दो दो परमाणुओं का विभाजन होने से दो परमाणुओं के संयोग का नाश (विघटन) होता है। संयोग-नाश (परमाणु-विघटन) होने से द्व्यणुक रूप कार्य द्रव्य का नाश हो जाता है। इसी भांति द्व्यणुक का नाश होने से उपरोक्त त्र्यणुक, चतुरणुक का नाश होता है। त्र्यणुक, चतुरणुक आदि के नाश से महा पृथ्वी आदि समस्त कार्य द्रव्यों एवं पदार्थों का विनाश हो जाता है। संसार के समस्त पदार्थ अपने अपने मूल कारण रूप परमाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं,

अर्थात् सबका अपने प्रकृति रूप मूल कारण में लय हो जाता है। सांख्य दर्शन में उपर्युक्त तथ्य को "नाशकारणं-लय:" (सां.१।१२१) सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कारण में कार्य का लय (विलीन) होना ही द्रव्य का नाश कहलाता है। अर्थात् निमित्त कारण द्वारा अतीतावस्था को प्राप्त हुए समस्त कार्य द्रव्य अपने अपने कारण में अभेद सम्बन्ध से लीन हो जाते हैं–इसी को नाश कहते हैं। यही लय या प्रलय कहलाता है।

आयुर्वेद शास्त्र में भी लय या प्रलय शब्द से उपर्युक्त भावार्थ ही ग्रहण किया गया है। आयुर्वेद में मुख्य रूप से मनुष्य या प्राणी जन्म को सृष्टि और मरण को लय शब्द से अभिप्रेत किया गया है। चतुर्विंशति तत्वों के संयोग से सृजित पुरुष प्रलयकाल में शरीरारम्भक महाभूतों के कारण में विलीन हो जाता है। तब यह बुद्ध्यादिक इष्ट भावों से वियुक्त हो जाता है। यही उस का मरण कहलाता है। वस्तुत: अव्यक्त से उत्पन्न हुए तेइस तत्व क्रमश: अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। व्यक्त से पुन: वे अव्यक्त हो जाते हैं। यही 'लय' या 'प्रलय, कहलाता है। महर्षि चरक ने लय का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

पुरुष: प्रलये चेष्टै: पुनर्भावैर्वियुज्यते।
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्ताऽव्यक्ततां पुन:।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते।।
येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहंकारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा।।

–चरकसंहिता, शारीर स्थान १।६७-६६

अर्थात् वह पुरुष प्रलय काल में पुन: अपने इष्टभाव (आठ भूत प्रकृति और सोलह विकार) से रहित हो जाता है। इस प्रकार उत्पत्तिकाल में अव्यक्त से व्यक्त होता है। प्रलय काल में व्यक्त से अव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार पुरुष की व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त की परम्परा रज और तम से युक्त होने के कारण चक्र की तरह चलती रहती है। जिन मनुष्यों की रज और तम इन दोनों में अत्यन्त आसक्ति है या जो लोग अहंकार में पड़े हुए हैं, उन्ही लोगों के लिए उदय और प्रलय है। जो लोग रज व तम से विमुक्त हैं; अहंकार से भी रहित हैं उन लोगों का उदय (जन्म) व प्रलय (मृत्यु) नहीं होता।

यहां उदय से जन्म और प्रलय से मृत्यु का ग्रहण किया गया है। जन्म और मृत्यु का कारणभूत रज और तम दोनों जब तक मन से सम्बन्धित रहते हैं और उसके अनुसार बंधन में पड़ने वाला कार्य मन करता है और उसी के अनुसार आत्मा का बन्धन होता है। इसी लिये यह मन जब तक रज और तम से युक्त रहता है तब

तक यह पुरुष चक्र की भांति भ्रमण करता रहता है। अर्थात् संसार की विभिन्न योनियों में जन्म-मरण को धारण करता रहता है। यही पुरुष का संसरण या संसार कहलाता है।

महा प्रलय होने पर सभी वस्तुओं का प्रकृति में प्रलय हो जाता है। प्रलय काल अर्थात् मृत्यु काल में पुरुष बुद्धि इत्यादि तत्वों से अलग हो जाता है और पुनः जन्म होने पर उनसे संयोग कर लेता है। कुछ लोग इस बात को नहीं मानते हैं। महा प्रलय काल में जब संसार में कुछ नहीं रह जाता तब या मोक्ष की अवस्था में पुरुष बुद्धि आदि भावों से रहित हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यहां प्रलय होने पर समग्र सृष्टि अपने कारणभूत प्रकृति में विलीन हो जाती है। यही लय कहलाता है।

पुनर्जन्म के विषय में प्राचीन काल से दो प्रकार के मत चले आ रहे हैं। एक मत के अनुसार कुछ लोग पुनर्जन्म के विषय में पूर्ण आस्था रखते हुए उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसके मत के अनुसार कुछ अन्य लोग पुनर्जन्म को केवल कल्पना का विषय मानकर उसके अभाव का समर्थन करते हैं। भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही पुनर्जन्म को नहीं मानता है। चार्वाक दर्शन प्रत्यक्षवादी होने से केवल प्रत्यक्ष होने वाले विषयों के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है। पुनर्जन्म जन सामान्य के लिए प्रत्यक्ष न होने के कारण चार्वाक दर्शन के मतानुसार संसार में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार आधुनिक भौतिकवादी प्रगतिशील विज्ञान भी प्रत्यक्ष न होने के कारण पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास नहीं रखता है। किंतु कुछ इस प्रकार की विशिष्ट घटनाएं प्रकाश में आई हैं, जिन से पुनर्जन्म का समर्थन होता है। उन घटनाओं के कारण आधुनिक विज्ञान को भी इस दिशा में अन्वेषण कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। इस अन्वेषण कार्य से अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आने की सम्भावना है।

पुनर्जन्म का सिद्धांत भारतीय दर्शन की मौलिक विशेषता है। आत्मवादी दर्शनों ने एक स्वर से इस सिद्धांत का समर्थन किया है। इस सिद्धांत के अनुसार प्राणियों का शरीर भौतिक है। आत्मा इस भौतिक शरीर को चेतना प्रदान करता है। आत्मा द्वारा प्रदत्त वह चेतना अथवा सचेतन आत्मा उस भौतिक शरीर में उसकी आयु पर्यन्त स्थित रहता है। प्राणी की आयु समाप्त हो जाने पर आत्मा उस शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण कर लेता है ओर उस शरीर में भी वह उसकी आयु पर्यन्त स्थित रहता है। एक शरीर से अन्य शरीर में आत्मा का यह संक्रमण ही पुनर्जन्म कहलाता है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि आत्मा ने जिस शरीर का परित्याग किया है, उसी के समान पूर्णरूप से निर्मित अन्य शरीर में प्रवेश कर वह उसको चेतना

प्रदान करता है। अपितु पूर्व शरीर का परित्याग करने पश्चात् आत्मा को गर्भ शरीर में प्रविष्ट होना पड़ता है और गर्भिणी के द्वारा उसका प्रसव किए जाने बाद ही जन्म माना जाता है। यही पुनर्जन्म कहलाता है। इससे एक यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि आत्मा द्वारा परित्यक्त पूर्व शरीर पुन: चैतन्य को प्राप्त नहीं कर सकता और उसका विनाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा के द्वारा नवीन शरीर धारण करने की यह प्रक्रिया अनादिकाल मे चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलती रहेगी। भगवत् गीता में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अत्यन्त सुन्दर विवेचन मिलता है। यथा–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़ों को उतार कर फेंक देता है और नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराने एवं जीर्ण (आयु शेष हुए) शरीर का परित्याग कर नवीन शरीर को धारण कर लेता है।

महर्षि चरक ने तीन एषणाओं–प्राणैषणा, धनैषणा–परलोकैषणा का वर्णन करते हुए परलोकैषणा के अन्तर्गत पुनर्जन्म के विषय में विभिन्न मत भेदों का उल्लेख किया है और सभी मतमतान्तरों का सयुक्तियुक्त खण्डन करते हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पुनर्जन्म के विषय में प्रथम मतभेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कुछ ऐसे पुरुष हैं जो नास्तिकवाद को मानने वाले हैं। वे प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और परोक्ष होने के कारण पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं कुछ अन्य लोग हैं जो आस्तिक हैं। वे शास्त्र प्रमाण से पुनर्जन्म को मानते हैं। श्रुतियाँ भी परस्पर विरुद्ध मिलती हैं। मुख्य रूप से निम्न मत मिलते हैं जो पुनर्जन्म को न मान कर प्राणियों के जन्म में अन्य कारण मानते हैं।

प्रत्यक्ष वादी—आधुनिक विज्ञान केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है और प्राचीन दर्शनों में नास्तिकवादी चार्वाक आदि केवल प्रत्यक्ष से उपलब्ध वस्तुओं में ही विश्वास करते हैं। पुनर्जन्म प्रत्यक्षत: उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रकार कर्म का फल और आत्मा ये सभी अप्रत्यक्ष हैं। अत: पुनर्जन्म के ये साधक भी प्रत्यक्ष नहीं हैं। इन के अप्रत्यक्ष होने के कारण पुनर्जन्म की सिद्धि सम्भव नहीं है।

माता पितृ वादी—कुछ लोग केवल माता-पिता को ही जन्म के प्रति कारण मानते हैं। अर्थात् आत्म निरपेक्ष मातापिता का शोणित-शुक्र जन्म के प्रति कारण है, न कि पूर्व शरीर को छोड़ कर आत्मा नवीन शरीर को धारण करता हैं क्योंकि आत्मा कोई वस्तु नहीं है।

स्वभाव वादी—कुछ लोग जन्म के प्रति स्वभाव को कारण मानते है। जैसे-

अगंप्रत्यंगनिवृत्ति स्वभावादेव जयते।
सन्निवेशःशरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ ॥

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान, अ० ३

तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत्स्वभावतः

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान, अ० २

धातुषु क्षीयमाणेषु वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ॥

सुश्रुत संहीता, शारीर स्थानअ. ४

स्वभावाल्लघवो मुदगास्तथा लावकपिंजलाः।
स्वभावादगुरवो माषा वाराहमहिषादयः ॥

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान अ० ६४

ये सब स्वभाव से सृष्टि होने के प्रमाण और उदाहरण हैं। योगवासिष्ठ में भी कहा गया है—

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणं च।
माधुर्यमिक्षौ कटुता मरीचे स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥

अतः उत्पत्ति के प्रति आत्मा कर्मफल आदि कारण नहींहै, न पुनर्जन्म है, किन्तु स्वभाव ही कारण है।

पर निर्माण वादी—कुछ लोग पर निर्माण को जन्म का कारण मानते हैं। पर शब्द से यहां ईश्वर का ग्रहण किया जाता है। यथा-"परः उत्कृष्टः विलक्षणसकलकार्यकारी पुरुषः ईश्वराख्यः।" अर्थात् आत्मा कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है जिस का पुनर्जन्म हो। केवल ईश्वर ही जगत् को उत्पन्न करने वाला है। निम्नांकित वचन से ईश्वर ही जन्म के प्रति कारण सिद्ध होता है– "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।" (ईशावास्योपनिषद्)

यदृच्छा वादी—इन के सिद्धान्त के अनुसार जगत् की उत्पत्ति बिना कारण के यों ही हो जाती है। इस में कोई भी कारण नहीं हैं। जैसे मेघ बिना आत्मा के जल की वर्षा करता है तथा भूमि आत्मा रहित अचेतन है फिर भी भूमिकम्प होता है। इन घटनाओं को उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है उसे 'यदृच्छा' कहते हैं। यही जगत् की उत्पति का कारण है।

इस प्रकार प्राणियों के जन्म के लिए पांच मतों का उल्लेख मिलता है। अतः पुनर्जन्म के विषय में सन्देह होता है। महर्षि सुश्रुत ने उत्पति के लिए छः मतों का उल्लेख किया है। यथा—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥ सु. शा. अ. १

खण्डन एवं समाधान—

उपर्युक्त मतों का अध्ययन करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि सभी एक पक्षीय एवं दुराग्रहवृत्ति के सूचक हैं । इन में कोई भी मत ऐसा नहीं है जो पुष्ट प्रमाणों एव समुचित तर्कों पर आधारित हो । महर्षि चरक ने इन सभी मतों का खण्डन एवं विभिन्न शंकाओं का समाधान युक्ति पूर्वक निम्न प्रकार से किया है—

१–परलोक एवं पुनर्जन्म का विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि बुद्धिमान् पुरुष सर्व प्रथम नास्तिक्यबुद्धि और विचिकित्सा (संशयबुद्धि) का परित्याग कर दे । यदि कोई व्यक्ति धृष्टता पूर्वक नास्तिक बन जाय और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को स्वीकार ही न करे तो इसका कोई उपाय नहीं है । क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान करने योग्य विषय बहुत ही कम हैं और अप्रत्यक्ष वस्तुएं बहुत हैं जिन का ज्ञान अथवा उपलब्धि आगम(शास्त्र प्रमाण या आप्तोपदेश), अनुमान और युक्ति प्रमाण द्वारा होती है । दूसरी बात यह है कि यदि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाय तो यह दोष उत्पन्न हो जायगा कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है अथवा प्रत्यक्ष विषयों का ग्रहण होता है, वे इन्द्रियां ही स्वयं अप्रत्यक्ष हैं । इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे कारण होते हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में बाधक होते हैं । इन कारणों का उल्लेख प्रत्यक्ष प्रमाण के विवेचन में विस्तार से किया गया है ।

२–मातापिता को जन्म में कारण मानने वाले पक्ष की शंका का समाधान निम्न प्रकार से किया गया है–ये श्रुतियां भी परलोक या पुनर्भव को न मानने में कारण नहीं हैं, क्योंकि युक्ति विरोध होता हैं । जैसे माता या पिता की आत्मा सन्तान में आती है–यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि आत्मा का सन्तान में गमन दो प्रकार से हो सकता है—(१) एक पक्ष में पूर्ण आत्मा सन्तान में गमन कर सकती है और (२) दूसरे पक्ष में आत्मा का अवयव (हिस्सा) सन्तान में जा सकता है । पहले पक्ष के अनुसार यदि आत्मा पूर्ण रूप से सन्तान में प्रवेश करती है तो माता या पिता की मृत्यु हो जाना चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता है । यदि यह कहा जाय कि आत्मा का अवयव (हिस्सा) सन्तान में जाता है तो यह कहना भी उचित नहीं है । क्योंकि आत्मा निरवयव (अवयव रहित) एवं सूक्ष्म है ।

इस मत में दूसरी आपत्ति यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति में यदि माता पिता को कारण माना जाय तो जो चार योनियां (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज) मानी गई हैं, वे नहीं हो पायेंगी । क्योंकि स्वेदज तथा उद्भिज प्राणियों की उत्पत्ति माता और पिता से नहीं होती । अतः यह मानना पड़ेगा कि कर्म के वशीभूत आत्मा

की प्रेरणा से माता पिता के शरीर से शोणित-शुक्र निकल कर गर्भाशय में जाकर सन्तान के शरीर का आरम्भ करते हैं। अर्थात् शरीर की उत्पत्ति कर्मानुसार होती है और कर्म जन्मान्तरीय रहता है अतः परलोक तथा पुनर्जन्म की सिद्धि हो जाती है

३–स्वभाव को जन्म में कारण मानने वाले पक्ष की शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पंच महाभूत और आत्मा इन ६ धातुओं के जो अपने लक्षण होते हैं, उन्हें स्वाभाविक जानना चाहिए। इन ६ धातुओं के संयोग और वियोग में कर्म ही कारण होता है। पृथिव्यादि पंच महाभूतों के अपने अपने लक्षण इस प्रकार हैं—

खरद्रव चलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिंगं यथाक्रमम् ॥

चरक संहिता, शारीर स्थान अ० १

आत्मा का चैतन्य होना अपना लक्षण है। यथा–

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।
चैतन्ये कारणं... ....॥ (च० सू० अ० १)

इन धातुओं के अपने अपने लक्षण (स्वभाव से होते हैं) किन्तु पंच महाभूत अचेतन हैं, इन में चेतनता का प्रदुर्भाव आत्मा के संयोग से और अचेतनता का आत्मा के वियोग से होता है। संयोग और वियोग का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वह कारण क्या है? इस का उत्तर यही है कि जन्मान्तरीय कर्म ही संयोग वियोग में कारण होता है। यथा—"भूतैश्चतुर्भिः" इत्यादि। यदि कर्म को कारण मान लिया जाता है तो पुनर्जन्म की सिद्धि स्पष्ट हो जाती है। यदि पंच महाभूत और आत्मा के संयोग और वियोग में स्वभाव को कारण मान लिया जाय तो "स्वभावो दुरतिक्रमः" के अनुसार संयोग का अभाव कभी नहीं होगा। अतः कभी वियोग भी नहीं होगा। आरम्भक कर्म के क्षय होने पर ही शरीर पात-अर्थात् वियोग होता है। कर्म संयोग और वियोग में कारण होता है-यह बात कर्म के लक्षण से स्पष्ट है। यथा–**"संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्"(च० सू० अ० १)** इस वर्णन से स्वभाववादी का जो यह मत है, कि दो या अधिक पदार्थों के मिलने से चेतनता स्वभावतः आ जाती है, आत्मा कोई वस्तु नहीं है उसका खण्डन हो जाता है। क्योंकि स्वभावतः संयोग और विभाग में अनिश्चितता है और जन्मान्तरीय कर्म को मानने में अनिश्चितता नहीं है।

४–पर निर्माण को जन्म में कारण मानने वाले पक्ष की शंका का समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो अनादि चेतना धातु (आत्मा) है उसका पर-निर्माण अर्थात् पर (दूसरे) के द्वारा निर्माण नहीं हो सकता। यदि पर शब्द से ईश्वर माना

जाय तो पर निर्माण मानना अभीष्ट है। क्योंकि आत्मा अनादि है। यदि आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी से सृष्टि का निर्माण माना जाय तो वह आत्मा से पूर्व सिद्ध हो जाता है और आत्मा की स्थिति उस के बाद की हो जायगी। तब आत्मा सादि हो जायगा। आत्मा का आनादित्व नष्ट न हो, अतः उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है जब इसकी उत्पत्ति ही नहीं होगी तो पर-निर्माण कैसे माना जायगा-अतः पर निर्माण पक्ष उचित नहीं है।

५—यदृच्छावादी के अनुसार स्वीकृत सिद्धान्त का निरास करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यदृच्छावाद से जिन्होंने अपनी आत्मा को ही उपहत (नष्ट) कर लिया है ऐसे नास्तिक लोगों के मत में परीक्षा, परीक्षा का विषय, कर्त्ता, कारण, देवता, ऋषि, सिद्ध, कर्म, कर्म का फल, आत्मा आदि कुछ भी नहीं है। इस प्रकार यदृच्छा-वादी नास्तिकों का यह ग्रह (आग्रह-जिद्द) सभी पापों से बढ़कर महा पाप है।

अभिप्राय यह है कि उसी व्यक्ति से विवाद किया जाता है और उसी व्यक्ति की बात भी मान्य होती है जो कि एक बात पर दृढ़ रहता है तथा कर्त्ता, कारण, कार्य आदि को स्वीकार करता है। जैसे किसी व्यक्ति की व्याधि का शमन कोई औषधि सेवन करने से हो जाता है, तो यदृच्छावादी कहेगा कि व्याधि का शमन यों ही हो गया। इसी प्रकार कुर्सी का निर्माण बढ़ई लकड़ी से करता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। किन्तु यदृच्छावादी के मतानुसार कुर्सी का निर्माण यों ही हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोधी होने से यदृच्छावादी का मत अमान्य है।

चतुर्विध प्रमाण से पुनर्जन्म की सिद्धि

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा—प्रतिदिन नवीन प्राणियों को उत्पन्न होते हुए देखा जाता है। प्रतिदिन अनेक प्राणियों की मृत्यु भी देखी जाती है। सामान्यतः स्तनधारी प्राणियों में यह प्रक्रिया देखी जाती है कि जन्म होने के पश्चात् बालक अथवा अन्य प्राणी स्वेच्छा पूर्वक स्वतः अपनी मां का दूध पीने लगते हैं। इस के अतिरिक्त बालक रोते हैं और कई बार उनके चेहरे पर हर्ष अथवा भय के भाव भी प्रकट होते हैं। सद्योजात बालक को स्तनपान की प्रक्रिया नहीं समझाई जाती है, अपितु पूर्व-कालीन संस्कारवश वह इन प्रक्रियाओं के प्रति प्रेरित होता है। इसी प्रकार पूर्वजन्म कालीन सुखद अथवा दुःखद संस्कारों का स्मरण होने पर उसके मुखपर हर्ष और विषाद के भाव प्रकट होते हैं।

इसी प्रकार माता-पिता के समान सन्तानों का न होना और उत्पत्ति कारण के तुल्य होने पर भी वर्ण, स्वर, आकृति, मन, बुद्धि और भाग्य में विभिन्नता होना, उत्तम और हीनकुल में जन्म होना, नौकर और मालिक होना, सुख-आयु और असुख-आयु का होना, आयु की विषमता, इस जगत् में जो कार्य किए जाते हैं उनका ही

फल होना, अशिक्षित शिशु का रोना, दूध पीना, हँसना, भयभीत होना, सामुद्रिक लक्षणों का होना, कर्म की समानता होने पर भी फल में विशेषता का होना, किसी कार्य में स्मरण शक्ति का होना और किसी कार्य में स्मरण शक्ति का न होना, इस जगत् में आना (जन्म लेना) और इस संसार में च्युत (मृत्यु प्राप्त हुए) प्राणियों का जाति स्मरण होना, समान रूप से दो व्यक्तियों को देखने पर एक को प्रिय और दूसरे को अप्रिय समझना यह पुनर्जन्म में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त कई घटनाएँ इस प्रकार की देखने को मिलती हैं। जिनके द्वारा मनुष्य को अपने पूर्व जन्म की अनेक बातों का स्मरण हो जाता है और वह अपने पूर्व जन्म कालीन घटनाओं एवं स्थितियों का वर्णन करने लगता है। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ प्रकाश में आई हैं और प्रत्यक्ष देखने को मिलती हैं। परीक्षा करने पर वे घटनाएँ सत्य पाई गई। अतः इन सब प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर पुनर्जन्म की पुष्टि एवं सिद्धि होती है।

अनुमान प्रमाण द्वारा–प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अनुमान किया जाता है कि पूर्व शरीर द्वारा किया गया जो अपना कृत कर्म है जिसे दैव (भाग्य) कहा जाता है वह अपरिहार्य है। ऐसे आनुबन्धिक कर्म का यह फल है जो इस जन्म में भोगा जा रहा है। इस शरीर द्वारा जो आनुबन्धिक कर्म किया जाता है उसका फल दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है। जैसे फल से बीज का अनुमान और बीज से फल का अनुमान किया जाता है।

हमारे द्वारा किया गया कर्म सामान्यतः दो प्रकार का होता है–

(१) सामान्य कर्म (२) आनुबन्धिक कर्म।

(१) **सामान्य कर्म**–सामान्य कर्म का फल जीवित अवस्था में प्रतिदिन भोग लिया जाता है। उसके लिए कहा गया है कि स्वकृत कर्म अपरिहार्य होता है। यथा-
''अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्''।

(२) **आनुबन्धिक कर्म**–जो कर्म संचित होता उसे ही भाग्य कहा जाता है। उसी कर्म के आधार पर पुनर्जन्म होता है तथा समस्त शुभ और अशुभ आनुबन्धिक कर्म का फल भोगना पड़ता है।

इस प्रकार अनुमान से पूर्व जन्म और पुनर्जन्म दोनों ही सिद्ध किए गये हैं।

आप्तोपदेश प्रमाण द्वारा–आप्त द्वारा प्रणीत आगम (शास्त्र) को वेद कहा जाता है। दूसरे कोई भी शास्त्र जो परीक्षकों द्वारा प्रमाणित हों, वेद के अर्थों से अविपरीत (अनुकूल) हों, शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित हों और लोक कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर प्रवृत्त (रचे गएँ) हों तो ऐसे शास्त्रों को भी आप्त शास्त्र कहा जाता है। आप्त द्वारा रचित शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि-दान, तपस्या, यज्ञ,

सत्य बोलना, अहिंसा का भाव रखना, ये अभ्युदय और निःश्रेयस (कल्याण) करने वाले होते हैं। प्राय: अभ्युदय से इहलौकिक ब्रह्मचर्य का पालन करना उन्नति और निःश्रेयस से पारलौकिक श्रेय प्राप्त करना समझा जाता है। अथवा अभ्युदय से स्वर्ग और निःश्रेयस से मोक्ष प्राप्ति का ग्रहण किया जाता है।

आप्त पुरुषों ने अपनी योगसाधना एवं तपश्चरण के आधार पर जो विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया, जिसके द्वारा उन्हें तीनों लोक की, तीनों कालों की समस्त बातों का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। उसके द्वारा उन्होंने पुनर्भव, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, आदि का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने अपने ज्ञान के आधार पर जो प्रत्यक्ष किया उसी का उन्होंने उपदेश दिया। इस प्रकार आप्तोपदेश द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

युक्ति प्रमाण द्वारा– पुनर्जन्म की सिद्धि में युक्ति है कि छः धातुओं के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है। कर्त्ता और कारण के संयोग से क्रिया होती है। किए हुए कर्म का फल होता है। जो कर्म नहीं किया जाता उसका फल नहीं होता है। बिना बीज के अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है। कर्म के अनुसार फल होता है, दूसरे बीज से दूसरे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। माता के उदर में जो गर्भोत्पत्ति होती है, उसमें आत्मा कर्ता है और वह पूर्वजन्मकृत कर्मों के आधार पर विभिन्न नीच-ऊंच योनियों में गमन करता रहता है। अर्थात् पूर्व जन्म के शरीर से किए गए कर्मों के आधार पर इस जन्म में शरीर धारण करता है। इस युक्ति प्रमाण से भी पूर्व जन्म और पुनर्जन्म इन दोनों की सिद्धि होती है।

इन चार प्रमाणों द्वारा पुनर्जन्म स्पष्टतः सिद्ध है। आत्मा कर्म बंधन में बंधा हुआ होने के कारण पराधीन रहता है और उन कर्मों का फल भोगने के लिए पुनः पुनः उसे शरीर धारण करना पड़ता है। जब तक आत्मा कर्म के बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाता तब तक उसे इसी प्रकार संसार में पुनः पुनः जन्म धारण कर विभिन्न योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। कर्म बन्धन से मुक्त होने पर उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता, और वह अक्षय पद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष या अपुनर्भव

जब आत्मा कर्मों के बन्धन से छुटकारा पा जाता है तब किसी भी कर्म का उपभोग करने के लिए उसे पुनः शरीर को धारण नहीं करना पड़ता। जब वह जन्म धारण नहीं करता है तो उसका मरण (मृत्यु) भी नहीं होता। जन्म और मरण से रहित होने के कारण संसार परिभ्रमण की उसकी स्थिति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार आत्मा को संसार के आवागमन रूपी बन्धन से छुटकारा मिल जाने के कारण वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की मुक्ति की प्राप्ति के लिए ही आत्मा सतत

प्रयत्नशील रहता है। यह मुक्ति पद अक्षय, निर्मल, अविनाशी, परम अनन्त सुख कारक एवं दिव्यालोक कारक होता है। इसे ही 'मोक्ष' या अपवर्ग' कहते हैं। आत्मा की कर्मों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने के कारण इसे 'निवृत्ति' भी कहते हैं। महर्षि चरक ने निवृत्ति का लक्षण निम्न प्रकार से किया है-**"निवृत्तिरपवर्गः तत् परं प्रशान्तं तदक्षरं तद् ब्रह्म, स मोक्षः"**

—च. शाः ५।११

अर्थात् निवृत्ति मार्ग को अपवर्ग कहते हैं, वह अपवर्ग सर्व श्रेष्ठ, अत्यन्त शान्त, अविनाशी एवं ब्रह्म स्वरूप होता है। उसे मोक्ष कहते हैं।

जब तक आत्मा कर्म बन्धन से युक्त रहता है तब तक वह सांसारिक मोह एवं माया जाल में फँसा रहता है। इस लिए उसे पुनः पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। यही पुनर्भव कहलाता है। किन्तु आत्मा के समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर उसे पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता है। पुनः जन्म धारण नहीं करना ही अपुनर्भव कहलाता है। यही आत्मा की मुक्तावस्था होती है और इसे ही मोक्ष अपवर्ग, मुक्ति या निवृत्ति कहते हैं। महर्षि चरक ने मोक्ष की परिभाषा निम्न प्रकार की है—

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म संक्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥ —च० शा० १।१४२

अर्थात् मन से जब रज और तम का अभाव हो जाता है और बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है तब कर्म संयोग का वियोग अर्थात् कर्म जन्य बन्धनों से वियोग हो जाता है, उसे अपुनर्भव या मोक्ष कहते हैं। जिस के हो जाने पर आत्मा को पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता है।

बलवत् कर्मों का क्षय होने से मुक्ति होती है-यह सर्वतान्त्रिक सिद्धान्त है मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करने वाले सभी दर्शनों ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि आत्म संसृष्ट समस्त कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को मोक्षोपलब्धि होती है। किन्तु **'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि'** के अनुसार **"प्रारब्धकर्मणो भोगादेव क्षयः**—"भोग कर लेने पर जब प्रारब्ध बलवान् कर्म का क्षय होता है तब मुक्ति होती है। कर्म का क्षय होने पर सर्व प्रथम आत्मा ज्ञानालोक से प्रतिभासित एवं देदीप्यमान होता है। आत्मा को होने वाला एतद्विध विशिष्ट ज्ञान, केवल ज्ञान कहलाता है। यह अपने आपमें परिपूर्ण, निर्मल एवं अखण्ड होता है। इस प्रकार का केवल ज्ञान होने के बाद ही आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है। क्योंकि **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती है। बलवान कर्म का क्षय होने पर कर्म के अभाव में संयोग का वियोग (अभाव) स्वतः सिद्ध है। अतः मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता है। इसीलिए यह अपुनर्भव या मोक्ष कहलाता है। मोक्ष में आत्मा अनन्त काल तक निवास करता है।

सांख्य दर्शन में मोक्ष विषय को अधिकृत कर विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रकृति जिस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति में कारण है उसी प्रकार वह पुरुष (आत्मा) की मुक्ति में भी कारण है। सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष स्वभावतः असंग एवं मुक्त होता है, किन्तु अविवेक के कारण प्रकृति के साथ उसका संयोग निष्पन्न होता है। इस संयोग से प्रकृति के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है और उसका जो प्रतिबिम्ब पुरुष पर पड़ता है वही इस पुरुष का दुःख भोग संसार है। अतः सृष्टि का मूलकारण अविवेक है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का साधन विवेक है। सांख्यदर्शन के अनुसार जो जीव एक बार मुक्त हो जाता है वह पुनः बन्धन में नहीं पड़ता है। इस का कारण यह है कि पुरुष यह समझने लगता है कि प्रकृति के समस्त रूपों को मैं देख चुका हूँ। अतः देखी हुई वस्तु को पुनः क्या देखना ? इसलिए वह प्रकृति के दर्शन की उपेक्षा कर देता है। प्रकृति भी समझती है कि पुरुष मेरे समस्त रूपों का अव-लोकन कर चुका है अतः वह लज्जा के कारण पुनः पुरुष के सम्मुख नहीं आती है। इस प्रकार दोनों उदासीन हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों की अथवा दोनों में से किसी एक की उदासीनता को अपवर्ग कहते हैं। यथा—"**द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः**" प्रकृति और पुरुष का परस्पर वियोग होना अथवा एकाकी होना कैवल्य या मोक्ष है बंध और मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के धर्म है, पुरुष के नहीं।

सांख्यदर्शन में किए गए विवेचन के अनुसार पुरुष न तो बंध को प्राप्त होता है और न मुक्त होता है। उस का संसरण भी नहीं होता है। प्रकृति ही अनेक आश्रयों वाली होकर बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ और महाभूतों से बद्ध होती है, मुक्त होती है और संसार में आवागमन करती है केवल प्रतिबिम्ब के करण पुरुष पर बन्धन तथा मोक्ष का आरोप होता है। अतः प्रकृति ही पुरुष को बद्ध एवं मुक्त करती है। यही अभिप्राय निम्न कारिका से व्यक्त होता है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते, नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ **सां. का. ६२**

पुरुष के मोक्ष प्राप्त करने का अभिप्राय यह है कि वह अपनी स्वतन्त्र असंग और केवलत्व की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। व्यक्त-अव्यक्त तथा ज्ञ के तत्व ज्ञान से विवेक सिद्धि होती है, जिस का फल निःशेष दुःखनिवृत्ति है। उसी अवस्था में पुरुष की कृतकृत्यता है। प्रत्येक पुरुष की मुक्ति के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यापार होता है।

यथा—"**प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः।**"— **सांख्य कारिका**

सांख्यदर्शन में प्रकृति को नर्तकी एवं पुरुष को दर्शक के समान निरूपित किया गया है। अर्थात् वह प्रकृति नर्तकी के समान है जो शृंगारादि रसों से तथा

रति-हास आदि भावों से रचे हुए गीत, वाद्य, नृत्य द्वारा रंगमंच पर उपस्थित सभासदों का मनोरंजन करती है। जब इसका कर्म समाप्त हो जाता है तो वह वहां से चली जाती है। इस प्रकार पुरुष के समक्ष अपना प्रदर्शन कर अर्थात् बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रिय, और महाभूत रूप से स्वयं को प्रकट कर प्रकृति लौट जाती है। निम्नकारिका में यही भाव व्यक्त किया गया है—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः॥ —सांख्य कारिका ५९

सांख्य दर्शन में निरूपित प्रकृति इतनी सुकुमार एवं लज्जाशील है कि एक बार पुरुष द्वारा उपभोग किए जाने पर दुबारा पुरुष के समक्ष उपस्थित नहीं होती है। अर्थात् विवेक शील पुरुष के प्रति प्रकृति का कोई व्यापार नहीं होता है। विवेक हो जाने से पुरुष को भी निश्चय हो जाता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ। यह भोग्य शरीर मेरा नहीं है। क्योंकि मैं इससे भिन्न हूँ। मैं भोक्ता भी नहीं हूँ। ऐसा संशय रहित पंचविंशति तत्वात्मक ज्ञान पुरुष को जब उत्पन्न होता है तो प्रकृति स्वयं पुरुष का साथ छोड़ देती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में निम्न कारिका द्रष्टव्य है—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिः।
या दृष्टाऽस्मिति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥ —सांख्य कारिका

पुनश्च—

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरि शेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ —सांख्य कारिका ६४

तत्व ज्ञान का उदय होने पर भी आत्मा जब तक पूर्व जन्म के संस्कार वश शरीर को धारण किए रहता है तब तक शरीर के निर्वाह के लिए कुछ न कुछ कार्य अवश्य ही करता रहता है। किन्तु उन कार्यों के प्रति राग द्वेष का अभाव होने से तथा ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध होने से वे कर्म दग्ध बीज की भांति फल देने में असमर्थ रहते हैं। अतः वे कर्म कर्त्ता को बन्धन में नहीं डाल सकते। इस प्रकार कर्मों का क्षय करने वाला ज्ञानी जब तक शरीर धारण किए रहता है अर्थात् जीवित रहता है तब तक वह 'जीवनमुक्त' कहलाता है। किन्तु शरीर का त्याग कर देने के पश्चात् उसका निर्वाण हो जाने पर विगत देह वाला होने से 'विदेह मुक्त' कहलाता है।

इन्द्रिय विज्ञान

इन्द्रियाँ मानव शरीर के अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी अवयव हैं। इन्द्रियों का सम्बन्ध शरीर के साथ केवल इतना है कि वे शरीर में स्थित हैं, किन्तु इनका सम्बन्ध शरीर की अपेक्षा आत्मा से अधिक है। क्योंकि ये ही इन्द्रियां आत्मा को ज्ञान कराने में सहायक होती हैं। आत्मा को बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त

करने के लिए मन एवं इन्द्रियों की सहायता लेना अपेक्षित रहता है। क्योंकि बिना साधन के साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। इन्द्रिय रूप साधन के बिना आत्मा एकाकी रूप से विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। वह इन्द्रियों की सहायता से ही विविध विषयों को ग्रहण कर उनका ज्ञान प्राप्त करता है। इस लिए इन्द्रियों को आत्मा का साधन कहा गया है।

इन्द्रियों का श्रेणी विभाजन एवं संख्या–

सामान्यतः इन्द्रियों की संख्या ग्यारह है। अपने स्वतन्त्र कर्म के अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय पृथक् पृथक् होती है। किन्तु उन्हें मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में रखा गया है—

१- ज्ञानेन्द्रिय
२- कर्मेन्द्रिय
३- उभयेन्द्रिय

१:–ज्ञानेन्द्रिय—इसकी संख्या पांच है। यथा १. श्रोत्र, २. त्वक्, ३. चक्षु, ४. जिह्वा और ५. घ्राण। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों को बुद्धीन्द्रिय भी कहा जाता है। ये इन्द्रियां विभिन्न बाह्य विषयों को ग्रहण कर उनका ज्ञान कराने में सहायक होती हैं। किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत होने के कारण वे केवल अपने ही विषयों को ग्रहण कर उनका ज्ञान करती हैं। इन्हीं पांच इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को ज्ञानोपलब्धि होती है। अतः ज्ञान का साधन मुख्य रूप से ये पांच ज्ञानेन्द्रियां ही हैं।

२-कर्मेन्द्रिय—ये भी संख्या में पांच होती हैं। यथा १-वाक्, २-हस्त, ३-पाद, ४-उपस्थ, और ५-पायु। इन पांच इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न प्रकार के कर्म सम्पादित किए जाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने कर्म का साधन है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के विषय नियत हैं उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के विषय (कर्म) भी नियत हैं इन्हीं इन्द्रियों द्वारा मनुष्य अन्यान्य चेष्टाओं को करने में समर्थ होता है।

३-उभयेन्द्रिय—यह संख्या में एक है। इसे मन कहा जाता है। मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। क्योंकि यह ज्ञान कराने और कर्म करने दोनों में सहायक होता है। मन की प्रवृत्ति उभयमुख होने के कारण इसे उभयेन्द्रिय की संज्ञा दी गई है। मन की सहायता के विना न तो ज्ञानेन्द्रियाँ ही अपने विषय का ग्रहण कर सकती हैं और न ही कर्मेन्द्रियां किसी कर्म को करने में समर्थ हैं। मन की प्रवृत्ति ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त नहीं है। यद्यपि उसके आधीन अनेक क्रोध, लोभ, शोक, काम आदि भाव होते हैं, तथापि इन्द्रियत्व की दृष्टि से वे भाव मन के विषय नहीं हैं। मन केवल ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का प्रेरक होने से उभयेन्द्रिय माना गया है। इसके

अतिरिक्त उपर्युक्त दसों इन्द्रियों की अपेक्षा मन में कुछ विशेषता रहती है। अतः इसे स मान्य इन्द्रियों में परिगणित न कर उभयेन्द्रिय रूप से इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। साथ ही मन आत्मा को ज्ञान कराने का एक ऐसा साधन है जो अन्य इन्द्रियां नहीं बन सकती हैं। इन्द्रियाँ सामान्य रूप से जिन विषयों का ग्रहण करती हैं उनका ज्ञान मन के माध्यम से ही आत्मा तक पहुंचता है। अतः मन सामान्य इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न आत्मा को ज्ञान कराने वाला एक प्रमुख साधन रूप एक स्वतन्त्र इन्द्रिय है। इन्द्रियों के सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत का निम्न वचन द्रष्टव्य है--"तत्र पूर्वाणि पंच बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि, च पंच कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः।

इण्द्रियों के विषय-

प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अपना अलग विषय नियत होता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय जिस पदार्थ का ज्ञान कराती है और वही उसका नियत विषय होता है। श्रोत्रेन्द्रिय शब्द गुण को ग्रहण करती है उसी का ज्ञान करती है। अतः वही उसका नियत विषय है इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय का स्पर्श, चक्षु का रूप, रसना का रस और घ्राण का गन्ध विषय है। इन पांचों विषयों के अन्तर्गत ही संसार के समस्त विषय अथवा ज्ञेय पदार्थ समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने नियत विषय का ग्रहण करने के लिए सीमित एवं प्रतिबन्धित है।

इसी भांति कर्मेन्द्रियों का विषय कर्म करना है। प्रत्येक कर्मेन्द्रिय का विषय भी नियत होता है। अतः एक कर्मेन्द्रिय केवल अपने नियत कर्म को करने में समर्थ है। अन्य को नहीं। कर्मेन्द्रिय अन्य कर्मेन्द्रिय के विषय (कर्म) को नहीं कर सकती। जैसे बोलने का कार्य केवल वाक् इन्द्रिय द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। अन्य हस्त पाद आदि इन्द्रियों के द्वारा नहीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों को भी समझना चाहिए। कर्मेन्द्रियों में जो वक्तव्य अर्थात् जो कहा जाय वह कर्म वाक् इन्द्रिय का विषय है। आदेय अर्थात् जिस वस्तु का ग्रहण एवं धारण किया जाय वह हस्त का विषय है मूत्र त्याग एवं मैथुन कर्म करना उपस्थ या शिश्नेन्द्रिय का विषय है तथा मल त्याग करना पायु या गुदेन्द्रिय का विषय है। इस प्रकार पांचों ही कर्मेन्द्रियों के अपने अपने पृथक् पृथक् विषय (कर्म) नियत हैं।

उपर्युक्त दस प्रकार के विषय पृथक् पृथक् रूप से एक एक इन्द्रिय के नियत हैं। इन विषयों का क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से सीमित नहीं है। अतः इस दृष्टि से इन्द्रियों का विषय क्षेत्र भी सीमित नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक विषय के क्षेत्र का विस्तार इतना अधिक है कि उसे शब्दों में नहीं बांधा जा सकता है। क्योंकि सुनने के लिए अनेक प्रकार के शब्द हैं, स्पर्श करने के लिए अनेक विषय हैं, देखने के लिए रूपवान् अनेक पदार्थ हैं, रसास्वादन करने के लिए विभिन्न रस वाले अनेक द्रव्य हैं,

गन्ध विषय से युक्त अनेक द्रव्य हैं, इसी प्रकार अनेक कर्म हैं जो कर्मेन्द्रियों द्वारा किए जाने योग्य हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

मन इन दसों प्रकार के विषयों में संलग्न होने का अधिकारी है। प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के साथ मन का संयोग अनिवार्य है। अन्यथा ज्ञानोपलब्धि संभव नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मन्द्रिय के साथ मन का संयोग अपेक्षित है। अन्यथा कर्म होना संभव नहीं है।

इन्द्रियों का भौतिकत्व-

सांख्य दर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी गई है। उसके मतानुसार तामस अहंकार के द्वारा तैजस अहकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियों उत्पत्ति होती है जैसे-"**वैकारिकादहंकारात्तैजससहाय्यात्तल्लक्षणा न्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते**

किन्तु आयुर्वेद में इन्द्रियों को अहंकारिक अर्थात् अहंकार से समुत्पन्न न मान कर पांच भौतिक माना गया है। आयुर्वेद के मतानुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति पंच महाभूतों से होती है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय में एक एक महाभूत की प्रधानता होती है जिससे वह इन्द्रिय अपने महाभूत के अनुसार ही विषय का ग्रहण करने में समर्थ होती है। महर्षि चरक ने स्पष्टता से इस तथ्य का प्रतिपदान किया है। जैसे-

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु।
पंचकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते॥

अर्थात् जिन के द्वारा बुद्धि प्रवत्ति होती है, वे कर्म से अनुमान योग्य पांचों इन्द्रियां क्रमशः एक एक महाभूत की अधिकता से युक्त होती हैं। अतः इन्द्रियों के विषय में आयुर्वेद में सांख्य दर्शन का अनुकरण न कर वैशेषिक दर्शन का अनुकरण किया गया है। वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन और वेदान्त दर्शन के विद्वान् इन्द्रियों को भौतिक ही मानते हैं। इसी आधार पर महर्षि चरक ने भी इन्द्रियों का भौतिकत्व स्वीकार किया है। उनके मतानुसार इन्द्रियां प्रत्यक्ष नहीं हैं। चाक्षुष आदि ज्ञान रूप अपने कर्मों से उनका अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार छेदन भेदन आदि कर्म अपने करण या साधन के बिना नहीं हो सकते, उसी प्रकार मनुष्यों में चाक्षुष ज्ञान आदि भी करण के बिना नहीं हो सकता है। ये करण चक्षु आदि इन्द्रियां ही होती हैं।

चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां पांच भौतिक होती हैं अर्थात् प्रत्येक सूक्ष्म इन्द्रिय की रचना पांच महाभूतों के समवाय से हुई है। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय में पांचों महाभूत विद्यमान रहते हैं, तथापि एक एक इन्द्रिय की रचना में एक एक महाभूत, की अधिकता होती है। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय में आकाश महाभूत, त्वगिन्द्रिय में वायु महाभूत, चक्षु इन्द्रिय में तेज महाभूत, रसना इन्द्रिय में अप् (जल) महाभूत और घ्राण इन्द्रिय में

पृथ्वी महाभूत की अधिकता होती है। यही आशय महर्षि चरक के निम्न वचन से प्रकट होता--"तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि खं श्रोत्रे घ्राणे क्षितिः आपो रसने स्पर्शनेऽनिलोविशेषेणोपपद्यते।

महाभूतों की अधिकता के अनुसार जिस इन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है, उसी के अनुसार उसका व्यपदेश एवं अभिधान नामकरण होता है। जैसे तेज की अधिकता से चक्षु को तैजस, पृथ्वी की अधिकता से घ्राण को पार्थिव, वायु की अधिकता से त्वक् को वायव्य, आकाश की अधिकता से श्रोत्र को नाभस तथा अप् (जल) की अधिकता से रसना को आप्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस महाभूत की प्रधानता होती है वह उसी महाभूत के अनुरूप विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती है जैसे श्रोत्र में आकाश महाभूत की अधिकता होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय केवल आकाश महाभूत के प्रत्यात्मनियत गु ' शब्द को ही ग्रहण करने में समर्थ होती है व अन्य का नहीं इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय का निर्माण (उत्पत्ति) वायु महाभूत के द्वारा होने के कारण वह केवल वायु महाभूत के प्रत्यात्मनियत गुण स्पर्श को ही ग्रहण करने में समर्थ है चक्षु इन्द्रिय में तेज महा भूत की अभिव्यक्ति होने के कारण वह केवल तेज महाभूत के प्रत्यात्मनियत गुग रूप को ही ग्रहण कर सकता है। रसना इन्द्रिय में अप् महाभूत की प्रधानता होने से वह जल महाभूत के मुख्य गुण रस को ही ग्रहण करती है तथा पृथ्वी महाभूत से निर्मित होने वाली घ्राणेन्द्रिय केवल पृथ्वी महाभूत के मूलगुण गन्ध का ज्ञान कराने में ही समर्थ है इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की रचना जिससे होती है उसी महाभूत से महाभूत के गुण के अनुसार इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण कर उसका ज्ञान कराती है।

महर्षि सुश्रुत ने भी इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि आयुर्वेद में इन्द्रियां और इन्द्रियों के अर्थ भौतिक ही वर्णित किये गए गए हैं। उन्होंने लिखा है—
"भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः" । —सु० शा० १।१५

इन्द्रियों के भौतिकत्व में आयुर्वेदीय मत का समर्थन करते हुए महर्षि सुश्रुत ने निम्न कारण प्रस्तुत किए हैं—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः॥

—सु० शा० १।१५

मनुष्य इन्द्रिय द्वारा अपने अपने इन्द्रियार्थ को ही ग्रहण करता है अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय है उस इन्द्रिय के द्वारा वह उसी विषय को ग्रहण करता है। क्योंकि इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ की तुल्य योनि होने से (इन्द्रियों के विषय) नियत हैं। अतः अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यही सिद्धान्त है।

इस श्लोक में इन्द्रियों को भौतिक मानने की स्थिति (सिद्धान्त) का वर्णन किया गया है। इस तत्व का विचार निम्न तीन तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है—

१–सांख्य दर्शन के अनुसार पांचों इन्द्रियां अहंकारोत्पन्न हैं। एक ही कारण से उत्पन्न होने से पांचों इन्द्रियों का स्वरूप एक समान होना चाहिए। यदि यह तत्व ठीक हो तो एक इन्द्रिय से पांचों प्रकार के इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिए अथवा पांचों इन्द्रियों से पांचों अर्थों का ग्रहण नियम विरहित होना चाहिए। या एकाध इन्द्रिय के न होने पर अथवा किसी एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर उसका कार्य अन्य इद्रियों से होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। पांचों इन्द्रियों में अर्थ ग्रहण का नियम होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियां एक कारणोत्पन्न नहीं हैं। अर्थात् पांच प्रकार के अर्थों के लिए जैसे पांच इन्द्रियां हैं वैसे ही पांच इन्द्रियों के उत्पादक पांच उपादान कारण भी हैं।

२–श्रोत्र केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है। शब्देतर अन्य अर्थों को ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के सम्बन्ध में अनुभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का कार्य विषयग्रहण नियम युक्त होता है। यह कार्य तब ही हो सकता है जब प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनि-उपादान कारण) भिन्न भिन्न हो। इसीलिए आयुर्वेद में प्रत्येक इन्द्रिय का उपादान कारण भिन्न भिन्न याने एक एक महाभूत माना गया है।

३–यह स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी के गुण हैं। शब्द आकाशीय गुण है ओर उसका केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है। गंध पार्थिव गुण है और उसका ग्रहण केवल घ्राणेन्द्रिय द्वारा होता है। इससे यही अनुमान होता है कि शब्द और श्रोत्र, रूप और चक्षु, रस और जिह्वा, स्पर्श और त्वचा तथा गन्ध और घ्राण ये 'तुल्य योनि' (एक ही महा भूत वाले) होते हैं।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियों के भौतिकत्व की एक विशेषता यह होती है कि इन बुद्धीन्द्रियों के उपादान कारण महाभूत पंचीकृत होते हैं। जैसे घ्राणेन्द्रिय का उपादान कारण महाभूत केवल पृथ्वी न होकर पंच महाभूतों का मिश्रण है, जिसमें पृथ्वी तत्व की अधिकता होती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए।

पंच पंचक

सामान्यतः पांच वस्तुओं के समूह को पंचक हैं। इसे वर्ग भी कहा जाता है। एक वर्ग या पचक एक पंचक कहलाता है। दो वर्ग या पंचक दो पंचक कहलाते हैं।

पञ्चीकरण

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥ - सु०शा० १।२२

अर्थात् ये सब आकाशादि पंच महाभूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट समझने चाहिए । किन्तु इन सब महाभूतों के विशिष्ट प्रकट लक्षण अपने अपने द्रव्य में परिलक्षित होते हैं ।

एक महाभूत का अन्य महाभूत में प्रवेश दो प्रकार से हो सकता है -१ अनुलोम और २-प्रतिलोम । प्रस्तुत प्रकरण में 'अन्योन्यानुप्रविष्टानि' शब्द से प्रतीत होता है कि महाभूतों का परस्परानुप्रवेश अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही प्रकार से होता है । इससे पांचों महाभूत का पांचों महाभूतों में अनुप्रवेश सम्भव है । कुछ आचार्य उपर्युक्त श्लोक की जो व्याख्या करते हैं उसके अनुसार शब्द गुण वाला आकाश वायु में प्रविष्ट है. आकाश और वायु दोनों तेज में प्रविष्ट हैं, आकाश वायु और तेज तीनों जल में प्रविष्ट हैं और आकाश वायु तेज व जल ये चारो महाभूत पृथ्वी में प्रविष्ट है किंतु यह व्याख्या समीचीन प्रतीत नहीं होती । क्योंकि इस विवरणसे महाभूतों का अन्योन्यानुप्रवेश न होकर केवल अनुप्रवेश या अनुलोम प्रवेश होता है जैसे आकाश में किसी अन्य महाभूत का प्रवेश नहीं है । वायु में केवल आकाश और वायु है । जब कि उपर्युक्त श्लोक में "सर्वाण्येतानि" स्पष्टतया लिखा है । जिसके अनुसार सब महाभूतों का सभी महाभूतों में प्रवेश होना चाहिए ।

पञ्चीकरण के आधार पर भूतों की रचना इस प्रकार की होती है कि जिस नाम से जो द्रव्य याने महाभूत पुकारा जाता है उसमें उस महाभूत का अधिक्य होता और अन्य महाभूतों की उसमें अल्पता होती है । इस अधिकता और अल्पता के कारण अधिकता युक्त महाभूत के लक्षण प्रकट होते हैं और न्यूनता युक्त महाभूत के लक्षण अप्रकट रहते हैं । उपर्युक्त श्लोक में पञ्चीकरण संक्षिप्त रूप से वर्णित है । पंचीकरण के अनुसार समस्त स्थावर जंगमात्मक सृष्टि जिन महाभूतों से उत्पन्न होती है वे महाभूत अमिश्र स्वरूप के न हो कर संमिश्र स्वरूप के होते है । इनका मिश्रण विशेष पद्धति से होता इस पद्धति को पञ्चीकरण कहते हैं । पंचीकृत महाभूत में पाचों महाभूतों के अंश उपस्थित रहते हैं । इस सिध्दान्त को निम्न कोष्ठक द्वारा सुगमता पूर्वक समझा जा सकता है—

पंचीकृत महाभूत	आकाश	वायु	तेज	जल	पृथ्वी
आकाश —	१/२	१/८	१/८	१/८	१/८
वायु —	१/८	१/२	१/८	१/८	१/८
तेज —	१/८	१/८	१/२	१/८	१/८
जल —	१/८	१/८	१/८	१/२	१/८
पृथ्वी —	१/८	१/८	१/८	१/८	१/२

उपर्युक्त कोष्ठक से यह स्पष्ट है कि पंचीकृत महाभूत में उसी महाभूत का आधा अंश और आधे हिस्से में समानरूपेण इतर महाभूत होते हैं। यही कारण है कि अन्य महाभूतों के लक्षण अव्यक्त होकर अधिकांश में जो महाभूत होता हैं उसी के लक्षण व्यक्त होते हैं और जिसका भाग अधिक होता तथा लक्षण प्रकट होते है उसी के अनुसार उसका नाम होता है। इसी दृष्टि से सुश्रुत ने लिखा है —"परस्पर संसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सानिध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्।" सु० सू० ४२

अर्थात् महाभूतों के परस्पर संसर्ग होने से परस्पर अनुग्रह होने से और परस्पर अनुप्रवेश होने से सभी महाभूतों में सभी महाभूतों का सानिध्य (प्रवेश) रहता है। उनमें जिस महाभूत का उत्कर्ष होता है उसी का ग्रहण (नाम) होता है।

विशेष और अविशेष

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंच पंचेभ्य: ।
एते स्मृता विशेषा: शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥
सूक्ष्मा मातापितृजा: सहप्रभूतैस्त्रिधा विशेषा: स्यु:
सूक्ष्मास्तेषां नियता-मातापितृजा निवर्तन्ते ॥-सां० का० ३८ ३९

अर्थ—शब्दादि पांच तन्मात्राएँ अविशेष कहलाती हैं और उन शब्दादि पांच तन्मात्राओं से आकाशादि पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये पांचों महाभूत विशेष कहलाते हैं। क्योंकि ये शान्त घोर और मूढ होते हैं। अर्थात् सूक्ष्म शब्दादि पंच तन्मात्राएं उपभोग योग्य नहीं होते, इसी से उसके शान्तत्वादि धर्मों का हमें अनुभव नहीं होता। अत: उन्हें 'अविशेष' कहा गया है। और आकाशादि पंच महाभूतों के स्थूल होने से उनके शान्तत्वादि धर्मों का हमें अनुभव होता है। इसीसे उन्हें विशेष कहा गया है। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले चौबीस तत्वों में से भिन्न भिन्न तत्वों के मेल से तीन विशेष वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे पुरुष का उपभोग सिद्ध होता है। जैसे (१) सूक्ष्म या लिंग शरीर, जो अठारह तत्वों का समुदाय होता है। (२) माता पिता से उत्पन्न होने वाला स्थूल शरीर और (३) विशेष महाभूत। इन तीन विभागों में बटे हुए समस्त प्राकृत पदार्थों का पुरुष उपभोग करता है। इनमें सूक्ष्म शरीर की स्थिति तत्वज्ञान के उत्पन्न होने तक रहती है और माता पिता से उत्पन्न होने वाले शरीर नष्ट हो जाते हैं तथा मरण के पश्चात् उसके तत्व अपने अपने समान तत्व में मिल जाते हैं। इस प्रकार महाभूत भी प्रलय काल में अपने अपने अव्यक्त कारण में लीन हो जाते हैं।

इन्द्रियों की वृत्तियां—

इन्द्रियों का सामान्य व्यापार ही इन्द्रियवृत्ति कहलाता है अर्थात् इन्द्रियां किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं तथा अपने विषय को ग्रहण करती हैं तब वह क्रिया इन्द्रिय वृत्ति कहलाती है। जैसे चक्षु द्वारा रूप का, श्रोत्र द्वारा शब्द का, त्वक् द्वारा स्पर्श का, रसना द्वारा रस का और घ्राण द्वारा गन्ध का, ग्रहण करना ही इन्द्रियवृत्ति कहलाता है। इसी भाँति पंच कर्मेन्द्रियों की भी प्रवृत्तियां होती हैं। जैसे वागिन्द्रिय द्वारा बोलना, हस्त द्वारा आदान प्रदान अर्थात् ग्रहण करना, पाद द्वारा गमन करना, उपस्थ द्वारा मूत्र त्याग एवं मैथुन करना तथा पायु द्वारा मल त्याग करना आदि। इस प्रकार इन्द्रियों का प्रत्यात्मनियत व्यापार न्द्रिय वृत्ति कहलाता है। इन्द्रियों की वृत्ति का वर्णन सांख्य दर्शन में निम्न प्रकार से किया गया है—

रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
बचनाऽऽदानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम्"

त्रयोदश करण—

करण का सामान्य अर्थ साधन होता है। आयुर्वेद के मतानुसार करण तेरह होते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति में इन करणों का महत्वपूर्ण भाग होता है। ये तेरह करण मानव शरीर में विद्यमान रहते है और इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्यों का ज्ञान होता है। मानव शरीर में इनके द्वारा विभिन्न भावों की उत्पत्ति होती है। ये तेरह करण निम्न होते हैं—बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां।

इनमें बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन अन्तःकरण कहलाते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां ये दस वाह्य करण कहलाते हैं।

अन्तःकरण मुख्य रूप से आभ्यन्तरिक विषयों का सम्पादन करते हैं। जैसे विचार विमर्श करना, अभिमान आदि उत्पन्न करना, क्रोध, लोभ, शोक, भय, शान्ति, क्षमा, धृति, आदि भावों को उत्पन्न करना। बाह्य करण इनसे सर्वथा भिन्न होते हैं और उनकी प्रवृत्ति केवल बाह्य रूप होने के कारण, वे बाह्य विषयों एवं भावों को ही ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त ये दस बाह्य करण तीन अन्तःकरणों द्वारा भोग्य होते हैं अर्थात् तीनों अन्तःकरण अपने अनुकूल बाह्य करणों का उपभोग करते हैं।

करणो में अन्तःकरण का प्राधान्य—

उपर्युक्त तेरह करणों में प्रारम्भिक तीन अन्तःकरण प्रधान माने गए हैं। क्योंकि अहंकार और मन सहित बुद्धि सम्पूर्ण विषयों का ग्रहण करती है। बुद्धि का कर्म मन और अहंकार सापेक्ष होता है। मन इन्द्रियों को स्वविषय ग्रहण करने के

लिए प्रेरित करता है बुद्धि उन ग्रहण किए हुए विषयों का विचार कर निष्कर्ष निकालती है, मन और बुद्धि के इस कार्य में अहंकार सहायक होता है। इसके अतिरिक्त अहंकार स्वाधीन अहम् भाव को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इस प्रकार विषयों का ग्रहण करने एवं उनका निर्णय करने के लिए ये तीनों साधन महत्वपूर्ण होते हैं। इसीलिए त्रयोदश करणों में त्रिविध अन्तःकरणों को प्रधान माना गया है। इसके अतिरिक्त दस बाह्य करण भोग्य एवं त्रिविध अन्तःकरण भोक्ता होने के कारण इनकी प्रधानता है। क्योंकि सर्वत्र भोग्य की अपेक्षा भोक्ता ही प्रधान होता है।

उपर्युक्त त्रिविध करण स्वयं संसार के विषयों को प्रकाशित करते हैं। वे दीपक की भांति विषयों को प्रकाशमान करने वाले होते हैं। यद्यपि वे तीनों परस्पर भिन्न होते हैं तथापि उन तीनों का संयुक्त स्वरूप विषयग्राही होता है और वे तीनों अभीष्ट अर्थ को पुरुष के लिए प्रकाशमान कर बुद्धि में स्थित या बुद्धि के माध्यम से ज्ञान कराने में समर्थ होते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दीपक में तेल, वर्ती एवं अग्नि ये तीनों परस्पर विरुद्ध होते हुए भी इन तीनों का संयोग प्रकाशोत्पादक होता है और वह प्रकाश अन्धकार के निवारण में समर्थ होता है, उसी प्रकार अहंकार मन और बुद्धि परस्पर भिन्न होते हुए भी इनका संयोग ज्ञान रूपी प्रकाश को उत्पन्न करने वाला होता है और इससे अज्ञान रूपी अन्धकार की निवृत्ति होती है। अभिप्राय यह है कि ये तीनों ही करण विविध प्रकार के पदार्थों को प्रकाशित कर आत्मा को उनका ज्ञान कराने में सहायक होते हैं।

सांख्य दर्शन ने भी इन तीनों अन्तःकरणों को प्रधान और शेष दश बाह्य करणों को अप्रधान माना है। यही भाव निम्न कारिका से व्यक्त होता है :—

सान्तः करणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥

अर्थात् अन्तःकरण से युक्त बुद्धि ही चूंकि सर्व विषयों को ग्रहण करती है, इसलिए तीन प्रकार के अन्तःकरण प्रधान और शेष बाह्य करण अप्रधान होते हैं।

अन्तः करणों की वृत्तियां :–

मन, बुद्धि और अहंकार इन तीन अन्तःकरणों का अपना जो सामान्य लक्षण होता है यह स्वालक्षण्य कहलाता है। इसके अनुसार प्रत्येक करण का अध्यवसाय अथवा व्यापार पृथक् पृथक् होता है। जैसे बुद्धि का अध्यवसाय विषयों का निर्णय करना, अहंकार का अध्यवसाय अभिमान अथवा अहम् भाव उत्पन्न करना और मन का अध्यवसाय इन्द्रियों को स्वविषय ग्रहण करने हेतु प्रेरित करना होता है। यही इनका स्वालक्षण्य कहलाता है।

इसी प्रकार पांच वर्ग या पंचक पंचपंचक कहलाते हैं । मानव शरीर में इस पंच पंचक का सम्बंध शरीर में विद्यमान पांच ज्ञानेन्द्रियों से है । आयुर्वेद में पंच पंचक का सिद्धान्त महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित है । यद्यपि इसका सम्बन्ध केवल शरीर से है, किन्तु चिकित्सा की दृष्टि से स्वास्थ्य की दृष्टि से एवं मानव शरीर में उपयोगिता की दृष्टि से आयुर्वेद में सिद्धान्त रूप में इसे स्वीकार किया गया है । चरक संहिता में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है

'इह खलु पंचेन्द्रियाणि पंचेन्द्रियद्रव्याणि, पंचेन्द्रियाधिष्ठानानि, पंचेन्द्रियार्थाः पंचेन्द्रियबुद्धयो भवन्ति ।,, चरक सूत्रस्थान

अर्थात् १-पांच इन्द्रियां २- पांच इन्द्रियों के द्रव्य ३। पांच इन्द्रियों के अधिष्ठान ४ पांच इन्द्रियों के अर्थ (विषय) और ५ पांच इन्द्रियों की बुद्धि (ज्ञान) ।

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी पंचपंचक होतेहैं । इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है

१—**पाँच इन्द्रियां**—"तत्र चक्षु- श्रोत्र घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पंचेन्द्रियाणि ।" च० सू० ८।८ अर्थात् चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, रसना और स्पर्शन ये पांच इन्द्रियां होती हैं ।

२—**पांच इन्द्रिय द्रव्य**—"पंचेन्द्रियद्रव्याणि- खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति ।" च० सू० च ६ अर्थात् ख (आकाश) वायु, ज्योति (अग्नि), अप् (जल) और भू (पृथ्वी) ये पांचो इन्द्रियों के पांच द्रव्य हैं ।

३—**पांच इन्द्रिय अधिष्ठान**—"पंचेन्द्रियाधिष्ठानानि-अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ।"-च० सू० ८।१० अर्थात् १-दोनों नेत्र, २-दोनों कान, ४-जिह्वा और ५-त्वचा ये पंचेन्द्रियों के पांच अधिष्ठान (वास स्थान) हैं ।

४—**पांच इन्द्रियार्थ**—पंचेन्द्रियार्थाः—-शब्दस्पर्शरूपरसगंधाः ।" चरक, सूत्र-स्थान ८ ११ अर्थात् १- शब्द, २ स्पर्श, ३ रूप, ४ रस और गन्ध ये पांच इन्द्रियों के पांच अर्थ (विषय) हैं ।

५—**पांच इन्द्रिय बुद्धि**—"पंचेन्द्रियबुद्धयः—चक्षुर्बुद्धयादिकाः, ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्वात्मसन्निकर्षजाः, क्षणिकाः, निश्चयात्मिकाश्च।" चरक सूत्रस्थान ८।१२

अर्थात् चक्षु बुद्धि आदि पांच इन्द्रिय बुद्धियां होती हैं । ये बुद्धियां इन्द्रिय इन्द्रियों के अर्थ, मन और आत्मा के सन्निकर्ष (संयोग) से उत्पन्न होती हैं । ये बुद्धियां (ज्ञान) क्षणिक और निश्चयात्मिका भेद से दो प्रकार की होती हैं ।

(पांच बुद्धियों के नाम चक्षु बुद्धि, श्रोत्रबुद्धि, घ्राण बुध्दि, रसना बुध्दि और स्पर्श बुध्दि)

इन तीनों अन्तः करणों की स्वलक्षण लक्षित वृत्ति असामान्य होती है। किन्तु इन्द्रियों के कुछ व्यापार सामान्य रूप से होते हैं। अतः इस समानता के कारण इन्द्रियों की वृत्ति सामान्य कहलाती है। इन्द्रियों की यह वृत्ति ही उनका व्यापार कहलाता है। किन्तु अन्तः करणों की वृति सामान्य न होने के कारण असामान्य कही गई है। जैसे बुद्धि, अहंकार और मन जब किसी एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होते हैं तब ये चारों मिलकर अभीष्ट विषय का निश्चय करने के लिए एक रूप हो जाते हैं तब उनकी एक ही वृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में यद्यपि चारों का स्वरुप भिन्न भिन्न होते हुए भी उस विषय को ग्रहण करने के लिए उनकी वृति एक हो जाती है। जैसे रूप का निश्चय करने के लिए तीनों अन्तः करण और एक चक्षु इन्द्रिय इस प्रकार चार करणों का संयोग स्वरूप का निश्चय करने में समर्थ होता है। इसमें अन्तःकरणों का संयोग विशेष रूप से अपेक्षित होने के कारण वह असाधारण होता है। अन्य दस करण साधारण होते हैं।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विषय संख्या ______ आगत नं० ______

लेखक ______

शीर्षक ______

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या
20 NOV 2002			
14/5/22			

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या